

प

पण्डिता रमाबाई सरस्वती

(Pandita Ramabai Saraswati)

उन्नीसवीं सदी में हुए महाराष्ट्र और बंगाल के नवजागरणों की प्रमुख हस्तियों में से एक पण्डिता रमाबाई सरस्वती (1858-1922) एक विख्यात समाज सुधारक और असाधारण विदुषी होने के साथ-साथ भारत में नारीवाद के उदय से पूर्व स्त्री-मुक्ति की पहली विमर्शकारों में से एक थीं। 1888 में प्रकाशित उनकी पुस्तक *उच्च वर्ण की हिंदू औरतें* तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दुर्दशा का प्रामाणिक वृत्तांत मानी जाती है। रमाबाई ने *स्त्री धर्म नीति* नामक पुस्तक भी लिखी जिसकी उस ज़माने में दस हजार प्रतियाँ बिकीं। उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्र को सावित्रीबाई फुले, आनंदीबाई जोशी, रमाबाई रानाडे, पार्वतीबाई आठवले, ताराबाई शिंदे, आनंदीबाई कर्वे और ऐसी ही कई श्लाघनीय स्त्रियों के ऐतिहासिक योगदान के लिए भी जाना जाता है। लेकिन इन के बीच रमाबाई मुख्य तौर से इसलिए अलग थीं कि उन्होंने अपनी सारी प्रतिष्ठा परिवार की संस्था की मदद के बिना ही कमायी। वेदों, महाभारत और गीता के बीस हजार श्लोकों को कंठस्थ करने वाली, *वाक्यपदीयम* और *अष्टाध्ययी* जैसे ग्रंथों की अध्येता, भारत के पहले स्वायत्त नारी-मुक्ति संगठन आर्य महिला समाज की नींव डालने वाली और समुद्र पार करने पर लगे प्रतिबंध का उल्लंघन करके सारी दुनिया की यात्राएँ करने वाली रमाबाई के जीवन को नारीवादी इतिहासकारों ने बीसवीं सदी की नारीवादी महिलाओं के लिए एक प्रखर उदाहरण के रूप में पेश किया है।

मराठी में रमाबाई के बारे में साहित्य उल्लेखनीय मात्रा में उपलब्ध रहा है, पर भारत के अंग्रेज़ी प्रधान अकादमीय

हलकों में रमाबाई का ज़िक्र अस्सी के दशक से पहले न के बराबर ही होता था। राष्ट्रवादी कल्पनाशीलता तो छोड़ ही दीजिए, अस्सी से पहले की नारीवादी कल्पनाशीलता के रडार पर भी उनकी शिखर्यत दर्ज नहीं थी। विद्वानों का ध्यान रमाबाई की तरफ सम्भवतः पहली बार ध्यान उस समय गया जब 1980 में मधु किश्वर द्वारा सम्पादित 'मानुषी' ने उनके ऊपर एक लम्बा आलेख प्रकाशित किया। इसी दशक के उत्तरार्ध में कई बेहतरीन अकादमीय आलेखों के माध्यम से मीरा कोसम्बी ने रमाबाई के विलक्षण जीवन और योगदान पर विषद् प्रकाश डाला। दरअसल बौद्धिक जगत में रमाबाई की अखिल भारतीय स्थापना का श्रेय मीरा कोसम्बी को ही मिलना चाहिए। रमाबाई के अकादमीय उत्खनन की यह प्रक्रिया नब्बे के दशक के आखिरी वर्षों में अपने शिखर पर पहुँची जब उमा चक्रवर्ती ने उन्हें केंद्र बना कर 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' का सूत्रीकरण करते हुए एक महत्वाकांक्षी अध्ययन प्रकाशित किया। इस रचना को नारीवादी ही नहीं, बल्कि ग़ैर-नारीवादी क्षेत्रों में भी बड़े पैमाने पर सराहना मिली।

इन कृतियों में दर्ज रमाबाई के जीवन और उपलब्धियों की तथ्यात्मक रूपरेखा पर सरसरी नज़र डालने से ही पता चल जाता है कि विद्वत्ता, दुखों से टकराने वाली प्रबल जिजीविषा, संगठन-शक्ति, विपरीत परिस्थितियों से लोहा लेने की क्षमता और रैडिकल फ़ैसले लेकर उन पर अमल करने करने के मामले में उनका कोई सानी नहीं था। इससे यह भी पता चलता है कि आधुनिक भारतीय इतिहास की इस महानायिका को ज्ञान और राष्ट्रवाद की मिली-जुली राजनीति द्वारा किस क्रूर उपेक्षा का शिकार बनाया गया है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सक्रिय रही रमाबाई का जीवन बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों की किसी नारीवादी महिला नेता जैसा ही लगता है। बचपन से ही उन्हें लड़कों की तरह ही शिक्षा



पण्डिता रमाबाई सरस्वती (1858-1922)

मिली, हालात ने उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने लायक बनाया, स्वतंत्र चिंतन करने और उसके आधार पर फ़ैसले लेने की क्षमता विकसित हुई, अपनी भाषा और जाति के बाहर के व्यक्ति से उन्होंने अपनी मर्जी से शादी की और विदेश यात्राएँ (इंग्लैण्ड, अमेरिका और जापान) कीं। परम्परागत समाज उन पर अपना कोप बरसाता रहा। पर रमाबाई ने कभी अपने स्त्री होने की थोपी गयी सीमाओं को अपनी गतिविधियों के आड़े नहीं आने दिया। रमाबाई ने भरापूर सार्वजनिक जीवन जिया, सभाओं और जलसों में भाषण दिये, बड़े-बड़े संगठन चलाये और हर तरह की त्रासदियों व व्यस्तताओं के बीच लेखन कार्य जारी रखा।

पण्डिता रमाबाई का जन्म 1858 में कर्नाटक के चितपावन ब्राह्मण अनंतशास्त्री डोंगरे के घर में हुआ था। एक बार डोंगरे को अपने गुरु के साथ पुणे स्थित पेशवा के महल में जाने का मौक़ा मिला। वहाँ पेशवा की पत्नी को संस्कृत के श्लोकों का उच्चारण करते हुए सुन कर वे इतने प्रभावित हुए कि अपनी पत्नी को संस्कृत सिखाने का संकल्प कर बैठे। लेकिन न तो उनके परम्परानिष्ठ परिवार ने और न ही उनकी पत्नी ने उनका साथ दिया। पत्नी की मृत्यु के बाद तीर्थयात्रा के दौरान उनका परिचय एक ब्राह्मण परिवार से हुआ। यह ब्राह्मण अनंतशास्त्री की विद्वत्ता से इतना प्रभावित हुआ कि अपनी नौ साल की बेटी का विवाह चवालीस साल के विधुर से करने के लिए तैयार हो गया। इसके बात अनंतशास्त्री अपनी बालिका-वधु लक्ष्मीबाई के साथ कर्नाटक के ही

गंगामुल जंगल में अध्ययन-मनन का तपस्वी जीवन गुज़ारने लगे। अपने संकल्प के मुताबिक़ उन्होंने लक्ष्मीबाई को संस्कृत सिखायी जिसकी ज़बरदस्त सामाजिक प्रतिक्रिया हुई। कट्टरपंथियों ने उन्हें आड़े हाथों लेना शुरू किया। क्रमदम पीछे हटाने के बजाय अनंतशास्त्री ने स्त्रियों को संस्कृत सिखाने पर लगे प्रतिबंध के खिलाफ़ दलीलें देने के लिए शास्त्रों का ही सहारा लिया और शास्त्रज्ञों की एक सभा में हुए वाद-विवाद में लगभग तीन सौ अकाद्य दृष्टांत पेश किये। इस प्रकरण के बाद एक हद तक उनकी धाक जम गयी और फिर उनके जीवन के कुछ वर्ष शांतिपूर्वक बीते। वे वेदों और शास्त्रों की शिक्षा देने वाला एक आश्रम चलाते रहे। साथ में थोड़ी सी खेती भी थी जिसकी देखभाल उनका परिवार करता था। लक्ष्मीबाई ने उन्हें छह संतानें दीं जिनमें तीन की अकाल मृत्यु हो गयी। बचे हुए एक भाई और दो बहिनों में रमाबाई सबसे छोटी, मेधावी और विलक्षण स्मृति से सम्पन्न थीं। अनंतशास्त्री ने अपने तीनों बच्चों को संस्कृत पढ़ाने और शास्त्रों की शिक्षा देने में कोई कोताही नहीं की।

रमाबाई जब बालिका ही थीं, उनके पिता ने पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की तीर्थयात्राओं का सिलसिला शुरू कर दिया। वे जगह-जगह पुराणों का पाठ करते और बदले में जो भी थोड़ी-बहुत दक्षिणा मिलती, उसी से काम चला कर आगे की यात्रा पर निकल जाते। इस तरह का कष्टसाध्य दरिद्र जीवन कई वर्ष तक चलता रहा। अचानक 1876 में दुर्दैव ने आक्रमण किया और रमाबाई के पिता, माँ और बड़ी बहिन का एक के बाद एक देहांत हो गया। वे अपने भाई श्रीनिवास के साथ सारी तकलीफ़ें झेलते हुए अगले दो सालों तक पिता की विरासत आगे बढ़ाती रहीं। रमाबाई पुराण वाचन करतीं, दक्षिणा पातीं, पूरे नियमों के साथ सभी तरह की धर्मविधियाँ सम्पन्न करतीं। 1878 में इसी तरह यात्रा करते-करते भाई-बहिन कलकत्ता पहुँचे जो उन्नीसवीं सदी के उस दौर से गुज़र रहा था जिसे बंगाल का नवजागरण कहा जाता है। ब्रह्म समाज के नेताओं और अन्य प्रतिष्ठित समाज सुधारकों ने चमत्कृत आँखों से इस युवा विदुषी को देखा और हाथों-हाथ लिया। रमाबाई ने सार्वजनिक व्याख्यान देने शुरू किये। वे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों से उद्धरण ले कर स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को सम्बोधित करने लगीं। यह प्रक्रिया उस समय अपने शिखर पर पहुँची जब एक सार्वजनिक समारोह में कलकत्ता के भद्र समाज ने रमाबाई को 'पण्डिता' और 'सरस्वती' की उपाधियाँ दीं।

लेकिन, त्रासदी ने रमाबाई का साथ यहाँ भी नहीं छोड़ा। अचानक उनके भाई भी चल बसे। इसके बाद उन्होंने पिता के आश्रम में शिक्षा लेने वाले अपने बचपन के मित्र विपिन बिहारी दास मेधावी से विवाह किया। एक बंगाली शूद्र

परिवार में जन्मे मेधावी उस समय तक वकील बन चुके थे। दो साल के सुखी दाम्पत्य के बाद मेधावी अपने पीछे केवल बाईस वर्ष की रमाबाई और एक बालिका शिशु को छोड़ कर हमेशा के लिए चले गये। जीवन के इस मुकाम पर रमाबाई को महाराष्ट्र से विशेष आमंत्रण मिला और वे जस्टिस रानाडे और उनकी पत्नी रमाबाई रानाडे के बुलावे पर पुणे पहुँचीं। महाराष्ट्र में पहले से काम कर रहे स्त्री संगठनों की गतिविधियों को आधार बना कर रमाबाई ने आर्य महिला समाज की स्थापना की जिसकी शाखाएँ महाराष्ट्र के अन्य क्षेत्रों में फैलती चली गयीं। बंगाल के ब्रह्म समाज की तर्ज पर कार्यरत महाराष्ट्र के प्रार्थना समाज के साथ रमाबाई ने निकट-सहयोग का रिश्ता बनाया। इसी दौरान उन्हें शिक्षा संबंधी हंटर कमीशन के सामने गवाही देने के लिए बुलाया गया। आयोग के सामने रमाबाई ने औरतों को डॉक्टरी की शिक्षा देने का कार्यक्रम अपनाने पर जोर दिया ताकि बीमार स्त्रियों के उपचार की गारंटी हो सके। इस वक्तव्य के बाद रमाबाई ने खुद चिकित्सक बनने की ठानी और इंग्लैण्ड जाने की योजना बना कर अंग्रेजी सीखने लगीं। इसी दौरान उनका सम्पर्क सिस्टर्स ऑफ़ द कम्युनिटी ऑफ़ सेंट मैरी द वर्जिन से हुआ। इंग्लैण्ड में वे इसी संस्था के कॉन्वेंट में रहीं और महाराष्ट्र भेजी जाने वाली सिस्टर्स को बदले में मराठी पढ़ाती रहीं। अपनी यात्रा के लिए खर्च जुटाने हेतु रमाबाई ने स्त्री धर्म नीति नामक पुस्तक लिखी।

इंग्लैण्ड में रमाबाई को पता चला कि उनकी श्रवण-शक्ति कमजोर होती जा रही है। इसके बावजूद उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों, गणित और अंग्रेजी का अध्ययन करने के लिए चेल्टनहेम वुमंस कॉलेज में दाखिला लिया। वहाँ वे छात्र-अध्यापक के रूप में संस्कृत भी पढ़ाती थीं। उनकी पढ़ाई का खर्चा सिस्टर्स के संगठन ने उठाया। इंग्लैण्ड पहुँचने के कुछ दिन बाद ही रमाबाई ने अपनी दो साल की बेटी के साथ ईसाई धर्म अपना लिया। उन्होंने दलील दी कि हिंदू धर्म स्त्रियों और शूद्रों को कमतर हैसियत में रखता है, 'गिरी' हुई स्त्रियों के लिए उसके पास क्षमा और पुनर्वास के प्रावधान के बजाय कठोर दण्ड की व्यवस्था है। इसके उलट ईसाई धर्म प्रेम, क्षमा और मानव-मात्र की बराबरी में यत्नी करता है। इंग्लैण्ड में चार साल तक पढ़ने के बाद रमाबाई अमेरिका गयीं और अपनी दूर की रिश्तेदार आनंदीबाई जोशी के स्नातक-समारोह में भाग लिया। रमाबाई ने पूरे अमेरिका की यात्राएँ कीं और भारत में ऊँची जाति की विधवाओं के लिए आश्रम खोलने की अपनी योजना का प्रचार किया। इसका नतीजा रमाबाई एसोसिएशन ऑफ़ बोस्टन के गठन में निकला जिसने अगले दस वर्षों तक रमाबाई की गतिविधियों के लिए धन जुटाने का भरोसा दिया।

रमाबाई की बेटी मनोरमा पहले ही इंग्लैण्ड से भारत

लौट चुकी थी। अमेरिका से वापसी के बाद उन्होंने मुम्बई को अपना केंद्र बनाया और चौपाटी पर विधवा आश्रम शारदा सदन की स्थापना की। जस्टिस रानाडे और रामचंद्र भंडारकर जैसे प्रमुख समाज सुधारक इस संस्था के ट्रस्टी थे। 1891 में शारदा सदन आर्थिक कारणों से पुणे चला गया जहाँ उसे ब्राह्मण विधवाओं के बीच काम करने का ज़्यादा मौका मिला। यहीं शारदा सदन में प्रवेश करने वाली पहली ब्राह्मण विधवा गोदूबाई नाटु का डी.के. कर्वे के साथ दोबारा विवाह हुआ जिसमें रमाबाई ने वधू की माँ की भूमिका निभायी। शारदा सदन की गतिविधियाँ उस समय विवादग्रस्त हो गयीं जब तिलक के अखबार 'केसरी' ने उस पर धर्मांतरण की कोशिशें करने का आरोप लगाया। सदन के ट्रस्टियों ने इस्तीफ़ा दे दिया और कई अभिभावकों ने अपने घर की स्त्रियों को वापिस बुला लिया। रमाबाई एसोसिएशन ने इन आरोपों की जाँच करायी और उन्हें आधारहीन पाया।

रमाबाई की सबसे महत्वपूर्ण रचना *उच्च वर्ण की हिंदू औरतें* 1888 में प्रकाशित हुई। उनके जीवन और कृतित्व का मुख्य संदेश स्त्रियों को शिक्षा और व्यावसायिक कुशलता के माध्यम से आत्मनिर्भरता के आग्रह पर टिका था। उनकी मान्यता थी कि चाहे जीवनयापन हो या भावनात्मक सहारे का सवाल हो, स्त्रियों को किसी पर निर्भर नहीं होना चाहिए। परिवार की संस्था के बारे में उनकी राय थी कि उसके दायरे में स्त्री को स्वतंत्रता और सुख मिल ही नहीं सकता। वे स्त्रियों की सभा में पुराण वाचन करतीं, फिर धर्म और आचरण पर उनका व्याख्यान होता। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि ईसाई हो जाने के बाद भी रमाबाई ने पुराण वाचन को माध्यम बना कर चेतना के स्तर पर स्त्रियों के उत्थान का कार्यक्रम लगातार जारी रखा। रमाबाई के कार्यक्रमों में पुरुषों को आने की इजाज़त थी, पर उन्हें अपने घर की स्त्रियों के साथ आना पड़ता था। शारदा सदन की सभाओं में काशीबाई कानिटकर और रमाबाई रानाडे जैसी स्त्रियों के व्याख्यान भी होते थे। रमाबाई चाहती थीं कि स्त्रियाँ राजनीति में भी भागीदारी करें। इस मामले में वे अपनी समकालीन विभूतियों से आगे थीं। 1889 में मुम्बई में हुए दूसरे कांग्रेस अधिवेशन में रमाबाई के ही प्रयासों से सात-आठ महिला प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया था, बावजूद इसके कि रानाडे समेत दूसरे समाज सुधारक और राजनेता स्त्रियों को प्रतिनिधि बनाने के पक्ष में नहीं थे।

रमाबाई के जीवन का सबसे ज़्यादा विवादास्पद प्रकरण उनका धर्मांतरण रहा जिसके कारण उन्हें कई बार लोकापवाद झेलना पड़ा। लेकिन उन्होंने न केवल ईसाइयत के सांस्थानिक दबाव के सामने झुकने से इनकार किया, बल्कि दाब-धौंस व लोभ-लालच के तहत धर्मांतरण कराने के रवैये का भी विरोध किया। अपनी बेटी मनोरमा को इंग्लैण्ड में विदेशी ईसाइयों के बीच पालने के वे खिल्लाफ़ थीं। वे मनोरमा

को दी जाने वाली ईसाई शिक्षा को भी आलोचना की दृष्टि से देखती थीं। इसलिए अमेरिका जाने से पहले उन्होंने अपनी गॉड मदर सिस्टर जेरल्डाइन के विरोध के बावजूद मनोरमा को भारत भेज दिया था। जेरल्डाइन का कहना था कि रमाबाई अपनी सरगर्मियों के कारण मनोरमा के लालन-पालन पर ध्यान नहीं दे पाएंगी। लेकिन रमाबाई ने अपने सार्वजनिक जीवन और मातृत्व की दोहरी जिम्मेदारियों को बखूबी निभाया। मनोरमा एक खुशमिजाज और योग्य युवती के रूप में बड़ी हुई। उसने अपनी माँ के कामकाज में हमेशा सकारात्मक योगदान किया।

हिंदू समाज सुधारकों के साथ एक बार संबंध बिगड़ जाने के बाद रमाबाई को फिर उनका सहयोग कभी नहीं मिला। इस विवाद के बाद रमाबाई मध्य प्रांत और गुजरात के अकाल पीड़ितों की सेवा में जुट गयीं। 1896 में उन्होंने केड़गाँव में मुक्ति सदन खोला और फिर शारदा सदन भी वहीं आ गया। रमाबाई ने दस साल तक धार्मिक तटस्थता की नीति अपनाने के बाद अंत में अपनी संस्था को खुले रूप से ईसाई घोषित कर दिया। वहाँ एक चर्च खोला गया और मिशनरी गतिविधियाँ भी चलायी जाने लगीं। इसी दौरान रमाबाई ने भेस बदल कर उत्तर भारत की यात्रा भी की और वृंदावन की शोषित-उत्पीड़ित विधवाओं को बचाने की कोशिश की। इस काम में उन्हें बेहद मामूली सफलता ही मिल सकी। केड़गाँव को केंद्र बनाने के बाद रमाबाई का जोर ऊँची जाति की विधवाओं पर न रह कर निचली जाति के अकाल पीड़ितों के पुनर्वास पर होता चला गया। महाराष्ट्रियायी समाज से कटते चले जाने के कारण उनके जीवन का आखिरी दौर एक तरह के एकांतवास में बीता। लेकिन यह एकांतवास भी अहर्निश गतिविधियों से परिपूर्ण था। उन्होंने शिक्षा संस्थाएँ और व्यावसायिक प्रशिक्षण देने के केंद्रों की स्थापना की। हिब्रू और यूनानी मूल की बाइबिल का मराठी अनुवाद भी किया। 1919 में उन्हें कैसरे-ए-हिंद स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया। 1921 में पुत्री मनोरमा का देहांत हुआ और अगले ही वर्ष 5 अप्रैल, 1922 को 64 वर्ष की उम्र में रमाबाई ने भी देह छोड़ दी।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण,

हेलन सिचू।

संदर्भ

1. मीरा कोसम्बी (1988), 'बुमन, इमेंसिपेशन एंड इक्वलिटी : पण्डिता रमाबाईज़ कंट्रिब्यूशन टु बुमंस कॉज़', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 23, अंक 44.
2. उमा चक्रवर्ती (1998), *रिराइटिंग हिस्ट्री : द लाइफ़ एंड टाइम्स ऑफ़ पण्डिता रमाबाई*, काली फ़ॉर बुमन प्रेस, नयी दिल्ली.
3. गेल ऑम्बेड्ट (2000), 'टुवर्से अ थियरी ऑफ़ ब्राह्मनिक पैट्रियार्की', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 35, अंक 4.

— अभय कुमार दुबे

पंजाब

(Punjab)

पंजाब शब्द फ़ारसी के पंज (पाँच) और आब (पानी) के मिलने से बना है। इसका अर्थ होता है पाँच नदियों की भूमि। ये पाँच नदियाँ हैं: ब्यास, सतलज, रावी, चेनाब और झेलम। पंजाब की राजनीति काफ़ी उथल-पुथल से भरी रही है। भारत विभाजन की सबसे ज़्यादा यातना झेलने वाले इस विशाल सांस्कृतिक क्षेत्र का पश्चिमी भाग पाकिस्तान में चला गया। आज़ादी के बाद सिक्ख नेताओं द्वारा की गयी अलग पंजाबी सूबे की माँग नहीं मानी गयी। दिल्ली के नेतृत्व की निगाह में इसका सीधा मतलब था एक धार्मिक बहुमत वाले राज्य की स्थापना करना। भारत के हिस्से में आये पंजाब प्रांत का फिर 1966 में विभाजन किया गया। इससे हिमाचल प्रदेश, हरियाणा और वर्तमान पंजाब के रूप में तीन राज्य बने। आज के पंजाब में सिक्ख जनसंख्या बहुमत में जरूर है पर साठ प्रतिशत सिक्खों के साथ इस राज्य में 37 प्रतिशत हिंदू भी हैं। यहाँ की जनसंख्या में मुसलमान कुल 1.5 प्रतिशत रह गये हैं। धार्मिक आधार पर राजनीतिक गोलबंदी पंजाब की राजनीति की ऐतिहासिक विशेषता रही है। एक अलग धार्मिक समुदाय के रूप में सिक्खों की रचना एक ऐतिहासिक राजनीतिक प्रक्रिया की देन है। साठ और सत्तर के दशक में यह प्रांत हरित क्रांति का केंद्र बना जिससे अन्य राज्यों की तुलना में यहाँ के किसानों की काफ़ी तरक्की हुई। लेकिन अस्सी के दशक में विभिन्न राजनीतिक कारणों से पंजाब को लम्बे अरसे तक उग्रवादी राजनीति का शिकार रहना पड़ा। 1990 के दशक के बाद से उग्रवाद की राजनीति प्रभावहीन

बहरहाल, नब्बे के दशक के मध्य तक खालिस्तान आंदोलन कुछ हासिल किये बगैर ही खत्म हो गया। इसके कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार माने जाते हैं : पहला, पंजाब या देश के दूसरे इलाकों में रहने वाले सिक्खों के जेहन में खालिस्तान का सवाल शायद ठोस रूप से कभी नहीं रहा। इस आंदोलन के इतने व्यापक हो जाने का एक प्रमुख कारण यह था कि इससे निबटने के लिए सरकार ने कुछ ज़्यादा ही दमन का सहारा लिया। दूसरा, उग्रवादियों और सरकारी एजेंसियों द्वारा की गयी हिंसा से सामाजिक जीवन का अराजनीतीकरण हो गया। तीसरा, उग्रवादियों द्वारा गाँव में सम्मानित लोगों की हत्या से भी लोगों का उन पर से विश्वास खत्म हुआ। चौथा, आतंकवाद विरोधी मुहिम के दौरान बहुत से उग्रवादियों को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाये बगैर ही जान से मार दिया गया। इससे आतंकवाद ज़रूर खत्म हुआ लेकिन इस प्रक्रिया में मानवाधिकारों को जम कर ठेस लगी।

आतंकवाद खत्म होने में सबसे बड़ी भूमिका राज्य में लोकतांत्रिक राजनीति की शुरुआत ने निभायी। 1985 में जब उग्रवाद अपने चरम पर था, तो विधानसभा के चुनाव हुए। इनमें अकालियों को 73 सीटें मिलीं और कांग्रेस सिर्फ 32 सीटों पर सिमट गयी। सुरजीत सिंह बरनाला राज्य के मुख्यमंत्री बने। लेकिन बरनाला सरकार हिंसा पर क्राबू नहीं पा सकी। मई, 1987 में विधानसभा निलंबित कर दी गयी और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। इसके बाद फरवरी, 1992 में राज्य में लोकसभा और विधानसभा चुनाव कराये गये। अकालियों ने इन चुनावों का विरोध किया। सिर्फ 24 फीसद मतदाताओं ने ही मतदान किया। कांग्रेस को कुल 87 विधानसभा सीटों पर जीत मिली और बेअंत सिंह राज्य के मुख्यमंत्री बने। उन्होंने सितम्बर, 1992 में नगरपालिकाओं के और जनवरी, 1993 में ग्राम पंचायतों के चुनाव कराये। इन चुनावों में क्रमशः 70 प्रतिशत और 82 प्रतिशत मतदाताओं ने वोट डाला। इससे लोकतांत्रिक राजनीति की वैधता बढ़ी। इसके बाद अकालियों ने भी चुनावों में भाग लेना शुरू किया। 1994 में हुए तीन विधानसभा सीटों के लिए हुए उपचुनावों में इन्होंने अपने उम्मीदवार खड़े किये। इन चुनावों में प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व वाले अकाली दल को जीत भी मिली। इस तरह लोकतांत्रिक राजनीति ने उग्रवाद की धारा कमजोर करते हुए उसे खत्म कर दिया।

1996 के लोकसभा चुनावों तक पंजाब की राजनीति एक नयी दिशा ले चुकी थी। इस चुनाव में अकाली दल ने कांग्रेस को चुनौती देने के लिए भाजपा और बसपा से चुनावी गठजोड़ किया। कांग्रेस को दो, अकाली दल (बादल) को आठ और बसपा को तीन सीटों पर जीत मिली। 1997 में हुए विधानसभा चुनावों में अकालियों और भाजपा का गठबंधन कायम रहा। इन चुनावों में कांग्रेस की हार हुई और इसे सिर्फ

14 सीटों पर जीत मिली। दूसरी ओर, अकाली दल (बादल) को 75 और उसकी सहयोगी भाजपा को 18 सीटों पर जीत मिली। 1998 के संसदीय चुनावों में भी इस गठबंधन को भारी जीत मिली। 1998 के संसदीय चुनावों में भी इस गठबंधन को भारी जीत मिली। कुल 13 सीटों में अकाली दल (बादल) को नौ और भाजपा को तीन सीटें मिली। एक सीट पर इंंदर कुमार गुजराल जीते जिन्हें अकालियों का समर्थन हासिल था। 1999 के संसदीय चुनावों में कांग्रेस को अच्छी सफलता मिली। कांग्रेस ने आठ संसदीय क्षेत्रों में जीत हासिल की। अकाली दल (बादल) को सिर्फ दो सीटें मिली। भाजपा, भाकपा और अकाली दल (मान) को एक-एक सीटें मिली। मतदाताओं द्वारा अकालियों की बजाय कांग्रेस को वरीयता देना इस बात का प्रमाण था। 2002 में हुए विधानसभा चुनावों में भी कांग्रेस को जीत मिली। इन चुनावों में कांग्रेस को 62 और उसके सहयोगी भाकपा को एक सीट पर जीत मिली। लेकिन 2004 में हुए चुनावों में कांग्रेस को सिर्फ दो सीटें मिली। दूसरी ओर, अकाली दल (बादल) और उसके सहयोगी भाजपा ने सारी सीटों पर क़ब्ज़ा जमा लिया।

2007 में राज्य की सत्ता पर अकाली दल (बादल) की वापसी हुई। इसके बाद, 2009 के संसदीय चुनावों में कांग्रेस को आठ और अकाली दल (बादल) को चार तथा भाजपा को एक सीट पर जीत मिली। स्पष्टतः 1996 के बाद हुए चुनावों में 'मुख्यधारा' के कई अन्य कई राज्यों की तरह ही पंजाब में स्थानीय मुद्दे चुनावी राजनीति में हावी होते गये। इन चुनावों ने यह साबित किया कि पंजाब की राजनीति में 1980 के दशक में उभरा सिक्ख पहचान का मुद्दा बहुत हल्का पड़ चुका है। पंजाब में कांग्रेस को सिक्खों को ऑपरेशन ब्लू स्टार और सिक्खों के खिलाफ 1984 के दंगों का ज़िम्मेदार माना जाता था। लेकिन अब पंजाब की राजनीति में ये बातें बहुत प्रभावशाली नहीं रह गयी हैं। मतदाताओं ने कई चुनावों में अकाली दल की तुलना में कांग्रेस का वरीयता दी है। लेकिन कई ऐसे मसले ज़रूर हैं जो भविष्य में पंजाब की राजनीति को अलग दिशा दे सकते हैं। मसलन, दलितों की राजनीतिक जागरूकता भविष्य की राजनीति को प्रभावित कर सकती है। इसके अलावा पंजाब के युवाओं की आकांक्षाओं को पूरा करना और कृषि में लगातार विकास भी ज़रूरी है। यदि अकाली और कांग्रेस सरकारें ऐसा करने में नाकाम रहती हैं तो राज्य में उग्रवादी राजनीति की वापसी भी हो सकती है।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गोवा, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, बिहार, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिजोरम, मेघालय, राजस्थान, शिरोमणि अकाली दल, सिक्किम, हरियाणा।

संदर्भ

1. सुरिंदर एस. जोधका (2009), 'पहचान, राष्ट्र और लोकतंत्र : 1990 के दशक के दौरान भारतीय राजनीति में पंजाब', अरविंद मोहन (सम्पा.) *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, भाग-2, वाणी प्रकाशन-लोकनीति-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

पतंजलि और योगसूत्र

(Patanjali aur Yogsutra)

योग को आत्म-साक्षात्कार के संदर्भ में जाना जाता है। भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक परिप्रेक्ष्यों में इसकी व्यापक स्वीकार्यता रही है। वैदिक एवं अवैदिक (जैन एवं बौद्ध) ही नहीं, बल्कि संहिता, अरण्यक और उपनिषदों में भी इसकी व्यापक चर्चा है। योग का सर्वप्रथम जिक्र वैदिक संहिताओं में ही मिलता है। गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और राजयोग का वर्णन है। इसके अलावा हठयोग की चर्चा भी यत्र-तत्र मिलती है लेकिन दर्शन के रूप में राजयोग को ही स्थान प्राप्त है। उपनिषदों में योग का लक्षण, उसके अंग-प्रत्यंग तथा उसकी प्रक्रिया का विवरण समग्रता से उपलब्ध है। इनके नाम अद्वय, तारक, अमृतनाद, अमृत बिंदु, नाद बिंदु आदि दिये गये हैं। इस प्रकार के योग-प्रतिपादक उपनिषदों की संख्या इक्कीस है। इनके अध्ययन से योग के समस्त अंग, आसन, प्राणायाम, ध्यान, जारणा और समाधि का पूर्ण विवरण मिलने के साथ ही उस युग में योग के विकास की जानकारी मिलती है। वैसे तो योग पतंजलि से पहले से ही है, पर उसे एक दर्शन के रूप में स्थापित करने का श्रेय योगसूत्र के रचयिता पतंजलि को जाता है। योगसूत्र पर व्यास-भाष्य, वाचस्पति मिश्र कृत *तत्त्व वैशारदी* तथा विज्ञानभिक्षु की *योग वर्तिक* टीकाएँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। कालांतर में और भी कई टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें राज मार्तण्ड (भोज) की *भोजवृत्ति*, भावगणेश की *वृत्ति*, रामानंदपति की *मणिप्रभा*, अनंत पण्डित की *योगचंद्रिका*, सदाशिवेंद्र सरस्वती की *योग-रत्नाकर* तथा नागेश भट्ट की *लध्वी* तथा *बृहती* टीकाएँ भी प्रचलित हैं।

योग-दर्शन के प्रणेता पतंजलि के जीवन-काल को लेकर काफी मतभेद है। कुछ विद्वान उन्हें ईसा पूर्व चौथी शताब्दी का मानते हैं तो कुछ उन्हें ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी या उससे भी पहले का। वास्तविकता चाहे जो हो लेकिन इतना

जरूर है कि योग-दर्शन की प्राचीनता असंदिग्ध है। सिंधु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में जो प्रस्तर मूर्तियाँ और मुहरें मिली हैं उन पर बनी योग मुद्राओं से पता चलता है कि आर्यों से पहले योग प्रचलित था।

योग का अर्थ है मिलन अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। गीता में योग को 'दुःख-संयोग का वियोग' बताया गया है। पतंजलि सिर्फ योग-दर्शन के प्रणेता और योगसूत्र रचयिता ही नहीं बल्कि महाभाष्य के रचयिता भी माने जाते हैं। योगसूत्र में चार पाद हैं : समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद। पतंजलि अपने ग्रंथ को योगानुशासन नाम भी देते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं और पतंजलि ने तो प्राचीनकाल में प्रतिपादित शास्त्र का उपदेश मात्र किया। उपर्युक्त अनुशासन का तात्पर्य इसी अर्थ में है। योगसूत्र के समाधिपाद में योग का लक्षण, चित्त की वृत्तियाँ, समाधि का भेद आदि विषयों की चर्चा है। साधनपाद में क्रियायोग, क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशों को दूर करने के साधन, योग के यम, नियम आदि आठ अंगों का विशद विवरण दिया गया है। विभूतिपाद में समाधि तथा योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली सिद्धियों का प्रतिपादन है। अंतिम कैवल्य पाद में निर्माण चित्त का वर्णन, विज्ञानवाद का निराकरण तथा कैवल्य का निर्णय है। इस प्रकार से यह ग्रंथ 195 सूत्रों के भीतर पूरे योग-दर्शन का प्रतिपादन करता है।

योग का लक्षण : पतंजलि ने अपने योगसूत्र में चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। वृत्तियों की लगातार सक्रियता की वजह से चित्त चंचल बना रहता है और किसी विषय पर एकाग्र नहीं रह पाता। इन वृत्तियों को योग-निर्दिष्ट साधनों द्वारा रोक दिया जाना ही योग है। आचार्यों का कहना है कि योग से क्लेश, कर्म तथा वासनात्मक प्रवृत्तियों का निरोध होता है। इन वृत्तियों के विनाश के लिए सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग की आवश्यकता पड़ती है। सम्प्रज्ञात योग में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है। ध्याता तथा ध्यान दोनों ध्येयाकार हो जाते हैं। उनकी ध्येय से पृथक् अनुभूति नहीं होती। असंप्रज्ञात योग में चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है। ध्येय वस्तु का ज्ञान भी नहीं रहता। ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी का अनिर्वचनीय अद्वैत में विलय हो जाता है। पर इतने से ही योग का स्वरूप निष्पन्न नहीं होता। सुषुप्ति की दशा पर विचार करने पर वृत्तियों का निरोध होता है, परंतु सुषुप्ति को योग नहीं कहा जाता। इसके पीछे कारण है कि इसमें सिर्फ द्रष्टा-पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। द्रष्टा का अपना स्वरूप निर्लेप, असंग तथा चैतन्य होता है जिस वृत्ति-निरोध द्वारा यह स्थिति उत्पन्न होती है वही योगपद माना जाता है। वृत्तियों का निरोध आत्यन्तिक होना चाहिए। सुषुप्ति से उठने पर सब वृत्तियाँ पहले के समान

जाग्रत हो जाती हैं। सुषुप्ति में वृत्तियों का निरोध कुछ काल के ही लिए होता है, सर्वदा के लिए नहीं। इसीलिए सुषुप्ति को योग नहीं कहा जाता। वृत्ति-निरोध प्रज्ञा या ज्ञानमूलक होना चाहिए। प्रज्ञा के उदय होने पर ही जो वृत्ति-निरोध होता है, वही वस्तुतः योग है।

चित्त और उसकी भूमियाँ : मन, बुद्धि और अहंकार तीनों को समग्र रूप से चित्त कहा जाता है और चित्त कभी वृत्तिविहीन नहीं होता। जब चित्त इंद्रियों द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है अथवा स्वयं मानस ही विषयों के सम्पर्क में आता है, तब वह विषय का 'आकार' ग्रहण कर लेता है। इस 'आकार' को ही 'वृत्ति' कहते हैं। जब पुरुष-चैतन्य के प्रकाश से यह चित्त-वृत्ति प्रकाशित होती है तब हमें उस विषय का ज्ञान होता है। इन अनित्य वृत्तियों का प्रवाह चित्त में चलता रहता है। वृत्तियाँ क्षीण होकर चित्त में अपने संस्कारों का आधान करती हैं तथा ये संस्कार परिपक्व होकर पुनः अन्य वृत्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कारों की एवं संस्कारों से वृत्तियों की उत्पत्ति का चक्र चलता रहता है। यह चित्त प्रकृति का सत्त्वप्रधान परिणाम है। अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सबसे अधिक सत्त्व का उदय चित्त में होता है, तथापि त्रिगुणात्मक होने के कारण चित्त में सत्त्व, रज तथा तम की अधिकता और न्यूनता समय-समय पर बनी रहती है। इस कारण चित्त तीन प्रकार का होता है : प्रज्ञाशील, प्रवृत्तिशील, स्थितिशील।

1. प्रज्ञाशील : प्रज्ञा का अर्थ है ज्ञान। जब चित्त सात्त्विक होता है, तब उसमें तत्त्वज्ञान, प्रसन्नता, अभिरुचि, उत्साह, दया, क्षमा, धैर्य आदि सात्त्विक गुणों का उदय होता है।

2. प्रवृत्तिशील : रजोगुण की प्रबलता होने पर चित्त में कर्मों के लिए उद्योगशीलता दीख पड़ती है। वह परिताप, शोक, लाभ, ईर्ष्या आदि गुणों (रजस) से युक्त होता है। इस स्थिति में वह प्रवृत्तिशील कहा जाता है।

3. स्थितिशील : यह तामस चित्त की दशा है। ऐसी स्थिति में वह स्थिति (अर्थात् प्रवृत्ति का विरोधी स्तब्धी भाव), विह्वलता, आवरण, भारीपन, आलस्य, दैन्य, निद्रा आदि तामस धर्मों को ग्रहण करता है।

योगसूत्र के मुताबिक सत्त्व, रज तथा तम के न्यूनाधिक भाव से रहने पर चित्त की पाँच भूमियाँ होती हैं : क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। क्षिप्त चित्त में रजोगुण की अधिकता होने पर वह अस्थिर, चंचल और विषयोन्मुख होकर सुख-दुःख भोगता रहता है। मूढ़ चित्त में तमोगुण की अधिकता की वजह से वह विवेकशून्य, कर्तव्य-बोध रहित होकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा में पड़ा रहता है या विवेकहीन कृत्यों में लगा रहता है। विक्षिप्त से तात्पर्य है क्षिप्त से बेहतर,

क्योंकि इसमें सत्त्वगुण के कारण कभी-कभी स्थिरता आ जाती है, जबकि राजस क्षिप्त चित्त हमेशा चंचल बना रहता है। चित्त की चौथी भूमि चित्त की एकाग्रता में सत्त्वगुण की उत्कर्षता की वजह से रजोगुण और तमोगुण दबे रहते हैं और चित्त बाह्यवृत्तियों से प्रभावित हुए बगैर ध्येय पर एकाग्र रहता है। चित्त की पाँचवीं और अंतिम भूमि निरुद्ध के अंतर्गत वृत्तियों का कुछ समय तक निरोध हो जाता है, किंतु उनके संस्कार बने रहते हैं। जब सारी वृत्तियों और सारे संस्कारों का सर्वथा निरोध होकर अविद्या निवृत्त हो जाती है तो चित्त निरुद्ध होकर अविद्या में विलीन हो जाता है। यह मोक्ष की अवस्था है। इन पाँच चित्तभूमियों में से क्षिप्त, मूढ़ व विक्षिप्त योग के लिए उपयोगी नहीं होती, केवल एकाग्र और निरुद्ध ही समाधि के उपयोगी हैं।

अष्टांग योग : योग दर्शन का यह मान्य विचार है कि आत्मिक सत्य के संज्ञान से ही मोक्ष सम्भव है। इस तरह की प्रज्ञा मन से दूषित विचार नष्ट हो जाने पर ही सम्भव है। चित्त की शुद्धता और आत्म-प्रकाश की प्राप्ति के लिए योग ने आष्टांगिक साधनों को निर्दिष्ट किया है। इनमें से पहले पाँच बहिरंग साधन हैं तथा शेष तीन अंतरंग साधन कहलाते हैं :

1. यम से तात्पर्य संयम से है। इसके जरिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के अनुपालन के जरिये मन और शरीर की शुद्धि पर बल दिया गया है।

2. नियम का अर्थ है सदाचरण रखना। इन आचरणों का पालन करना ही नियम कहलाता है— शौच यानी शारीरिक शुद्धि; संतोष यानी विशेष प्रयास के जो मिल जाए उसी से संतुष्ट रहना; तप यानी सुख, दुःख, आतप, शीत आदि द्वंद्वों के निराकरण और कठिन नियमों का पालन; स्वाध्याय-धार्मिक ग्रंथों के अनवरत अध्ययन के अभ्यास को स्वाध्याय कहते हैं; ईश्वर-प्रणिधान यानी भगवान का ध्यान तथा ईश्वर के प्रति आत्म-निवेदन ही ईश्वर-प्रणिधान है।

3. आसन अर्थात् शरीर का संयम। ध्यान के लिए वही आसन उत्तम है जिससे शरीर का सुख और चित्त की स्थिरता बनी रहे।

4. प्राणायाम का मतलब है श्वास का संयम तथा नियमन। श्वास का नियम तीन प्रकार का होता है : पूरक, कुम्भक और रेचक। नासिका द्वारा श्वास को भीतर ले जाने की क्रिया को पूरक, भीतर लाये गये श्वास को फुफ्फुस में रोके रखने को कुम्भक और रोके गये श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। इस प्रक्रिया को अपनाकर ध्यानावस्था अधिक काल तक बनायी रखी जा सकती है।

5. इंद्रियाँ स्वभाव से ही विषयोन्मुख होती हैं। बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होना उनका स्वभाव है। उनकी बहिर्मुखवृत्ति को अंतर्मुख बनाना, उन्हें बाह्य विषयों से

हटाकर भीतर मन के वश में रखना प्रत्याहार कहलाता है।

6. धारणा उस मानसिक नियमन को कहते हैं, जिसमें चित्त किसी इष्ट वस्तु का ध्यान करता है। किसी निश्चित वस्तु पर स्थिर रूप से ध्यान लगाने की योग्यता प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य योग की अन्य उच्चतर सीढ़ियों पर चढ़ने में समर्थ हो सकता है।

7. इष्ट वस्तु का सतत् चिंतन ही ध्यान है। ध्यान में किसी वस्तु का चिंतन अविराम और स्थिर रूप से होता है। ध्यान द्वारा योगी ध्येय वस्तु के वस्तुतः स्वरूप को ठीक-ठीक पहचानने में समर्थ हो जाता है।

8. समाधि का अर्थ है ध्येय वस्तु में चित्त की विक्षेपरहित एकाग्रता। समाधि में ध्यान ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है। ध्यान और ध्येय की एकता होने पर ध्याता भी ध्येयाकार हो जाता है। समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी में ध्येय ही शेष रह जाता है तथा ध्याता एवं ध्यान ध्येयाकार हो जाते हैं। समाधि दो प्रकार की होती है— सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है। ध्याता तथा ध्यान दोनों ध्येयाकार हो जाते हैं; इनकी ध्येय से पृथक् अनुभूति नहीं होती। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है। ध्येय वस्तु का ज्ञान भी नहीं रहता। ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी का अनिर्वचनीय अद्वैत में विलय हो जाता है।

पतंजलि ने योग सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर को छब्बीसवाँ तत्त्व माना है। योग-प्रतिपादित ईश्वर एक विशेष पुरुष है। वह जगत का कर्ता, धर्ता, संहर्ता व नियंता नहीं है। असंख्य नित्य पुरुष तथा नित्य अचेतन प्रकृति स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में ईश्वर के साथ-साथ विद्यमान हैं। साक्षात् रूप में ईश्वर का प्रकृति से या पुरुष के बंधन और मोक्ष से कोई लेना-देना नहीं है। उनका कार्य अपने भक्तों के समाधि-पथ में आने-वाले विघ्नों को दूर करके समाधि-सिद्धि को सम्भव बना देना है। मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर का कोई सहज घनिष्ठ संबंध नहीं है। मोक्ष कैवल्य है जिसमें सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, द्रविड़ संस्कृति, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय (1999), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी.

—अजय कुमार पाण्डेय

पूँजी

(Capital)

पूँजी क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सरल भी है और पेचीदा भी। जब व्यक्ति किसी भी सम्पत्ति का मालिक होता है, तो कहा जाता है कि यह उसकी पूँजी है। यह पूँजी धनराशि के रूप में हो सकती है जिसका कहीं शेयरों में, सावधि जमा खाते में या किसी उद्यम में निवेश किया गया हो ताकि उससे ब्याज या लाभांश प्राप्त हो सके। यह पूँजी ज़मीन-जायदाद ख़रीदने में लगायी गयी रकम हो सकती है जिसका मूल्य बाज़ार में कीमत परिवर्तन के मुताबिक़ बदलता रहता है। यह सम्पत्ति उस समय मानवीय पूँजी कहलाती है जब वह किसी व्यक्ति को मिले ख़ास तरह के प्रशिक्षण का रूप ग्रहण कर लेती है। यह पेशेवराना या तकनीकी प्रशिक्षण उस व्यक्ति के लिए आमदनी का स्रोत बन जाता है। कुल मिला कर पूँजी की सरल परिभाषा यह है कि अपने मालिक के लिए आमदनी का स्रोत बन जाने वाली कोई भी सम्पत्ति पूँजी के नाम से जानी जाती है। यहीं सवाल उठता है कि सम्पत्ति की यह सहज समझ तो अतीत, वर्तमान और भविष्य के सभी तरह के समाजों के लिए सही है। हर समाज में अ-जीवित वस्तुएँ आमदनी का स्रोत रही हैं। इसमें ख़ास बात क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर मार्क्सवाद के पास है। जैसे ही मानव समाज पूँजीवाद के चरण में आता है, पूँजी का अर्थ और भूमिका बदल जाती है। हालाँकि पूँजी एक प्राक्-पूँजीवादी परिघटना है, पर पूँजीवादी समाज में उसका उत्पादन सभी तरह के अन्य उत्पादनों पर प्रभुत्व क़ायम कर लेता है। तब पूँजी को उत्पादन के पूँजीवादी संबंधों के तहत ही समझा जा सकता है, जब पूँजी अपने आप में कोई वस्तु नहीं रहती। वह वस्तु जैसी लगती ज़रूर है, पर असल में वह एक सामाजिक संबंध में बदल जाती है। अपने इस संस्करण में भी उसका काम धन पैदा करना ही होता है, पर धन पैदा करते हुए वह धनवानों और धनहीनों के बीच कुछ इस तरह के सामाजिक संबंधों का रूप ले लेती है कि उसका अंतिम

लाभ स्वामी के पक्ष में ही रहता है। वह धनवानों के लिए धन पैदा करके उनकी पूँजी को बढ़ाती है, और यह बढ़ी हुई पूँजी और अधिक धन पैदा करती है।

इस जटिल अर्थ में अर्थात् पूँजीवाद के तहत हम किसी भी धनराशि को पूँजी का नाम नहीं दे सकते। धन केवल उस समय पूँजी में बदलता है जब बाजार में होने वाला विनिमय वस्तु या उत्पाद को पण्य बना देता है। पण्यों की बिक्री की जाती है ताकि दूसरे पण्य खरीदे जा सकें और फिर दूसरे चरण में उन्हें फिर से बेचा जा जाता है। मार्क्स ने यहाँ पण्य को सी और धन को एम माना है। उनकी भाषा में ये दोनों चरण सी-एम-सी और एम-सी-एम की तरह पेश होते हैं। ज़ाहिर है कि सी-एम-सी का प्रस्थान-बिंदु सी यानी श्रम-शक्ति नामक कमोडिटी (पण्य) है जिसकी बिक्री से मज़दूरी यानी धन पैदा होता है जिससे वे पण्य खरीदे जाते हैं जो मज़दूर के जीवनयापन के लिए ज़रूरी हैं। श्रम-शक्ति को बाजार में खरीद-फरोख्त के तहत लाने के लिए ज़रूरी है कि उसके स्वामी को, जो मज़दूर है, उसके श्रम के फल यानी उत्पाद से अलग कर दिया जाए। जब तक ऐसा नहीं होगा, वह बाजार में आ कर अपना श्रम बेचने के लिए तैयार ही नहीं होगा। इसीलिए जब तक श्रम की गतिशीलता पर लगे सामंती प्रतिबंध टूटेंगे नहीं, तब तक पूँजीवाद के लिए आवश्यक पूँजी के शुरुआती संचय की ऐतिहासिक शर्त पूरी नहीं होगी। ध्यान देने की बात यह है कि सी-एम-सी के क्रम में धन पूँजी की भूमिका में नहीं है, क्योंकि मज़दूर अपना श्रम बेच कर जो कमाता है वह अपने जीवनयापन के लिए पण्य खरीदने में खत्म हो जाता है।

लेकिन दूसरे क्रम यानी एम-सी-एम की शुरुआत एम यानी धन से होती है जिससे विभिन्न पण्य (श्रम-शक्ति, लागत सामग्री और उत्पादन के साधन) खरीदे जाते हैं ताकि उनसे बने उत्पाद को बेच कर ज़्यादा मात्रा में धन यानी एम प्राप्त किया जा सके। लेकिन यह दूसरा चरण एक ही सूत्र में कामयाब हो सकता है जब अंत में प्राप्त धन की मात्रा शुरुआत में खर्च किये गये धन से अधिक हो। यहाँ धन पूँजी की भूमिका में है। धन की यह वृद्धि मार्क्स की निगाह में केवल तभी घटित हो सकती है जब हम उस पण्य की भूमिका समझ लें जिसे श्रम-शक्ति कहते हैं। श्रम-शक्ति नामक पण्य में एक ऐसा उपयोग-मूल्य निहित होता है जिसमें अपने से अधिक मूल्य उत्पादित करने की क्षमता है। यह श्रम-शक्ति बाजार में एक पण्य की तरह ही खरीदी और बेची जाती है। उत्पादन-प्रक्रिया में श्रम-शक्ति का मूल्य और उत्पादन के साधनों का मूल्य खप जाता है। नतीजे के तौर पर तैयार हुए पण्य को बेचने से लागत से ज़्यादा धन (अधिशेष मूल्य समेत) प्राप्त होता है और जो समीकरण सी-एम-सी था, वह एम-सी-एम हो जाता है।

बिना मज़दूरी के धन पूँजी नहीं बन सकता। लेकिन धन को पूँजी बनाने में मज़दूरी खत्म हो जाती है और पूँजी की मात्रा बढ़ जाती है। इस तरह पूँजी मूल्य में होने वाली वृद्धि की प्रक्रिया या स्वयं में गतिमान मूल्य के रूप में प्रकट होती है। अंत में मार्क्स के मुताबिक पूँजी के लिए जो फ़ार्मूला बनता है वह इस प्रकार है :

$$W = C + V + S$$

इस फ़ार्मूले में डब्ल्यू कुल उत्पादन का मूल्य है, सी स्थिर पूँजी है, वी परिवर्तनशील पूँजी है और एस मूल्य आधिक्य है। अर्थात् कुल उत्पादन का मूल्य स्थिर पूँजी, परिवर्तनशील पूँजी तथा मूल्य आधिक्य का जोड़ होता है। पूँजी के चक्र को इस तरह देखा जा सकता है :

एलपी

एम — सी पीसी'—एम'

एमपी

धन यानी एम से सी यानी पूँजी। फिर उससे एक तरफ़ एलपी यानी लेबर पॉवर या श्रम-शक्ति, और दूसरी तरफ़ यानी मींस ऑफ़ प्रोडक्शन या उत्पादन के साधन। एलपी और एमपी मिल कर उत्पादन-प्रक्रिया की मदद से सी यानी उत्पादक पूँजी को सी' अर्थात् बृहत्तर मूल्य से सम्पन्न पूँजी (कमोडिटी कैपिटल) में बदलते हैं। अंत में एम यानी धन के साथ अधिशेष मूल्य सम्मिलित हो कर पूँजी और बड़े रूप में सामने आती है। यह पूरा गति-चक्र पूँजी का सरकिट कहलाता है जिसमें पूँजी मूल्य के रूप में रूपांतरणों के एक पूरे सिलसिले से गुजरती है।

रूपांतरण की प्रत्येक प्रक्रिया उसका मूल्यवर्धन करती जाती है। इसी सिलसिले का एक परिणाम पूँजी के औद्योगिक पूँजी बनने में निकलता है जिसे मार्क्स पूँजी के अस्तित्व का एक ऐसा रूप बताते हैं जिसमें वह न केवल अपने साथ अधिशेष मूल्य जोड़ती है बल्कि अपनी पुनर्रचना का काम भी करती चलती है। पूँजी का यह मूल्यवर्धन है तो एक वस्तुनिष्ठ गति, पर पूँजी के मालिक यानी उद्योगपति या पूँजीपति के लिए वह आत्मनिष्ठ लक्ष्य बन जाता है। विभिन्न पूँजियों और उनके व्यक्ति-रूपों यानी पूँजीपतियों की प्रतियोगिता का सारतत्त्व यही है कि पूँजी का हर मालिक उसके मूल्यवर्धन का प्रयास करता रहता है। मार्क्स ने स्थिर पूँजी और परिवर्तनीय पूँजी के बीच भी फ़र्क़ किया है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कोस, जॉन स्टुअर्ट मिल,

जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, डॉचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. अर्नेस्ट मेंडल (1971), *द फोर्मेशन ऑफ़ इकॉनॉमिक थॉट ऑफ़ कार्ल मार्क्स*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. साइमन मोहुन (1991), 'कैपिटल', संकलित : टॉम बोटोमोर वगैरह (सम्पा.), *अ डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट*, माया ब्लैकवेल, वर्ल्डव्यू प्रेस, नयी दिल्ली.
3. पी.एन. जुनानकर (1982), *मार्क्सिज़ इकॉनॉमिक्स*, फ़िलिप एन, डेडिंगटन.
4. कार्ल मार्क्स (1976), *कैपिटल : अ क्रिटिक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* (1867), अनुवाद : बी. फ़ाउकेस, पेंगुइन, हार्मड्सवर्थ, 1976 (हिंदी में इस रचना का अनुवाद रामविलास शर्मा ने किया है).
5. मेघनाद देसाई (1979), *मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

पूँजी-नियंत्रण

(Capital Controls)

भूमण्डलीकरण अगर वित्तीय पूँजी के मुक्त प्रवाह की परिस्थितियाँ तैयार करता है, तो पूँजी-नियंत्रण के प्रावधानों के ज़रिये राष्ट्रीय सरकारें अपनी सीमाओं के आर-पार उन प्रवाहों को नियंत्रित करने की कोशिश करती हैं। ये नियंत्रण कोई नये नहीं हैं, पर साठ के दशक के आख़िरी सालों से इनकी उपयोगिता घटती जा रही थी। नब्बे के दशक में एशियाई वित्तीय प्रणाली और कई देशों की अर्थव्यवस्थाओं को लगे ज़बरदस्त झटके के बाद से अर्थशास्त्रियों के बीच इन उपायों के फ़ायदे-नुक़सानों पर फिर से बहस फूट पड़ी।

इसकी शुरुआत 1998 से हुई जब मलेशिया की सरकार ने अपनी अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए पूँजी के अंतर्वाह (इन प्रलो) और बहिर्वाह (आउट प्रलो) को नियंत्रित करने का फैसला किया। मलेशियन सरकार का निशाना असल में सट्टेबाज़ी में लगी पूँजी थी। आम तौर पर पूँजी नियंत्रण दो कारणों से लागू किये जाते हैं। पहला, अर्थव्यवस्था के समष्टिगत प्रबंधन के लिए (मौद्रिक व राजकोषीय उपायों के बदल)। दूसरा, दूरगामी वैकासिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए।

वित्तीय पूँजी के अंतर्वाह के दो रूप हैं। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और पोर्टफ़ोलियो निवेश। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में निवेशक प्रबंधन के ऊपर नियंत्रण रखता है। पोर्टफ़ोलियो निवेशक केवल पूँजी उपलब्ध कराता है और प्रबंधन से कोई वास्ता नहीं रखता। दोनों तरह के निवेशकों की क्रिस्म भी भिन्न है। पोर्टफ़ोलियो निवेशकों में ज़्यादातर संस्थागत निवेशक होते हैं, जैसे मेरिल लिंच, मॉर्गन स्टेनली और फिडेलिटी इन्वेस्टमेंट। प्रत्यक्ष निवेश शैल, माइक्रोसॉफ़्ट, कोक, नेस्ले आदि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ करती हैं।

पोर्टफ़ोलियो निवेश थोड़ी अवधि के लिए होता है। कुछ हफ़्तों से लेकर कुछ वर्षों तक। जितनी तेज़ी से यह आता है उतनी ही तेज़ी से देश छोड़ कर भाग भी सकता है, क्योंकि संस्थागत निवेशक अपने शेयर बेच कर फटाफट पल्ला झाड़ लेते हैं। इसीलिए इस तरह के निवेश को हॉट मनी या उड़न-छू पूँजी कहा जाता है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश दीर्घावधि के लिए होता है। यह भारी मशीनी माल और कारखानों में किया जाता है। इसे आसानी से बेच कर बहुराष्ट्रीय निगम अपनी पूँजी नहीं निकाल सकते।

वित्तीय पूँजी के इस दोतरफ़ा प्रवाह के लिए राजनीतिक स्थिरता बहुत महत्वपूर्ण है। पोर्टफ़ोलियो निवेशक का मक़सद केवल पूँजीगत मुनाफ़ा और लाभांश कमाना होता है। इसलिए वे मुनाफ़े से प्राप्त पूँजी को अपने देश ले जाने को ज़्यादा महत्व देते हैं। दूसरी तरफ़ प्रत्यक्ष विदेशी निवेश करने वाले निवेशक बाज़ार, श्रम, उत्पादन लागत और अधिसंरचनात्मक सुविधाओं के विकास और आकार में ज़्यादा दिलचस्पी रखते हैं।

पोर्टफ़ोलियो पूँजी प्रवाह अधिक अस्थिर और चंचल होता है। इसमें बढ़ोतरी आने के पीछे प्रमुख कारण यह रहा है कि प्रमुख विकसित देशों में निवेश पर मुनाफ़े की दरें अपेक्षाकृत घट गयी थीं। इसलिए निवेशकों ने उन देशों में अपना धन लगाने का फैसला किया जहाँ ब्याज दरें कुछ ज़्यादा थीं। दूसरा कारण यह था कि पिछले दस वर्षों में विकसित देशों में बचत का संस्थानीकरण होने के कारण निवेश के लिए पूँजी भारी पैमाने पर जमा हो गयी थी। यह रुझान संस्थागत निवेशकों के उदय से और मज़बूत हुआ है।

ये निवेशक शेयर बाजारों में कारोबार के जरिये अपना धंधा करते हैं।

दुनिया के अलग-अलग देशों में घड़ी की सुइयाँ जिस तरह हमेशा चलती रहती हैं, उसी तरह इन शेयर बाजारों में भी कहीं न कहीं लेन-देन चलता रहता है। एक शहर में लेन-देन बंद होता है तो गतिविधियों का केंद्र दूसरा शहर बन जाता है। न्यूयॉर्क में बाजार बंद होते ही विलिंगटन में लेन-देन शुरू हो जाता है। टोक्यो का बाजार बंद होते ही लंदन का खुल जाता है जिसके बंद होने के ढाई घंटे पहले न्यूयॉर्क में धंधा शुरू हो जाता है। प्रौद्योगिकी के बढ़ते क्रदमों, खासकर संचार और सूचना प्रणाली में हुई प्रगति ने भी पूँजी बाजारों के भूमण्डलीकरण में योगदान किया है। दिक् और काल की प्राकृतिक बाधाओं को लाँघ जाने वाली प्रौद्योगिकीय प्रगति का सबसे ज्यादा असर इन बाजारों के भूमण्डलीकरण पर देखा जा सकता है। दस साल पहले चौबीस घंटे जारी रहने वाली ट्रेडिंग नामुमकिन थी, लेकिन आज यह आम बात है।

अगर कोई सरकार अपने नागरिकों की बचत को स्थानीय निवेश में इस्तेमाल करना चाहती है या फिर निवेश के कुछ रूपों को नागरिकों के लिए ही सुरक्षित रखना चाहती है तो वह पूँजी नियंत्रण के उपाय करना चाहेगी। दिलचस्प बात यह है कि पूँजी-नियंत्रण के उपाय गरीब और अमीर देश भिन्न-भिन्न कारणों से करते हैं। साठ के दशक के बाद जब पूँजी के पहले से कहीं ज्यादा मुक्त प्रवाहों की नौबत आयी तो पश्चिम जर्मनी, हालैण्ड और स्वित्जरलैण्ड जैसे अमीर देशों की मुद्रा की माँग बढ़ गयी। नतीजतन उनका निर्यात महँगा हो गया। इसलिए उन्हें अनिवासियों द्वारा बैंक-जमा करने पर सीमाएँ आरोपित करनी पड़ीं।

गरीब या कम समृद्ध देश आम तौर पर अपनी पूँजी बाहर जाने से रोकने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए अगर किसी देश के नागरिक या वहाँ काम कर रहे विदेशी अपनी पूँजी बाहर ले जा कर प्रत्यक्ष या शेयर-पूँजी के रूप में कोई निवेश करना चाहते हैं, तो वे उन्हें रोकने के लिए नियम-कानून बनाते हैं। अगर कोई विदेशी अपनी कमायी या मुनाफ़े को स्वदेश ले जाना चाहता है तो एक अवधि निर्धारित की जा सकती है कि उससे पहले वह रिपेट्रिशन की यह कार्रवाई नहीं कर सकता। विदेशी मुद्रा की उपलब्धि के लिहाज़ से भी रिपेट्रिशन को चरणबद्ध ढंग से नियोजित करने का निर्देश दिया जा सकता है। नागरिकों द्वारा देश के बाहर बैंकों में धनराशि जमा करने पर प्रतिबंध भी लगाये जा सकते हैं। दूसरी तरफ़ सरकारें जरूरत के मुताबिक़ अपने नागरिकों को विदेशों में बैंक खाते खोलने और विदेशी मुद्रा में सौदे करने की सुविधा भी प्रदान कर सकती हैं। सरकारें विदेशी मुद्रा की जमा-राशियों पर ब्याज न देने के मक़सद से उन्हें नॉन इंटरिस्ट बियरिंग कैपिटल रिज़र्व की श्रेणी में रख

सकती हैं। ऐसा करने से विदेशी मुद्रा की जमा-राशियाँ अनाकर्षक हो जाएँगी। देश के बाहर जाने वाली मुद्रा पर पाबंदियाँ लगाने का मुख्य मक़सद वित्तीय संकट के समय मुद्राओं के बीच संबंध में होने वाले परिवर्तनों को रोकना होता है ताकि मुद्रा के मूल्य में होने वाले हास को रोका जा सके।

हाल ही में कुछ विकासशील देशों ने सट्टेबाज़ी में इस्तेमाल होने वाली पूँजी का अंतर्वाह नियंत्रित करने के लिए नियंत्रण के उपाय करने शुरू किये हैं। 1992 में चिली ने प्रत्येक विदेशी क्रर्ज़ का बीस फ़ीसदी आरक्षित करने का नियम बनाया। इस सीमा को बाद में बढ़ा कर तीस फ़ीसदी तक कर दिया गया। इसके मुताबिक़ हर विदेशी ऋण का एक खास प्रतिशत चिली के केंद्रीय बैंक में एक साल के लिए बिना किसी ब्याज के आरक्षित करना जरूरी हो गया। 1994 में ब्राज़ील ने शेयर मार्केट में विदेशी निवेश पर टैक्स लगाने का फ़ैसला किया। इसी साल चैक गणराज्य ने अपने बैंकों द्वारा किये जाने वाले विदेशी सौदों पर कर लगाने की नीति बनायी। इसके बाद चैक सरकार ने बैंकों और अन्य सरकारों द्वारा विदेशों से उठाये जाने वाले अल्पावधि क्रर्ज़ों पर भी सीमाएँ आरोपित कर दीं। मलेशिया ने पहले 1994 में और फिर 1998 में पूँजी के अंतर्वाह पर पाबंदियाँ लगायीं और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की चिंताओं की कोई परवाह नहीं की।

पूँजी-नियंत्रणों पर पाबंदियाँ लगाने के फ़ायदे-नुक़सानों को लेकर विशेषज्ञों के बीच काफ़ी बहस है। मुक्त बाजार के समर्थकों की मान्यता है कि ये उपाय मुख्यतः प्रतिगामी ही साबित होते हैं, पर इनके समर्थकों का कहना है कि हाल के वर्षों में पूँजी-प्रवाहों में असाधारण वृद्धि हुई है और सरकारों के पास उन्हें अपने राष्ट्रीय हितों में नियंत्रित करने के कुछ ही उपाय बचे हैं जिनका इस्तेमाल करना ही चाहिए।

मुख्य तौर पर पूँजी-नियंत्रणों के विरोधी पाँच क्रिस्म की दलीलें देते हैं : पूँजी-नियंत्रण के उपाय निवेशकों के अधिकारों की सीमित कर देते हैं और उनके पास अपनी मर्जी से अपना धन निवेश करने का हक़ नहीं रहता, विदेशी निवेशक हतोत्साहित हो जाते हैं क्योंकि उनके पास अपनी कमायी स्वदेश ले जाने की गारंटी नहीं रहती, पूँजी-नियंत्रण बाजारों द्वारा लागू किये जाने वाले अनुशासन को भंग कर देता है (समझा जाता है कि बाजार विकासोन्मुख नीतियाँ अपनाने वाली अर्थव्यवस्थाओं को फ़ायदा पहुँचाते हैं और उसके विपरीत आचरण करने वाली अर्थव्यवस्थाओं को दण्डित करते हैं), पूँजी-नियंत्रण एक बार शुरू होने पर किसी सीमा में नहीं रहते और न केवल वे विदेशी मुद्रा पर राशन लगाते हैं बल्कि उपभोक्ताओं द्वारा आयातित माल ख़रीदने को भी

सीमित करते चले जाते हैं। पाँचवीं और आखिरी आपत्ति यह है कि पूँजी-नियंत्रण उदीयमान अर्थव्यवस्थाओं को अलगाव में धकेल देते हैं और अगर उन्हें जल्दी खत्म न किया जाए तो उनके कारण कोई देश विश्वव्यापी आर्थिक विकास से कट जाता है। पूँजी-नियंत्रकों का कहना है कि दुनिया में श्रम आसानी से और इफ़रात में मिलता है, पर पूँजी मुश्किल से मिलती है। इसलिए बेहतर यही है कि पूँजी को लगातार गतिशील रखा जाए और विश्व के आर्थिक विकास की गारंटी करने के लिए वित्तीय बाज़ारों का पूर्ण एकीकरण हो जाए।

लेकिन इसके विपरीत पूँजी-नियंत्रण के समर्थक विदेशी पूँजी के अस्थिर और चंचल चरित्र को लेकर चेतावनी देते नज़र आते हैं। जो देश पहले से ही कर्जदार हैं, उनकी मुद्रा हमेशा सट्टेबाजों के हमले के अंदशे की शिकार रहती है। वे सिफ़ारिश करते हैं कि अगर विकासशील और कमज़ोर देशों को अपनी मुद्रा की रक्षा करनी है तो उनके सामने पूँजी-नियंत्रण के अलावा कोई और चारा नहीं है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोज़गारी, भूमण्डलीकरण और ग़रीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. एस. एडवर्ड्स (सम्पा.) (1997), *कैपिटल कंट्रोल्स, एक्सचेंज रेट्स, ऐंड मोनेटरी पॉलिसी इन वर्ल्ड इकॉनॉमी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. एम. कैहलर (सम्पा.) (1998), *कैपिटल कंट्रोल्स ऐंड फ़ाइनेंशियल क्राइसिस*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्यूयॉर्क.
3. कवलजीत सिंह (1999), *पूँजी का भूमण्डलीकरण*, अनु. : अभय कुमार दुबे, ऋतिका प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. एम. मारिस (1997), एलन एम. सीगल और बेवर्ली लार्सन, *गाइड टु इंटरनेशनल मनी ऐंड इन्वेस्टिंग*, डाउ जॉस पब्लिशिंग कम्पनी (एशिया) इंक.

— अभय कुमार दुबे

पूँजीवाद

(Capitalism)

पूँजीवाद को कई तरह से परिभाषित किया जा सकता है। सबसे पहले यह एक आर्थिक प्रणाली है जिसके तहत उत्पादन के साधन पूँजी के मालिक वर्ग के हाथों में रहते हैं। समाज के ज़्यादातर हिस्से को स्वामित्व से वंचित रखने वाला यह आर्थिक निज़ाम एक समाज-व्यवस्था की रचना भी करता है। पण्य-उत्पादन के ज़रिये सामाजिक संबंधों का मौद्रिकीकरण करके जीवन के सभी पक्षों को आर्थिक आगोश में लेने वाला पूँजीवाद अपने उद्गम में मानव समाज के ऐतिहासिक विकास का एक चरण भी है। इसे एक विचार-प्रणाली और आंदोलन की संज्ञा भी दी जा सकती है। दरअसल, पूँजीवाद अपनी इन सभी परिभाषाओं का संयोग है। ग़ैर-मार्क्सवादी अर्थशास्त्री एक पद के रूप में पूँजीवाद का इस्तेमाल शायद ही कभी करते हों। पर, मार्क्सवादी लेखन में भी इसका प्रयोग बहुत बाद में होना शुरू हुआ है। कार्ल मार्क्स ने अपने लेखन में 'कैपिटलिस्टिक' या 'कैपिटलिस्ट' जैसे विशेषणों का इस्तेमाल तो किया है, लेकिन *कैपिटल* के पहले खण्ड में और *कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो* के पृष्ठों पर संज्ञा के रूप में 'कैपिटलिज़्म' का उल्लेख नहीं मिलता। 1877 में अपने रूसी अनुयायियों को लिखे पत्र में मार्क्स रूस के 'कैपिटलिज़्म' में संक्रमण की समस्याओं का ज़िक्र करते हुए दिखते हैं। दरअसल, मार्क्स के जीवन-काल में 1854 में ही कैपिटल के साथ इज़म लगा कर इस शब्द का पहली बार प्रयोग मिलता है।

ऐडम स्मिथ और अन्य क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा पूँजीवाद के लक्षणों के बारे में प्रदान की गयी अंतर्दृष्टियों के मुताबिक़ यह उत्पादन की एक ऐसी स्पर्धामूलक व्यवस्था है जिसके परिणाम उसमें काम कर रहे कर्त्ताओं की मंशा से भिन्न होते हैं। लेकिन क्लासिकल अर्थशास्त्री उन सामाजिक पूर्व-शर्तों या मनोवृत्तियों की शिनाख़्त नहीं कर पाये जो 'व्यावसायिक समाज' के उभार के लिए ज़िम्मेदार थीं। यह काम मार्क्स और मैक्स वेबर ने किया। मार्क्स ने संचय की आदिम प्रक्रिया पर जोर दिया जिसकी वजह से प्रत्यक्ष उत्पादकों को उत्पादन के साधनों से अलग हो जाना पड़ा। नतीजे के तौर पर वर्ग संबंधों की रचना हुई जिसके तहत मज़दूर वर्ग मेहनताने पर काम करने के लिए उपलब्ध हुआ। मार्क्स ने छोटे मालिकों और सेवायोजकों की उस परिवर्तनकारी भूमिका को भी रेखांकित किया जिसके तहत उन्होंने उत्पादकता बढ़ाने की होड़ की और औद्योगिक क्रांति सम्पन्न हुई। दूसरी तरफ़ वेबर ने पूँजीवाद का श्रेय प्रोटेस्टेंट

मूल्यों को दिया। शुरुआती पूँजीपतियों के लिए जरूरी था कि वे आर्थिक लाभों के लिए प्रयास करते हुए भी स्वयं सादगी और कफ़ायत का जीवन जियें, अनुशासित रहें और वक्त की बचत करें। वेबर का खयाल था कि ईसाई शुद्धतावाद के प्रभाव में ये प्रवृत्तियाँ मज़बूत हुईं और पूँजीवाद के उभार की परिस्थितियाँ बनीं। मार्क्स और वेबर की इन दो अलग-अलग व्याख्याओं के आधार पर समाज-विज्ञान में पूँजीवाद के बारे में एक लम्बी बहस छिड़ गयी और एक-दूसरे से अलग रिसर्च एजेंडों की शुरुआत हुई।

मोटे तौर पर पूँजीवाद की शुरुआत को इस तरह समझा जा सकता है : पूँजीवाद की परिघटना के पहले से भी बाज़ार मौजूद था, मुद्रा थी, ख़रीद-फ़रोख़्त और लम्बी दूरी की तिजारत भी होती थी। लेकिन, रोज़ाना की ज़िंदगी में वस्तुओं और सेवाओं के प्रत्यक्ष उत्पादन की प्रक्रिया ने पण्य का रूप ग्रहण नहीं किया था। यानी श्रमिकों को मज़दूरी या वेतन पर नहीं रखा जाता था। सोलहवीं सदी से पहले आज की तरह मेहनताने के बदले मज़दूरी प्रचलित नहीं थी। दास और भू-दास अपने स्वामी के लिए श्रम करते थे जिससे अधिशेष उत्पाद पैदा होता था। या काशतकार भू-स्वामी से लगान पर ज़मीन ले कर उत्पादन करते थे। शुरुआती क्रिस्म के व्यावसायिक और कारख़ाना उद्यम जरूर थे। कुछ इतिहासकारों का दावा है कि मध्ययुगीन यूरोपियन मठों और दक्षिण चीन के कुछ व्यापारियों के काम-काज में पूँजीवादी तौर-तरीके झलकने लगे थे। लेकिन हुकूमतें अपनी आमदनी बढ़ाने के चक्कर में पूँजी संचय के किसी भी प्रयास को बार-बार विफल कर देती थीं। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में उत्तर-पश्चिमी युरोप के देशों में पूँजीवादी सामाजिक संबंधों का विकास प्रारम्भ हुआ। समझा जाता है कि इंग्लैण्ड के ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक संबंध कुछ इस प्रकार के थे कि उनके आधार पर पूँजीवाद के विकास की मात्रा इतनी हो पायी कि एक पूरी सामाजिक संरचना उभर सकी। काशतकारों को लगान देना पड़ता था, जिसके लिए उन्होंने गेहूँ और ऊन जैसे उत्पादों को बाज़ार में बेचना शुरू किया। इस तरह के उत्पादन को लगातार जारी रखने और उसकी मात्रा बढ़ाने के लिए वे केवल अपने परिजनों को श्रम-शक्ति पर निर्भर नहीं रह सकते थे। इसलिए उन्होंने भाड़े पर श्रमिक रखने शुरू किये और खेती के बेहतर साधनों का प्रयोग किया जिससे उन मज़दूरों की उत्पादकता बढ़ सके।

पूँजीवाद के इतिहास पर काम करने वालों के बीच इस बात पर सहमति है कि पंद्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी के बीच व्यापारिक पूँजी का विकास हुआ। राज्य की मदद से खड़ी की गयी इजारेदारियों द्वारा समुद्र-पार व्यापार और उपनिवेशीकरण ने हालैण्ड, स्पेन, पुर्तगाल, इंग्लैण्ड और फ़्रांस के लिए इस अवधि में केंद्रीय भूमिका का निर्वाह किया। औद्योगिक पूँजी का उद्घाटन शक्ति-चालित मशीनों

के इस्तेमाल के साथ हुआ। इसे औद्योगिक क्रांति के दौर की संज्ञा दी जाती है। इसकी शुरुआत इंग्लैण्ड में सूत कातने वाले उद्योग से हुई और फिर यह क्रांति तेज़ी से पश्चिमी युरोप और उत्तरी अमेरिका के देशों में फैलती चली गयी। भाप के इंजन ने इसे सार्वभौम चरित्र और विस्तार प्रदान किया। इसी के समांतर राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक सामाजिक विज्ञान के रूप में विकास हुआ और लैसे-फ़ेयर (अ-हस्तक्षेप) की विचारधारा पनपी।

हालाँकि पूँजीवाद के तहत सभी तरह के सामाजिक संबंध स्वाभाविक रूप से व्यावसायिक हो जाने के लिए मजबूर हैं, पर अपने-आप को टिकाने के लिए और बीच-बीच में आने वाले संकटों से पार पाने के लिए सार्वजनिक कल्याण की कई संस्थाओं के अव्यवसायीकरण का आग्रह भी उसी के तहत पनपा। बहुत से पूँजीवादी समाजों में मुफ्त शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं, रिटायरमेंट के बाद की पेंशन जैसी सुविधाएँ दी जाने लगीं। अव्यवसायीकरण की प्रक्रिया के कारण इन देशों में आबादी के कुछ हिस्से जीवन-यापन के लिए वेतन या मज़दूरी पर निर्भर नहीं रह गये। दरअसल, पूँजीवाद में ये रक्षात्मक प्रवृत्तियाँ तीस के दशक की महामंदी और बेरोज़गारी के ज़बरदस्त दौर के कारण पनपीं। जॉन मेनार्ड कींस के आर्थिक चिंतन के आधार पर पूँजीवादी राज्यों ने बाज़ार में राज्य के हस्तक्षेप के लिए गुंजाइशें निकालीं जिससे इस व्यवस्था के लगातार टिके रहने की संभावना बढ़ गई। इन कामयाबियों का लाभ उठाते हुए द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी ढाँचे का पुनर्गठन हुआ और ब्रेटन वुड्स प्रणाली उभरी। इसी के तहत विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं का गठन हुआ। सत्तर के दशक में तेल के दामों में आये भारी उछाल और स्टैगफ़्लेशन (उत्पादन-वृद्धि में जड़ता और मुद्रास्फीति का घातक योग) ने इस व्यवस्था को झकझोर दिया। ब्रेटन वुड्स सहमति टूट गयी और उसके बाद से पूँजीवाद के इन कल्याणकारी पहलुओं की आलोचना शुरू हुई।

हालाँकि आज भी सर्वाधिक विकसित पूँजीवादी राज्यों के कुल घरेलू उत्पाद के तीसरे से पाँचवें हिस्से को कल्याणकारी मदों पर खर्च किया जाता है, लेकिन विकसित पूँजीवादी देशों में नीतिगत रुझान अब (नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के आग्रह तले) बाज़ारोन्मुख नीतियों, निर्यातोन्मुख विकास, पब्लिक सेक्टर का महत्त्व घटाने, निजी पूँजी की सर्वोपरिता स्वीकार करते हुए निजीकरण और ढाँचागत समायोजन कार्यक्रमों की तरफ़ है। अविकसित और विकासशील देशों से भी पूँजीवाद के पैरोकार यही अपेक्षा करते हैं कि वे इन्हीं नीतियों को अपना कर विकास के रास्ते पर क्रम बढ़ाएँ।

पूँजीवाद के कुछ अन्य उल्लेखनीय लक्षण हैं हजारों बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का उद्भव, कारपोरेटवाद की स्थापना, उपभोक्तावाद का बोलबाला और नब्बे के दशक में भूमण्डलीकरण के कारण ताकतवर हुई वित्तीय पूँजी की सत्ता। इन नयी प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप ब्रेडनवुड्स प्रणाली के बाद डब्ल्यूटीओ या विश्व व्यापार संगठन के नेतृत्व में एक नयी विश्व-व्यवस्था धीरे-धीरे तैयार हो रही है। ऐतिहासिक रूप से पूँजीवाद को अपने जीवन-काल में हमेशा से संगठित मजदूर वर्ग और किसान आधारित आंदोलनों के कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा है। ऐसा कई बार लगा है कि ये प्रतिरोधी शक्तियाँ पूँजीवाद को अंतिम रूप से पराजित कर देंगी। ख़ास कर बीसवीं सदी की शुरुआत से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के काफ़ी बाद तक लगता रहा कि सोवियत कम्युनिस्ट क्रांति, चीनी कम्युनिस्ट क्रांति और वामपंथी रुझान वाले राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम मिल-जुल कर एक ऐसी वैकल्पिक विश्व-व्यवस्था की रचना कर सकेंगे जो मानवता को पूँजीवाद के मुकाबले अधिक लाभान्वित करेगी। लेकिन ये क्रांतियाँ और आंदोलन सदी के आखिरी सालों तक थकान प्रदर्शित करने लगे। पूँजीवादी निज़ाम से होड़ करने में नाकाम हो कर सोवियत संघ बिखर गया, चीनी अर्थव्यवस्था ने बाजारोन्मुख समाजवाद को अपना लिया और अन्य वामपंथी देशों ने भी आदर्श समाजवादी समाज बनाने के सपने को त्याग दिया।

इक्कीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में स्थिति यह है कि पूँजीवाद बिना किसी बड़ी चुनौती के अपना बोलबाला कायम करते हुए आगे बढ़ रहा है। लेकिन, यह समझ लेना एक भूल होगी कि उसकी समस्याएँ खत्म हो चुकी हैं। दुनिया के कुछ क्षेत्रों में पूँजीवादी वृद्धि के फलस्वरूप हुई आर्थिक वृद्धि और अति-उपभोग ने पृथ्वी, पर्यावरण और पारिस्थितिकी के अस्तित्व को ही जोखिम में डाल दिया है। कुछ हिस्से ऐसे भी हैं जहाँ पूँजीवादी विकास कमोबेश ग़ैरहाजिर है। पूँजीवाद की नियामक संस्थाएँ विश्व बैंक, आईएमएफ और डब्ल्यूटीओ ग़ैर-पूँजीवादी जीवन-शैलियों का आदर करते हुए उनके साथ तालमेल बैठाना नहीं सीख पाये हैं। इन संस्थाओं की कोशिश इन समाजों पर पण्यीकरण को बढ़ावा देने वाली नीतियाँ थोपने की कोशिश होती रहती है। इसकी प्रतिक्रिया में प्रतिरोधमूलक वैकल्पिक भूमण्डलीकरण का समर्थन करने वाले आंदोलनों ने थोड़ी-बहुत रफ़्तार पकड़ी है, पर उनकी शक्ति-सूरत साफ़ होना अभी बाक़ी है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी),

भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बारिखिन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्टालिन और स्टालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. मैक्स वेबर (1974), *द प्रोटेस्टेंट इथिक ऐंड द स्पिरिट ऑफ़ कैपिटलिज़्म*, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ.
2. कार्ल मार्क्स (1974), *कैपिटल*, खण्ड 1, अर्नेस्ट मेंडल लिखित परिचय के साथ, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ.
3. डेविड हार्वी (1999), *लिमिट्स ऑफ़ कैपिटल*, दूसरा संस्करण, बरसो, लंदन.
5. मिशेल चोसुदोव्स्की (1997), *ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ पॉवर्टी : इम्पेक्ट ऑफ़ आईएमएफ़ ऐंड वर्ल्ड बैंक रिफॉर्म्स*, द अदर इण्डिया प्रेस और माध्यम बुक्स, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

पनोप्टिकॉन

(Panopticon)

पनोप्टिकॉन शब्द दो घटकों से मिल कर बना है : पन और ऑप्टिकॉन। पन का मतलब है क़ैदी और ऑप्टिकॉन का मतलब है क़ैदियों पर नज़र रखने वाला निगरानीकर्ता। एक ऐसी जगह जहाँ क़ैदियों पर निगाह रखी जाती हो, जेल ही हो सकती है। इस पद और इससे जुड़ा सिद्धांत गढ़ने का श्रेय अंग्रेज़ दार्शनिक और सामाजिक सिद्धांतकार जेरेमी बेंथम को जाता है। उन्होंने 1785 में एक कारागार की डिज़ाइन के रूप में इसका इमारती ब्लूप्रिंट बनाया था। वे एक गोलाकार इमारत बनाना चाहते थे जिसके बीच में एक ऊँचा टॉवर बनाया जाना था। टॉवर और उसके चारों ओर कुछ दूर बनी चारदीवारी के बीच क़ैदियों या पागलों को रखने वाली कोठरियाँ बननी थीं। बेंथम की योजना थी कि इन कोठरियों में हमेशा रोशनी रखी जाए ताकि उसमें रहने वालों की गतिविधियों पर टॉवर से नज़र रखी जा सके। बेंथम का मक़सद था कि क़ैदियों या पागलों को अपनी निगरानी का पता नहीं लगना चाहिए। बेंथम

उपयोगितावादी दर्शन के पैरोकार थे और उनकी मान्यता थी कि अगर जेल को इस प्रकार बनाया जाए कि उसमें बंद क़ैदी अपने ऊपर निगरानी रखने वाले को देख ही न सकें तो निगरानी का खर्च बहुत कम हो जाएगा। चूँकि क़ैदियों को पता ही नहीं होगा कि उन पर नज़र रखी जा रही है या नहीं, इसलिए निगरानीकर्ता को हमेशा ड्यूटी पर रहने की ज़रूरत नहीं होगी। बेंथम की इस डिज़ाइन के आधार पर दुनिया भर में बहुत से कारागारों की तामीर की गयी है। पर समाज-विज्ञान के लिए पनोप्टिकॉन का महत्त्व केवल इसीलिए नहीं है। उसके लिए तो पनोप्टिकॉन का विचार एक रूपक की हैसियत प्राप्त कर चुका है। फ़्रांसीसी चिंतक मिशेल फ़ूको ने अपनी रचना *डिसिप्लिन ऐंड पनिस* में बेंथम की इस अवधारणा के इस्तेमाल के जरिये दिखाया कि किस तरह आधुनिक समाज में कारागार ही नहीं, बल्कि फ़ौज, स्कूल, अस्पताल और फैक्ट्रियों जैसी कोटिक्रम आधारित संरचनाओं का विकास ऐतिहासिक रूप से पनोप्टिकॉन के तर्ज़ पर ही हुआ है। फ़ूको के अनुसार आधुनिक समाज अनुशासन लागू करना चाहता है, जिसके लिए उसे अपने हर सदस्य पर हर हालत में निगरानी करने की ज़रूरत पड़ती है। निगरानी की यह प्रक्रिया कुछ इस तरह चलती है जैसे कि कुछ हो ही न रहा हो, सब कुछ सामान्य हो। यही पनोप्टिकॉन का उद्देश्य है।

ऐसी बात नहीं कि पनोप्टिकॉन के विचार में निहित सत्ताकेंद्रीयता के प्रबल आग्रहों से बेंथम भी अपरिचित थे। इसलिए उन्होंने इसे एक ऐसी अभूतपूर्व विधि के रूप में भी परिभाषित किया था जिसके जरिये एक मस्तिष्क दूसरे पर अपनी सत्ता स्थापित कर सकता है। वे इसे जेल के अलावा एक व्यापक फलक पर भी देखते थे। उनकी मान्यता थी कि अगर पनोप्टिकॉन जैसे स्थापत्य के तहत काम किया जाए तो लोगों को नैतिक दृष्टि से सुधारा जा सकेगा, उनकी तंदरुस्ती ठीक रहेगी, उद्योगों में नयी जान पड़ जाएगी, शिक्षा का प्रसार हो सकेगा, जनता के ऊपर बोझ कम होगा, अर्थव्यवस्था का आधार चट्टान की तरह ठोस होता चला जाएगा और क्रान्ति अपनी कमज़ोरियों के बावजूद सुदृढ़ हो सकेगा। इस कथन से जाहिर है कि बेंथम को पनोप्टिकॉन से बहुत उम्मीदें थीं। शायद इसीलिए उन्होंने अपने जीवन का काफ़ी समय और अपनी धन-सम्पत्ति का एक बड़ा हिस्सा पनोप्टिकॉन की डिज़ाइन पर आधारित कारागार बनवाने की कोशिशों पर खर्च किया। इस चक्कर में बेंथम को कई तरह की राजनीतिक और वित्तीय कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। 1811 में ब्रिटिश संसद की तरफ़ से उन्हें ऐसी इमारत खड़ी करने के लिए जगह ख़रीदने की इजाज़त मिली लेकिन इंग्लैण्ड के राजा ने उस पर अपनी मुहर लगाने से इनकार कर दिया। दो साल बाद संसद ने बेंथम को हुई वित्तीय हानि की भरपाई करने के लिए उन्हें 23,000 पाउंड का मुआवज़ा दिया। कुल मिला कर बेंथम के

जीवनकाल में उनकी डिज़ाइन के आधार पर कोई भी जेलखाना नहीं बन सका। बाद में पनोप्टिकॉन के विचार से प्रभावित हो कर ब्रिटेन, अमेरिका, हंगरी, स्पेन, अर्जेंटीना, मैक्सिको, वियतनाम, फ़्रांस, कनाडा, न्यूजीलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया, क्यूबा और दक्षिण अफ़्रीका में कई कारागारों का निर्माण किया गया। इंग्लैण्ड में वूस्टर स्टेट हॉस्पिटल और डर्बीशायर की राउंड मिल की इमारतें भी पनोप्टिकॉन से प्रभावित हो कर बनायी गयी मानी जाती हैं।

आज पनोप्टिकॉन स्थापत्य के रूप में फ़ैशन से बाहर हो चुका है। पर समाज और नगरिकों पर निगरानी क्रायम करने के सिद्धांत के रूप में उसका महत्त्व लगातार बढ़ा है। साहित्यिक और सांस्कृतिक निरूपणों में पनोप्टिकॉन जैसी संरचनाओं का ज़िक्र होता रहता है। इनमें फ़्रेंज़ काफ़का की विख्यात रचना *द कैसेल* और गैब्रियल गार्सिया मार्ख़ेज़ की *क्रॉनिकल ऑफ़ अ डैथ फ़ोरटोल्ड* भी शामिल है।

मिशेल फ़ूको पनोप्टिकॉन के विचार का विस्तार करते हुए उसे आधुनिक समाज की उस बुनियादी प्रवृत्ति पर लागू करते हुए 'पनोप्टीसिज़म' की धारणा पेश करते हैं जिसके तहत मानवीय आबादियों को कुछ ऐसी ताकतों द्वारा प्रबंधित और नियंत्रित किया जाता है जो अक्सर अदृश्य रह कर बड़ी सफ़ाई और नफ़ासत से यह काम अंजाम देती हैं। फ़ूको लिखते हैं कि अगर पनोप्टिकॉन में रहने वाले क़ैदी हैं तो उनकी निगरानी का यह तरीक़ा उनके द्वारा की जाने वाली किसी साज़िश, पलायन की किसी सामूहिक योजना, भविष्य में किये जा सकने वाले किसी अपराध या एक-दूसरे पर पड़ने वाले किसी ख़राब प्रभाव की सम्भावनाएँ निरस्त कर देगा। अगर वह इमारत किसी अस्पताल की है तो निगरानी के जरिये संक्रामक रोग फैलने से रोका जा सकता है, अगर वह पागलखाना है तो पागलों द्वारा एक-दूसरे के ख़िलाफ़ हिंसा करने का ख़तरा ख़त्म किया जा सकता है, अगर वह स्कूल है तो बच्चों को नकल करने, शोरगुल करने, बातें करने और वक्रत बर्बाद करने से रोका जा सकता है। और, अगर वह कोई फैक्ट्री है तो मजदूरों के बीच अव्यवस्था, चोरी, गुटबाज़ी जैसी गतिविधियों पर नज़र रखी जा सकती है जिनसे काम की रफ़्तार घटती है या उसका स्तर गिरता है या दुर्घटनाएँ होती हैं।

फ़ूको के अनुसार यह प्रक्रिया निगरानी करने वाले की निगरानीशुदा लोगों पर सत्ता की गारंटी करती है, बावजूद इसके कि निगरानीशुदा लोगों को अपने ऊपर सत्ता आरोपित किये जाने का एहसास नहीं होता। इस लिहाज़ से पनोप्टिकॉन स्वचालित प्रक्रिया का रूप ले लेता है। फ़ूको के मुताबिक़ निगरानी करने वाला अदृश्य व्यक्ति बिना किसी दिक्कत के निगरानीशुदाओं की व्यवहार-शैली से वाक़िफ़ हो जाता है। यह सिलसिला केवल निगरानीकर्ता और निगरानीशुदा के बीच संबंध तक ही सीमित नहीं रहता। 'पनोप्टिक निगाह'

निगरानीशुदाओं के लिए इतनी अनापत्तिजनक हो जाती है कि वे व्यक्ति के रूप में उसे आत्मसात कर लेते हैं, इस हद तक कि उनसे खुद अपनी ही निगरानी करायी जा सकती है। वे अपने ही दमन और नियंत्रण के एजेंट हो जाते हैं। अपने विश्लेषण में फ़ूको इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि न केवल उदारतावादी लोकतंत्रों में पनोप्टिसिज़्म को आधार बनाया जाता है, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था ही विकास-दर और मुनाफ़े को लगातार बढ़ाते रहने के लिए पनोप्टिसिज़्म को अपनाती है। फ़ूको के अनुसार पनोप्टिकॉन की संरचनाएँ ईसाइयत द्वारा दिये गये श्रम संबंधी मूल्यों, नैतिकताओं और केंद्रीकृत प्राधिकार (ईश्वर) के प्रति निष्ठा की तजवीज़ करती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में ईश्वर जैसे प्राधिकार की जगह आर्थिक जगत के अभिजनों को मिल जाती है।

फ़ूको का यह विश्लेषण इंटरनेट-पूर्व युग का है। लेकिन क्या इंटरनेट की डिजिटल दुनिया की निराकारता पनोप्टिकॉन से मुक्त है? क्लोज़ सरकिट टीवी और वीडियोग्राफी के ज़रिये की जाने वाली निगरानी को तो आसानी से पनोप्टिक निगाह की संज्ञा दी जा सकती है, पर स्लवोज़ जिज़ेक का तो कहना है कि बेंथम द्वारा प्रतिपादित पनोप्टिकॉन में तो निराकारता (वर्चुअलिटी) अपने शुद्धतम रूप में मिलती है। कोई नहीं जानता कि उस पनोप्टिकॉन के केंद्र में कोई है भी या नहीं। अगर पता हो तो कि वहाँ कोई है तो पनोप्टिकॉन का डरावनापन थोड़ा कम हो जाएगा। लेकिन, बेंथम की भाषा में तो वह एक एक बेहद अंधेरी जगह होती है। कोई पीछा कर रहा है, इस बात का एहसास ज़्यादा डरावना होता है बजाय इसके कि पता हो कि वास्तव में कोई पीछा कर रहा है। ऐसी अनिश्चितता बेहद संत्रासकारी होती है। सम्भवतः यहाँ जिज़ेक का साफ़ इशारा इंटरनेट संबंधी उन संहिताओं की तरफ़ है जिनके तहत आईएसपी के ज़रिए यूज़र्स और उनकी गतिविधियों का न केवल पता लगाया जा सकता है, बल्कि उनके कामकाज को रिकॉर्ड तक किया जा सकता है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, जेरेमी बेंथम, टेलरवाद, नृजातिवर्णन, प्राइवैसी, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. जेरेमी बेंथम (1995), *पनोप्टिकॉन*, मिरन बोज़ोविक (सम्पा.), *द पनोप्टिकॉन राइटिंग्स*, वरसो, लंदन.
2. मिशेल फ़ूको (2008), *डिसिप्लिन ऐंड पनिसा : द बर्थ ऑफ़ द प्रिज़न*, विंटेज बुक्स, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

पब्लिक-प्राइवेट

(Public-Private)

उदारतावादी दर्शन सामाजिक संबंधों को दो अलग-अलग दायरों में बाँट कर दिखाता है। एक दायरा है पब्लिक का यानी सार्वजनिक दायरा, और दूसरा है प्राइवेट का यानी निजी दायरा। उदारतावाद के मुताबिक व्यक्ति समाज के दूसरे सदस्यों के साथ सहयोग और होड़ के रिश्तों के तहत सार्वजनिक दायरे में सक्रिय रहता है। इसी दायरे में वह वेतनभोगी श्रम करने के ज़रिये रोज़ी-रोटी कमाता है, अपने राजनीतिक-लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए जद्दोजहद चलाता है और ये तमाम कार्य-व्यापार आम तौर पर सरकार और राज्य द्वारा बनाये गये नियम-क़ानूनों के तहत बुद्धिसंगत और वस्तुनिष्ठ ढंग से विनियमित होते हैं। इसके विपरीत निजी दायरे को घर और परिवार के भीतर बनने वाले संबंधों और गतिविधियों के रूप में परिभाषित किया गया है। उदारतावादी समझ यह है कि यह निजी दायरा मोटे तौर पर राज्य के अधिकार-क्षेत्र से बाहर काम करता है, और यह बुद्धि के साम्राज्य से बाहर मुख्यतः मनोभावों और आत्मनिष्ठता का दायरा है। स्त्री-अध्ययन ने पब्लिक और प्राइवेट के इस द्विभाजन को उसकी जेंडरीकृत प्रकृति के मुताबिक देख कर इसके इर्द-गिर्द एक पूरा विमर्श आयोजित किया है। उसकी मान्यता है कि सार्वजनिक को पुरुषत्व के हवाले कर दिया गया है, और निजी को स्त्रीत्व के।

इस विभाजन का ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ है कि पुरुष न केवल सार्वजनिक दायरे में विचरण करता है, बल्कि उसकी निजी दायरे में भी पहुँच है। सार्वजनिक दायरे से प्राप्त अधिकारों और शक्तियों के दम पर वह निजी दायरे पर भी अपना प्रभुत्व जमा लेता है। जबकि स्त्री निजी दायरे में ही सिमटी रह जाती है, और सार्वजनिक दायरे में प्रवेश पाना उसके लिए सम्भव ही नहीं हो पाता। सार्वजनिक जीवन से प्राप्त भौतिक-राजनीतिक अधिकारों और प्राधिकारों के अभाव में उसे निजी दायरे के भीतर पुरुष-वर्चस्व की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। नारीवाद के अनुसार निजी और सार्वजनिक दुनिया की अवधारणाएँ समाज में स्त्री-अधीनता को संस्थागत रूप देने के लिए काम करती रही हैं। सार्वजनिक और निजी के इसी द्विभाजन का प्रतिकार करने निजी को अराजनीतिक क्रार देने से इनकार करने के लिए नारीवादियों ने 'पर्सनल इज़ पॉलिटिकल' का नारा दिया है।

सार्वजनिक और निजी के द्विभाजन का उदय हॉब्स और रूसो जैसे चिंतकों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा के सिद्धांत के मार्फ़त हुआ। इन दोनों दार्शनिकों ने सरकार और

राज्य की वैधता का विश्लेषण करने के क्रम में इन अवधारणाओं पर चर्चा की है। इनके लेखन में सार्वजनिक और राजनीतिक एक-दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। साथ ही निजी को अराजनीतिक के खाने में डाल दिया जाता है। नारीवाद कहता है कि सामाजिक संविदा के सिद्धांत द्वारा किया गया यह विभाजन मूलतः लैंगिक है। एक समय में सिर्फ पुरुषों को ही नागरिकता का अधिकार प्राप्त था इसलिए सार्वजनिक क्षेत्र अनिवार्यतः पौरुषपूर्ण था। हॉब्स और रूसो के अनुसार स्त्री की यौनिकता ने सार्वजनिक जीवन में उसके प्रवेश की सभी सम्भावनाओं को निषिद्ध कर रखा था। इसीलिए निजी दुनिया को यथासम्भव स्त्रियों का क्षेत्र बनाने का प्रयास किया गया। इस बँटवारे का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सैद्धांतिक जगत में सामाजिक संविदा के तहत सार्वजनिक दायरे की प्राथमिकता निजी के ऊपर स्थापित हो गयी।

नारीवादी चिंतकों ने कई तरह से निजी/सार्वजनिक के विमर्श की जेंडरीकृत संरचना खोलने की कोशिश की है। कुछ नारीवादियों ने ऐतिहासिक और मानवशास्त्रीय आईने में से इस विभाजन की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन का प्रयास किया है। एस्. ऑर्टनर ने 1974 में प्रकाशित अपने महत्वपूर्ण आलेख में दिखाया कि कैसे निजी और घरेलू क्षेत्र को पूरी दुनिया में स्त्री के साथ सिर्फ इस तर्क के आधार पर जोड़ दिया गया कि स्त्रीत्व का संबंध प्रकृति से है और पुरुषत्व का संबंध संस्कृति से। एल. डेविडॉफ की 1998 में प्रकाशित एक रचना में उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड में प्रचलित निजी/सार्वजनिक की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है। उन्होंने वे सभी लैंगिक प्रवृत्तियाँ (जैसे व्यक्तित्व और तार्किकता) रेखांकित की हैं जो बुनियादी तौर पर लैंगिक पूर्वग्रहों से ग्रसित थीं। डेविडॉफ ने यह भी दिखाया है कि इन प्रवृत्तियों ने समाज के साथ स्त्री के संबंधों के मद्देनजर अपनी शक्ति-सूरत ग्रहण की थी।

आइरिस यंग ने अपने आलेख *द सोशललिस्ट फेमिनिजम एंड द लिमिटेड ऑफ़ डुअल सिस्टम थियरी* में निजी/सार्वजनिक विमर्श के मार्क्सवादी संदर्भों की आलोचनात्मक व्याख्या की है। उन्होंने कहा कि कई मार्क्सवादी नारीवादियों ने उत्पादन और पुनरुत्पादन को पूँजीवाद और पितृसत्ता के खाँचों में रखा है। कुछ नारीवादी विदुषियों ने मार्क्सवाद पर भी सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों को दायरे दर्जा दिलाने का आरोप लगाया है। उनका तर्क है कि इसने भी पितृसत्ता के सिद्धांतों के साथ गठजोड़ के कारण स्त्रियों को निजी क्षेत्र में सीमित किया।

सिल्विया वाल्बी 1990 में ने ब्रिटिश स्त्रियों की बदलती स्थिति की पड़ताल करते हुए लिखा है कि पारिवारिक की परिधि में पितृसत्ता द्वारा स्त्री का शोषण एक पुरुष द्वारा होता है जो सम्भवतः उसका पिता, पति या पुत्र होता है।

पितृसत्ता के इस रूप में व्यापक सामाजिक गतिविधियों में स्त्रियों की सहभागिता रोक दी जाती है। आधुनिक युग में पितृसत्ता खुले रूप में स्त्रियों को रोज़गार, शिक्षा या राजनीति में सहभागिता से वंचित नहीं करती, लेकिन पितृसत्तात्मक रणनीति के तहत अलगाव (रोज़गार से) और अधीनता के जरिये उन्हें लगातार असमानता और भेदभाव झेलना पड़ता है। अब तक हुए अनगिनत शोधों ने तर्कसंगत ढंग से उजागर किया है सार्वजनिक और निजी दायरों में स्त्री और पुरुषों को जेंडरीकृत व्यक्ति में तब्दील करने की प्रक्रिया चलती है। घरेलू हिंसा के संदर्भ में ग्रेस और राइट 1995 में किया गया अनुसंधान दर्शाता है कि इस प्रकार की किसी घटना की छानबीन पुलिस या कोर्ट द्वारा होते समय विवाह की गरिमा, घर और परिवार की प्रतिष्ठा के नाम पर हिंसक मर्दाना व्यवहार के प्रति तटस्थता बरतते हुए उसे कई बार अपराधिक कृत्य नहीं माना जाता है।

कई नारीवादी अध्ययनों ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि इन क्षेत्रों को अलग-अलग करके देखने की बजाय या परस्पर विपरीत द्वि-विभाजन के विमर्श की तरह देखने के बजाय एक साथ जोड़ कर देखने की ज़रूरत है। उदाहरण के लिए वेतनभोगी कार्यों में पुरुषों की बेहतर स्थिति तब तक नहीं समझी जा सकती जब तक यह नहीं समझ लिया जाता कि महिलाएँ हमेशा घरेलू कार्यों और बच्चों के पालन-पोषण में व्यस्त रहती हैं। कुछ अध्ययनों में नागरिकता के प्रश्न के इर्द-गिर्द निजी / सार्वजनिक का विमर्श समझने का प्रयास किया गया है। लिस्टर ने 1997 की अपनी रचना में यह दिखाया है कि कैसे सार्वजनिक और निजी के द्विभाजन ने स्त्री को न सिर्फ नागरिक की कोटि से हो बाहर कर दिया, बल्कि उसकी राजनीतिक सहभागिता, आर्थिक और शारीरिक स्वतंत्रता को भी खत्म कर डाला।

पब्लिक / प्राइवेट विमर्श के शुरुआती संस्करण को आलोचना का सामना भी करना पड़ा है। सिमोन्विच ने 2000 में तर्क दिया था कि इस विमर्श को नये सिरे से परिभाषित करने की आवश्यकता है। इन दोनों दायरों को पुरुषत्व और स्त्रीत्व के संकीर्ण निर्धारण से निकालना चाहिए। निजी दायरे को पितृसत्तात्मक प्राधिकार की जकड़ से मुक्त करना ज़रूरी है, पर उसे पूरी तरह से त्यागना नहीं। दरअसल, निजी दायरा स्त्री ही नहीं पुरुष के लिए भी राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त स्वतंत्रता के दायरे के रूप में विकसित किया जा सकता है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता,

प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. एम. डेंट्रेवस और यू. वोगेल (सम्पा.) (2000), *पब्लिक ऐंड प्राइवेट : लीगल, पॉलिटिकल ऐंड फ़िलॉसॉफ़िकल पर्सपेक्टिव्ज़*, रॉटलेज, लंदन.
2. जे. लैंडिस (सम्पा.) (1998), *फ़ेमिनिज़्म, द पब्लिक ऐंड द प्राइवेट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. सिल्विया वाल्व (1998), 'इज़ सिटीज़नशिप जेंडर्ड', *सोशियॉलॉजी खण्ड 28*, अंक 2.

— सुप्रिया पाठक

पर्यावरणीय नारीवाद

(Ecofeminism)

पर्यावरणीय नारीवाद के अनुसार विकास के पश्चिमी मॉडल द्वारा प्रकृति का दोहन और पितृसत्ता द्वारा स्त्री का उत्पीड़न अनिवार्यतः अंतर्संबंधित परिघटनाएँ हैं। पर्यावरण का होता हुआ निरंतर होता क्षय और स्त्री की आधीनता का स्रोत पुरुष की मानसिकता में निहित है। पारिस्थितिकीय और नारीवादी परिप्रेक्ष्यों को जोड़ने वाले इस विचार का विकास सत्तर और अस्सी के दशकों में हुआ। पितृसत्ताओं को विभिन्न कोणों से चुनौती देने का दावा करने वाले ईकोफ़ेमिनिज़्म की प्रकृति तरल क्रिस्म की है। इसके साथ कई तरह के नारीवादी और पर्यावरणीय सिद्धांतों-प्रवृत्तियों और आंदोलनकारी गतिविधियों का जुड़ाव रहा है। 1974 में प्रकाशित अपनी कृति *फ़ेमिनिज़्म ऑर डेथ* में फ्रांस्वा दोबोन्न ने पहली बार ईकोफ़ेमिनिज़्म की चर्चा की थी। कुछ सिद्धांतकार इसे नारीवाद की तीसरी लहर के दायरे में रख कर भी देखते हैं। ईकोफ़ेमिनिज़्म का दावा है कि उत्पीड़न के सभी रूप एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। इसलिए उत्पीड़न की संरचनाओं को अलग-अलग नहीं बल्कि उनकी सम्पूर्णता में समझने की कोशिश करनी चाहिए। इस लिहाज़ से ईकोफ़ेमिनिज़्म एक ऐसी बहुआयामी आलोचना-पद्धति की तजवीज़ करता है जो एक-दूसरे से अलग-अलग लगाने वाले पहलुओं को समेटते हुए सांस्कृतिक आलोचना का दायरा विस्तृत कर सके। ईकोफ़ेमिनिज़्म से संबंधित नारीवादी विदुषियों में रोज़मेरी

रैंडफ़र्ड रुदर, वंदना शिवा, सूसन ग्रिफ़िन, एलिस वाकर, इवोने गेबारा, सुन आइ ली-पार्क, पौला गुन एलेन, मोनिका स्ज़ू, ग्रेटा गार्द आदि के नाम प्रमुख हैं। इस विचार को नारीवादी हल्कों में ही सुचिंतित आलोचना का सामना भी करना पड़ा है।

पिछले तीन दशकों (1970-2000) में पर्यावरणीय नारीवादियों ने अनेक धरनों, बहिष्कारों और अहिंसक आंदोलनों द्वारा स्त्री और पर्यावरण के लिए न्याय की गुहार लगायी है। उनका विरोध निजी कम्पनियों को बेची जा रही नदियों और उन पर बन रही विद्युत परियोजनाओं से पैदा हो रही विसंगतियों के खिलाफ़ है। यह नारीवाद प्रकृति-केंद्रित गतिविधियों के ज़रिये वनों की कटाई, प्रदूषण, पर्यावरणीय क्षरण जैसी समस्याओं और पितृसत्ता के बीच संबंधों की तरफ़ ध्यान आकर्षित करने में सफल हुआ है।

ईकोफ़ेमिनिज़्म के अनुसार पितृसत्ता अपना प्रभुत्व क्रायम करने के लिए 'बाइनरी अपोज़ीशन' या द्विभाजनों के विमर्श की स्थापना करती है। जन्त-जहन्नुम, दिमाग-देह, मर्द-औरत, इनसान-जानवर, चेतना-तत्त्व, संस्कृति-प्रकृति, श्वेत-अश्वेत आदि द्विभाजनों में एक पक्ष बेहतर और दूसरा कमतर मान लिया गया है। इस ऊँच-नीच को न्यायोचित और स्वाभाविक करार देने के लिए कई तरह के धार्मिक और वैज्ञानिक तर्कों का सहारा लिया जाता है। इन द्विभाजनों के विचारधारात्मक प्रभाव का वर्णन करते हुए ग्रिफ़िन कहती हैं कि जब तक सभी तरह के बाइनरी अपोज़ीशन निष्प्रभावी नहीं होते तब तक मनुष्यता 'अपने ही खिलाफ़' बँटी रहेगी।

इस वैचारिक प्रवृत्ति का पहला उद्घाटन युरोपीय और यूरो-अमेरिकी धार्मिक और दार्शनिक विचार जगत के भीतर समाये पितृसत्तात्मक आग्रहों की शिनाख़्त के ज़रिये हुआ था। नारीवादी विदुषियों ने प्राचीन मेसोपोटेमिया और यूनान की संस्कृतियों के साथ-साथ यहूदी धर्म और ईसाइयत के भीतर खोज-बीन करके दिखाया कि किस तरह बुक ऑफ़ जेनेसिस से निकले कथा-वृत्तों में स्त्री (हव्वा) और ग़ैर-मानवीय जीव (साँप) का राक्षसीकरण किया गया है। नारीवादी इतिहासकार गर्डा लर्नर और पुरा-मिथकशास्त्री मारिजा गिम्बुटाज़ ने भूमध्यसागरीय और युरोपीय क्षेत्रों की उन संस्कृतियों का अध्ययन किया जो पितृसत्ता के उदय से पहले की थीं। गिम्बुटाज़ ने दावा किया कि पुराने युरोप में जीवन का सम्मान करने वाली ऐसी संस्कृतियों का अस्तित्व था जो मातृसत्तात्मक भी होती थीं और जिन पर भौतिकवादी पहलू बहुत हावी नहीं रहते थे। लेकिन आक्रमणकारी आर्यों ने धीरे-धीरे उन्हें नष्ट कर दिया। लर्नर ने दिखाया कि किस तरह नवपाषाण युग के छोटे-छोटे गाँव शहर-आधारित राज्यों में बदले और इस परिवर्तन के साथ ही पितृसत्तात्मक संस्कृतियों का उभार हुआ। इन दोनों ही सिद्धांतकारों ने



वंदना शिवा (स्टेइंग एलाइव : वुमॅन, इकोलॉजी ऐंड सरवाइवल इन इण्डिया)

पितृसत्ता से पहले की संस्कृतियों में जन्मदात्री देवियों और दूसरे तरह के प्रकृति संबंधी प्रतीकवाद को प्रबलता के साथ रेखांकित किया। उन्होंने कहा कि धीरे-धीरे पितृसत्तात्मक और युद्धप्रिय आकाशी देवता धरती की नुमाइंदगी करने वाले देवी-देवताओं की जगह लेते गये। सत्ता के ज्यादातर प्राचीन प्रतीकों को दुष्टता या अराजकता का द्योतक करार दे दिया गया। साँप को पहले जीवन का प्रतीक माना जाता था, पर उसे दुष्टता और बुराई से जोड़ कर पुरुष देवता के पैरों तले कुचलवा दिया गया। पृथ्वी नर्क और आकाश स्वर्ग का स्थान घोषित हुआ। स्वर्ग से उसकी पार्थिवता छीन ली गयी।

लर्नर और गेम्बुटाज़ के इन सिद्धांतों पर प्राचीन मानवीय सभ्यताओं की खोज करने वाले पुराशास्त्रियों ने आपत्तियाँ कीं। लेकिन इस नारीवादी विद्वत्ता ने ईकोफ़ेमिनिज़म के लिए रास्ता खोल दिया। इससे निकली प्रेरणाओं के फलस्वरूप सत्तर के दशक में पहली बार नारीवादी और पर्यावरणीय सरोकारों को सैद्धांतिक धरातल पर जोड़ा गया। उस समय रुदर, मैरी डाली, ग्रिफ़िन और कैरोलिन मर्चेट खुद को स्पष्ट रूप से पर्यावरणीय नारीवाद के प्रवक्ता के रूप में नहीं देख रही थीं। लेकिन अस्सी और नब्बे के दशक में ईकोफ़ेमिनिज़म को केंद्र बना कर काफ़ी

अकादमीय लेखन हुआ। सैद्धांतिक दायरे से बाहर इस प्रश्न ने एक्टिविस्टों को भी आकर्षित किया। कई सम्मेलन आयोजित किये गये और संस्थाएँ खड़ी की गयीं। परिणामस्वरूप यूरो-अमेरिकी ईकोफ़ेमिनिस्ट विदुषियों ने तीन बुनियादी महत्त्व के संकलनों (*रिक्लेम द अर्थ, हीलिंग द वूड्स* और *रिवीविंग द वर्ल्ड*) का सम्पादन किया जिनमें विभिन्न संस्कृतियों से आये लेखकों ने योगदान किया था। पेत्रा केली ने हीलिंग द वूड्स की भूमिका लिखी और भारत के चिपको आंदोलन, इंग्लैण्ड के ग्रीनहैम कामंस, पूर्व सोवियत संघ के क्रिम रीजन और वेस्टर्न शोशोन इण्डियन नेशन को 'ग्लोबल इकोलॉजीकल सिस्टरहुड' को आपस में जोड़ने वाली भुजाओं के रूप में चित्रित किया।

1988 में भारतीय भौतिकशास्त्री और पर्यावरण संबंधी अनुसंधानकर्ता वंदना शिवा ने अपनी कृति *स्टेइंग एलाइव : वुमॅन, इकोलॉजी ऐंड सरवाइवल इन इण्डिया* की रचना की। उन्होंने 'स्त्रीत्व के आधारभूत उसूल की मृत्यु' को उस 'कुविकास' के साथ जोड़ा। वंदना शिवा ने इसका कारण तीसरी दुनिया पर थोपी गयी उस सघन खेतिहर उत्पादन पद्धति को बताया जिसमें धरती, मिट्टी, पर्यावरण और पारिस्थितिकीय विविधता की चिंता न करके केवल अधिकतम पैदावार पर ही जोर दिया जाता है। शिवा ने जर्मन मार्क्सवादी समाजशास्त्री मारिया मीज़ के साथ मिल कर 1993 में *ईकोफ़ेमिनिज़म : रिक्नेक्टिंग अ डिवाइड वर्ल्ड* की रचना भी की जिसमें अमीर और ग़रीब देशों में पूँजीवादी और पितृसत्तात्मक आर्थिक प्रणालियों को स्त्रियों के उत्पीड़न का जिम्मेदार ठहराया गया। शिवा के विमर्श में पर्यावरणीय नारीवाद के ग्लोबल चरित्र पर ख़ास तौर से जोर दिया गया है।

विचार के क्षेत्र में ईकोफ़ेमिनिज़म ने वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि और धर्म के बीच शत्रुता दिखाने वाले आग्रहों को भी आड़े हाथों लिया। पर्यावरणीय नारीवाद के प्रवक्ताओं ने जोर दे कर कहा कि पश्चिमी धर्मशास्त्र और पश्चिमी विज्ञानवाद ने भौतिक और आध्यात्मिक को एक-दूसरे के खिलाफ़ खड़ा कर दिया है जिससे मानवता की काफ़ी क्षति हुई है। अपने युद्ध विरोधी रुख के कारण नारीवाद की इस प्रवृत्ति का एक अन्य योगदान पीस स्टडीज़ के क्षेत्र में भी रहा है।

आलोचना : पर्यावरणीय नारीवाद को उसके अनूठे रुख के कारण सराहना के साथ-साथ नारीवादी क्षेत्रों में आलोचना का सामना भी करना पड़ा है। आलोचकों का कहना है कि स्त्री के प्रकृति के साथ अटूट रिश्ते को दिखाने के चक्कर में यह नारीवाद जैविक तात्त्विकतावाद में फँस गया है जिसके कारण इसके तार्किक आयाम कमजोर हुए हैं। जैविक तात्त्विकतावाद के विरोधियों का कहना है कि स्त्री में स्त्रियोजित ही नहीं बल्कि पुरुषोजित गुण भी होते हैं, लेकिन

पितृसत्ता अपने स्वार्थ में उनके स्त्रियोचित गुणों को ही प्रोत्साहित करती है। पर्यावरणीय नारीवाद एक मात्र स्त्री को ही अपने स्त्रियोचित गुणों के कारण पर्यावरण और पारिस्थितिकी का रक्षक करार देता है। दूसरे, वह स्त्री के प्रकृति के साथ अटूट रिश्ते को स्थापित करने की प्रक्रिया में स्त्री-मुक्ति के अन्य सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं की उपेक्षा कर देता है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र।

संदर्भ

1. नोएल स्टर्जन (1997), *ईकोफेमिनिस्ट नेचर्स : रेस, जेंडर, फेमिनिस्ट थियरी ऐंड पॉलिटिकल एक्शन*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क, 1997
2. कैरन वारेन (1997), *ईकोफेमिनिज्म : वुमॅन, कल्चर, नेचर, ब्लूमिंगटन*, इण्डियाना यूपी.
3. सूसन ग्रिफिन (1978), *वुमॅन ऐंड नेचर : द रोरिंग इनसाइड हर, हार्पर ऐंड रो, न्यूयॉर्क*.
4. वंदना शिवा (1988), *स्टेइंग एलाइव*, काली फ़ॉर वुमॅन, नयी दिल्ली.
5. मारिया मीज़ और वंदना शिवा (1993), *ईकोफेमिनिज्म*, जेड बुक्स, लंदन और न्यू जर्सी.

— सुप्रिया पाठक

परस्पर विपरीत द्विभाजन

(Binary Opposition)

पूरी तरह विपरीत अर्थ देने वाले दो पदों का ऐसा युग्म जिनसे एक तीसरा अर्थ प्राप्त हो। शब्दों और पदों के इस तरह के जोड़ों के प्रभाव पर सबसे पहले अरस्तू ने अपनी रचना *पोइटिक्स* में विचार किया था। आधुनिक ज्ञान प्रणालियों के लिए एक अर्थ-सूचक प्रणाली के तौर पर परस्पर विपरीत द्विभाजन की सैद्धांतिक स्थापना फ़र्दिनेंद द सॅस्यूर ने की थी। उनका कहना था कि भाषा के दायरे में लक्षण (साइन) या शब्द अपना अर्थ अपने विलोम के मुकाबले देते हैं। इसके बाद रैंडक्लिफ़-ब्राउन ने सांस्कृतिक मानवशास्त्र के तहत परस्पर विपरीत द्विभाजनों से अर्थों की उत्पत्ति की व्याख्या की। संरचनावाद के अनुसार मानव मस्तिष्क परस्पर

विलोमार्थक युग्मों में सोचता है। जैसे ऊँचा-नीचा, खाद्य-अखाद्य, काला-गोरा, कच्चा-पक्का, संस्कृति-प्रकृति आदि। लेवी-स्ट्रॉस के मुताबिक किसी विश्लेषक का काम यही दिखाना है कि किस प्रकार परस्पर विरोधी चीजें किसी व्यवस्था का निर्माण करती हैं और व्यवस्था के भीतर से ही अर्थवान बनती हैं। समाज-विज्ञान में द्विभाजन की यह प्रणाली अब सॅस्यूर के संरचनावादी भाषा-संसार से निकल कर राजनीति और संस्कृति के धरातल पर ख़ास तरह के अर्थ-सम्प्रेषण का औज़ार बन चुकी है। समकालीन उत्तर-संरचनावादी और नारीवादी सिद्धांतकारों ने दिखाया है कि इस तरह के परस्पर विपरीत द्विभाजनों से हिंसक और दमनकारी तरतमताओं की रचना होती है। एक श्रेणी में सकारात्मक और दूसरी में नकारात्मक अर्थों का निवेश करके एक को बेहतर और दूसरी को कमतर करार दे दिया जाता है। एक श्रेणी परम सत्य और कल्याण की प्रतीक बन जाती है, और दूसरी को शैतानी ताकतों का नुमाइंदा मान लिया जाता है। इस तरह पुरुष की स्त्री के ऊपर, उपनिवेशक की उपनिवेशित के ऊपर, जन्म की मृत्यु के ऊपर, श्वेत की श्याम के ऊपर, सभ्य की असभ्य के ऊपर, विकसित की अविकसित के ऊपर, सुंदर की कुरूप के ऊपर, मनुष्य की पशु के ऊपर, शिक्षक की छात्र के ऊपर और चिकित्सक की रोगी के ऊपर श्रेष्ठता स्वयंसिद्ध मान ली जाती है। इन तरतमताओं के आधार पर सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व और वर्चस्व की रचनाएँ खड़ी होती हैं।

इस प्रणाली के तहत उन शब्दों के जोड़े बनाये जाते हैं जिनकी अर्थवत्ता में उलटे-सीधे का अंतर हो। जैसे, धरती-समुद्र या बालक-वयस्क या हम-वे। परस्पर विपरीत धरती और समुद्र मिल कर पृथ्वी की सतह का अर्थ देते हैं। बालक-वयस्क से बनने वाले दायरे में हर कोई आ जाता है। हम-वे के जरिये अर्थ निकलता है कि किसी ख़ास दायरे में (जैसे कि राष्ट्र) में कौन शामिल है और कौन उसके बाहर है। इस मिसालों से जाहिर है कि यह प्रणाली दो शब्दों में परस्पर विलोम के माध्यम से अतिरंजित अर्थों का निवेश करती है और फिर उनसे एक ऐसा अर्थ निकालती है जो दोनों अतिरंजित अर्थों के बीच मौजूद अस्पष्टताओं और अनेकार्थों को छिपा लेता है। आखिरकार धरती और समुद्र के बीच एक परस्परव्यापी क्षेत्र होता है जिसे हम तट के नाम से जानते हैं। तट कभी तो धरती है, कभी समुद्र। बालक और वयस्क के बीच किशोर नामक श्रेणी है जिसे यह द्विभाजन छिपा लेता है। इसी तरह हम और वे के बीच में असहमतों की एक श्रेणी होती है जो न राष्ट्र के बाहर होते हैं और न ही भीतर। भारतीय बौद्धिक विमर्श भी कई तरह के द्विभाजनों के इर्द-गिर्द बुना गया है। ये हैं सेकुलर/साम्प्रदायिक, वाम/दक्षिण, अगड़े/पिछड़े, केंद्र/राज्य, चुनावबाज़/गैर-चुनावबाज़, परिवर्तनकामी/यथास्थितिवादी लोक/तंत्र, आदि।

एक-दूसरे के खिलाफ खड़ी दो श्रेणियों से प्राप्त सूचना, परिभाषा या ज्ञान का कोई भी रूप उन दो श्रेणियों को स्वाभाविक, सहजात या नैसर्गिक का दर्जा दे कर उनके बीच या उनसे बाहर की संबंधित श्रेणियों को असामान्य, अप्राकृतिक, असामयिक और अनावश्यक मानने का आग्रह करता है। इसीलिए स्त्रीत्व और पुरुषत्व के बीच या उनके दायरे के बाहर की कोई भी सेक्शुअलिटी दमन, उपेक्षा और लोकापवाद का शिकार बनती है। विवाहित और अविवाहित से भिन्न श्रेणियों का भी यही हथ्र होता है। बाहर की श्रेणियों को विक्षिप्त, मनोरोगी, गुमराह या प्रेतबाधा से ग्रस्त की संज्ञा दे कर मनश्चिकित्सकों के हवाले कर दिया जाता है।

सवाल यह है कि क्या परस्पर विपरीत द्विभाजन के पीछे प्रभुत्व स्थापित करने का इरादा ही होता है? असल में ऐसे द्विभाजन इरादतन तो होते ही हैं, उनकी पैदाइश गैर-इरादतन भी हो सकती है। डेविड स्पर ने दिखाया है कि अपने निबंध *द एसे ऑन द ओरिजिंस ऑफ लेंग्वेज* में रूसो की दलील अरबी और फ़ारसी जैसी पूर्वी भाषाओं की सराहना से शुरू होती है। वे कहते हैं कि ये भाषाएँ जीवन से भरपूर हैं। लेकिन इसी के बाद वे पश्चिमी लेखन की 'तर्कपरकता और सटीकता' की कसौटी का इस्तेमाल करके इन भाषाओं को बुद्धिसंगत विन्यास और संस्कृति से वंचित करार दे देते हैं। रूसो को शायद ही इस बात का अंदाज़ा हो कि उनके इस भाषा संबंधी विमर्श से एक भीषण द्विभाजन निकलेगा जिसमें एक तरफ़ युरोपीय विज्ञान, उद्योग और लेखन की श्रेणी होगी और दूसरी तरफ़ पूर्व का आदिम संसार, तर्कबुद्धिहीनता और असभ्यता। यह द्विभाजन रूसो के संदर्भ में अनभिप्रेत हो सकता है, पर अपनी अधीनस्थ प्रजा को सभ्य करने का बोझ ढोने का स्वांग करने वाले श्वेतांग महाप्रभुओं को इस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

साम्राज्यवाद द्वारा किया गया सर्वाधिक विनाशकारी द्विभाजन नस्ल की अवधारणा से निकला है। उपनिवेशित समाजों के भीतर और उनके बीच के बेहद पेचीदा शारीरिक और सांस्कृतिक भेदों को काली, भूरी, पीली और श्वेत नस्लों की श्रेणियों में बाँट कर उपनिवेशवादियों ने श्वेत/अश्वेत का प्रभुत्वकारी द्विभाजन खड़ा किया। यह द्विभाजन इतना विकट है कि नस्लवाद के खिलाफ़ संघर्ष करने की स्वागतयोग्य प्रक्रिया में यह सिर के बल खड़ा हो जाता है। काली चेतना या अश्वेत चेतना या उपनिवेशितों की चेतना प्रभुत्वकारी हैसियत प्राप्त कर लेती है।

उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत साम्राज्यिक द्विभाजन की इस पेचीदगी से वाक्रिफ़ है। वह द्विभाजन बनाने वाली दोनों श्रेणियों के बीच वर्जित स्पेस में सक्रिय रहता है। वह लगातार इस द्विभाजन को अस्थिर करने के लिए काम करता है। उसके पैरोकार स्पष्टता की जगह द्वैध, एकलता की जगह बहुलता,

इकहरेपन की जगह संकरता और सरलता की जगह जटिलता को रेखांकित करने के जरिये इस द्विभाजन की भीतरी संरचनाओं को गड़बड़ाने की कोशिश करते हैं।

समकालीन साहित्य-सिद्धांत परस्पर विपरीत द्विभाजन की दोनों में से किसी भी श्रेणी को परम मानने से इनकार करता है। देरिदा पहले तो यह दिखाते हैं कि पश्चिमी विचार के तहत द्विभाजन में जिस शब्द का पहले उल्लेख होता है उसे तरतमता के जरिये बाद में आने वाले शब्द पर हावी कर दिया जाता है। इसके बाद देरिदा यह स्पष्ट करते हैं कि इस तरतमता के बावजूद शब्दों या पदों का कोई भी युग्म अपने अर्थ संबंधी परम मूल्यों को क्रायम रखने के बजाय किस तरह बिना रुके हुए विभिन्न अर्थों से बने हुए एक ढलान पर फिसलता चला जाता है। दोनों श्रेणियों को बार-बार अर्थ संबंधी भिन्नताओं से दो-चार होना पड़ता है।

मानवशास्त्रियों ने जादू और लोकगाथाओं का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला है कि इन दोनों में उन श्रेणियों को महत्त्व दिया गया है जो जीवित / मृत के द्विभाजन के बीच के अस्पष्ट दायरे में मौजूद रहती हैं। जैसे, मनुष्य के बाल और नाखून जो शरीर का हिस्सा होते हुए भी काटे जा सकते हैं। शरीर से निकल कर बढ़ने के बावजूद इन्हें काटने पर किसी तरह का दर्द नहीं होता।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, धर्म, प्राइवैसी, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र- 1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एल. रसेल (2006), *बाउंडरी राइटिंग : ऐन एक्सप्लोरेशन ऑफ़ रेस, कल्चर, ऐंड जेंडर बाइनरीज़ इन कंटेम्पेरी ऑस्ट्रेलिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ हवाई प्रेस, होलोलूलू.
2. डेविड स्पर (1993), *द रेटरिक ऑफ़ इम्पायर : कोलोनियल डिस्कॉर्स इन जर्नलिज़म, ट्रैवल राइटिंग ऐंड इम्पीरियल ऐडमिनिस्ट्रेशन*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम ऐंड लंदन.
3. ई. लीच (1976), *कल्चर ऐंड कम्युनिकेशन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

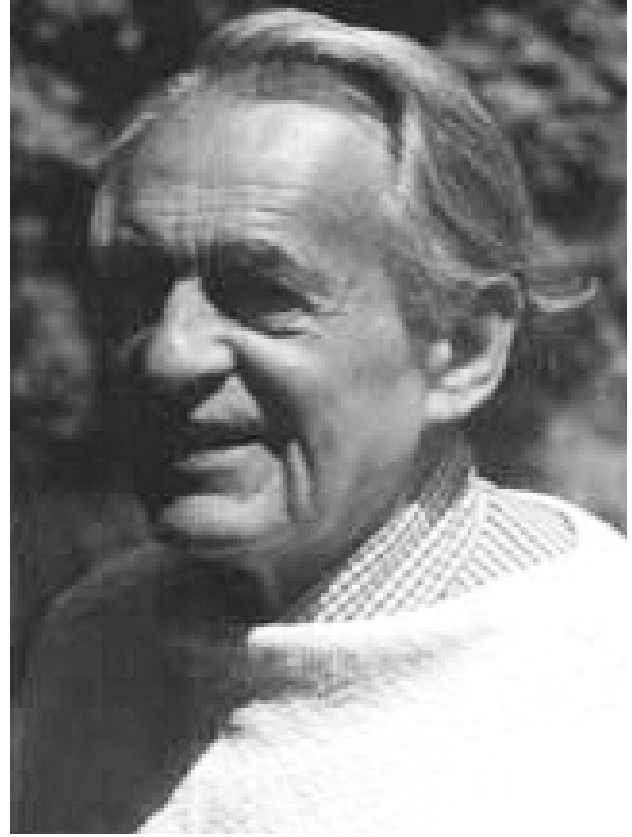
— अभय कुमार दुबे

परम्परा की आधुनिकता

(Modernity of Tradition)

भारत जैसे पारम्परिक और विकासशील समाज में परम्परा और आधुनिकता के बीच समुचित और कारगर रिश्ता बनाना शुरू से ही पेचीदा रहा है। उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी की शुरुआत की विद्वत्ता का सारतत्त्व यह था कि आधुनिकता का जन्म पारम्परिक समाज के अवसान की शर्त पर ही हो सकता है। लेकिन बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में गैर-पश्चिमी समाजों के अध्ययन ने इस स्थापित धारणा को उत्तरोत्तर चुनौती दी है। खास तौर से द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जब वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के बाद नवोदित राष्ट्र अपने समाज-राजनीति और अर्थव्यवस्था नये सिरे से बनाने के उद्यम में लगे तो कुछ नये प्रत्ययों ने जन्म लिया। इनमें परम्परा की आधुनिकता का स्थान सर्वोपरि है। यह अवधारणा समाज और आधुनिक विचार के बीच अन्योन्यक्रिया का अध्ययन करके विकसित की गयी है। इसके अनुसार परम्परा और आधुनिकता का रिश्ता एक-दूसरे का विकल्प होने के बजाय एक भिन्न तरीके से संसाधित होता है। आधुनिकता परम्परा के उन पहलुओं के साथ सकारात्मक संवाद करती है जो उसके अनुकूल होते हैं, और एक पारम्परिक समाज भी आधुनिकता के उन्हीं पहलुओं को अपनाता है जो परम्परा का नवीकरण करने में समर्थ हों। भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से संबंधित विद्वत्ता पर भी काफी अरसे तक कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर द्वारा आरोपित आग्रह हावी रहे हैं जिनके मुताबिक इस समाज की परिवर्तनरोधी जड़ता को आधुनिकीकरण में बाधक समझा जाता था। लेकिन साठ के दशक के बाद ऐसे कई समृद्ध अध्ययन सामने आये जिन्होंने इस समझ को न केवल चुनौती दी बल्कि परम्परा की आधुनिकता के प्रत्यय को और पुष्ट किया। दिलचस्प बात यह है कि ये अध्ययन न केवल समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के अनुशासनों में हुए, बल्कि समाज-विज्ञान से इतर साहित्य-अध्ययन के क्षेत्र में भी इस तरह की पहलकदमियाँ दिखाई पड़ीं।

1967 में युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो में कार्यरत लॉयड और सुजैन रुडोल्फ की जोड़ी ने भारत के राजनीतिक विकास की व्याख्या करते हुए दिखाया कि भारतीय समाज का आधुनिकीकरण अंजाम देने के लिए किस तरह से पारम्परिक संरचनाओं का इस्तेमाल किया जा रहा है। रुडोल्फों के इस बहुचर्चित अध्ययन *द मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन : पॉलिटिकल डिवेलपमेंट इन इण्डिया* में सामाजिक स्तरीकरण, करिश्माई नेतृत्व और क़ानून पर अधिक चर्चा की गयी थी। रुडोल्फ



लॉयड आई. रुडोल्फ (*द मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन : पॉलिटिकल डिवेलपमेंट इन इण्डिया*)

इससे पहले 1965 में प्रकाशित अपने एक विशद आलेख में जाति-प्रथा और आधुनिक राजनीति की अन्योन्यक्रिया का 'जाति के लोकतांत्रिक पुनर्जन्म' के रूप में अध्ययन कर चुके थे। दरअसल, रुडोल्फों के इस बौद्धिक उद्यम का सबसे पहला आयाम था भारतीय राजनीति के आधुनिकीकरण में जाति की संस्था की भूमिका पर गहरायी से विचार करना। उनके अध्ययन का दूसरा पहलू था गाँधी की अनूठी भूमिका पर प्रकाश डालना। उनके विश्लेषण ने दिखाया कि राजनीतिक आधुनिकीकरण के नेतृत्वकारी एजेंट के रूप में गाँधी ने अपनी कामयाबी अपनी राजनीतिक शैली को उत्तरोत्तर परम्परा का जामा पहना कर हासिल की। रुडोल्फों के अध्ययन का तीसरा पहलू था समकालीन भारत में परम्परा प्रदत्त क़ानून और पश्चिम से लिए गये नये क़ानून के आयामों के सहअस्तित्व पर प्रकाश डालना।

तक़रीबन रुडोल्फ के समय में ही राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी भी जाति और आधुनिक चुनावी राजनीति के समागम का अध्ययन करते हुए दिखा रहे थे कि राजनीति में जातिवाद की परिघटना किस तरह राजनीति में जातिवाद का प्रवेश न हो कर जातियों का राजनीतीकरण है। 1969 में उनका क्लासिक ग्रंथ *पॉलिटिक्स इन इण्डिया* प्रकाशित हुआ, जिसका पहला वाक्य ही उनकी पूरी थीसिस का सारतत्त्व था।



सुजैन हूबर रुडोल्फ (द मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन : पॉलिटिकल डिवेलपमेंट इन इण्डिया)

इससे पहले कोठारी अपने सहयोगी विद्वानों (ऋषिकेश मारु आदि) के साथ मिल कर कुछ चुनिंदा निर्वाचन क्षेत्रों का अध्ययन कर चुके थे। कुल मिला कर कोठारी कहना यह चाहते थे कि भारत जैसे परम्पराबद्ध समाज के आधुनिकीकरण का रास्ता राजनीतीकरण की मंजिल से होकर गुजरता है। कोठारी ने आधुनिकीकरण की इस थियरी के भारतीय संदर्भ को इस प्रकार वाणी दी है : 'आधुनिकता के सम्पर्क में आने पर भारतवासियों ने सबसे बड़ा असर यह ग्रहण किया कि वे अपनी पारम्परिक अस्मिता के प्रति नये सिरे से सचेत होते चले गये। आधुनिकता के प्रभाव में उस अस्मिता की पुनर्व्याख्या करके उसमें नवजीवन का संचार किया गया और नयी संस्थाओं और विचारों के संदर्भ में उसका सुदृढ़ीकरण हुआ। यही था भारत के राजनीतिक आधुनिकीकरण का रास्ता। आधुनिकतावादी प्रेरणाओं ने लोगों को भारत की भारतीयता का दावा करने की, उस भारतीयता का पुनःसूत्रीकरण करने, और कुल मिला कर उसे एक आधुनिक चरित्र देने की गुंजाइश प्रदान की। भारत के आधुनिकीकरण पर परम्परा को खारिज करने का मॉडल लागू नहीं होता। न ही आधुनिकता और आधुनिक संस्थाओं की शक्ति को नकार कर सिर्फ परम्परा की वांछनीयता पर जोर देने वाला मॉडल भारत के मामले में कारगर है। इसी तरह

आधुनिकता और परम्परा के कुछ-कुछ हिस्सों की खास तरतीब पर जोर देने वाला मध्यमार्गी मॉडल भी यह नहीं है।'

इस व्याख्या के बाद कोठारी यह बताना नहीं भूलते कि परम्परा अपने आप अपना पुनर्जागरण नहीं कर सकती थी। समसामयिक अर्थ ग्रहण करने के लिए उसे आधुनिक संस्थाओं और मूल्यों की आवश्यकता थी। परम्परा और आधुनिकता पर अलग-अलग जोर देने और एक-दूसरे की क्रीमत पर उनका महत्त्व समझने के बजाय हमें दोनों के संबंध को समझना होगा, उस प्रक्रिया को समझना होगा जिसने इस प्रक्रिया को जन्म दिया है और उस मिश्रण को समझना होगा जो उस समय पैदा होता है जब एक पारम्परिक समाज नये जमाने की जरूरतों को पूरा करने के जरिये नैरंतर्य का संधान करता है, और इस सिलसिले में अपनी समृद्ध विविधता को नष्ट किये बिना नयी एकता और नयी पहचान ग्रहण कर लेता है।

कोठारी के बाद 1989 में भीखू पारिख की दो बहुचर्चित रचनाएँ *कोलोनीयलिज्म, ट्रेडिशन एंड रिफॉर्म* : *एन एलालिसिस ऑफ गाँधीज पॉलिटिकल डिस्कोर्स* और *गाँधीज पॉलिटिकल फ़िलॉसफी : अ क्रिटिकल एग्जामिनेशन* सामने आयीं जो गाँधी के विमर्श को उपनिवेशवाद, परम्परा और सुधार के परिप्रेक्ष्य में रख कर देखती थीं। पारिख ने इन रचनाओं में प्रदर्शित किया था कि आधुनिक राष्ट्र के निर्माण के लिए गाँधी किस तरह परम्परा के कुछ पहलुओं की पुनर्रचना करते हैं।

रुडोल्फों, कोठारी और पारिख के बीच कई मतभेद थे। इनके बीच भी बहसें हुईं और समाज-विज्ञान की दुनिया ने उनकी प्रस्थापनाओं पर भी खूब बहसें कीं। दिलचस्प बात यह है कि ये विद्वान किसी भी तरीके से मार्क्सवादी शिविर के नहीं हैं, हालाँकि कोठारी पर मानवेंद्र नाथ राय का गहरा प्रभाव रहा है, और भीखू पारिख ने मार्क्स के विचारधारा-सिद्धांत पर एक विख्यात पुस्तक लिखी है। लेकिन कुल मिला कर तीनों की टेक वही है कि अगर भारतीय समाज को आधुनिकीकरण के रास्ते पर चलना है तो परम्परा के कुछ पहलुओं का इस प्रक्रिया में विनियोग करना होगा। समाज-विज्ञान और मानविकी के क्षेत्र में मार्क्सवादी परम्परा से आये विद्वानों ने साठ से अस्सी के दशकों के बीच हुए इन सूत्रीकरणों को मोटे तौर पर नज़रअंदाज़ ही किया, क्योंकि कहीं न कहीं परम्परा की आधुनिकता का फ़िकर 1953 में निकाले गये मार्क्स के भारत संबंधी निष्कर्षों की आलोचना का पर्याय था। लेकिन साहित्य-अध्ययन की दुनिया में सक्रिय रामविलास शर्मा ने रुडोल्फ, कोठारी या पारिख के सिलसिले से जुड़े बिना (सम्भवतः वे इन तीनों की रचनाओं से परिचित भी नहीं थे) केवल अपने बौद्धिक संसाधनों की मदद से मध्ययुगीन भक्ति काल से लेकर आधुनिक युग में भारतेंदु युग

तक परम्परा और आधुनिकता के इसी रिश्ते को संसाधित किया। वैसे तो आधुनिकता के किसी भी झण्डाबरदार के लिए परम्परा के साथ अपना रिश्ता परिभाषित करना आसान नहीं है। लेकिन देखा गया है कि मार्क्सवाद से अ-प्रभावित रह गया आधुनिक मानस यह रिश्ता अपेक्षाकृत अधिक सहजता से बना लेता है। लेकिन जो मार्क्सवादी हो गया, उसे आधुनिक को दिक्कत होती है। उसके गले में परम्परा छहूँदर की तरह अटक जाती है। इसीलिए समाज-विज्ञान के क्षेत्र में मोटे तौर पर वामपंथी पर ग़ैर-मार्क्सवादी आधुनिकों ने एक खास तरह की सैद्धांतिक कुशलता के साथ परम्परा को आधुनिकता के संयोग में संसाधित किया है, लेकिन इस सैद्धांतिक कौशल का मार्क्सवादी संस्करण केवल रामविलास शर्मा के यहाँ ही मिलता है।

आजादी के फ़ौरन बाद यानी 1948 के बाद से ही हिंदी साहित्य-जगत में खुद को मार्क्सवाद से जुड़े लोगों के बीच परम्परा और आधुनिकता को लेकर भीषण बहस छिड़ गयी थी। 1949 से 1953 के बीच प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव रहे रामविलास शर्मा उस ज़माने में इस बहस के प्रमुख किरदारों में से एक थे। बहस में प्रगतिशील लेखक संघ की तत्कालीन राजनीति, कम्युनिस्ट पार्टी पर हावी बी.टी. रणदिवे की लाइन, पी.सी. जोशी द्वारा की गयी राजनीति और संस्कृति के संबंधों की व्याख्या और ई.एस.एस. नम्बूद्रीपाद का लेखक संघ के प्रति रवैया भी तैर रहा था। अपनी विपुलता और विविधता के कारण हिंदी-मार्क्सवाद के इस प्रकरण पर अलग से विस्तृत शोध की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना मार्क्सवादियों द्वारा किये गये परम्परा के विभिन्न मूल्यांकनों की समीक्षा अधूरी रह जाएगी।

रामविलास शर्मा ने पहले तो मार्क्स की भारत संबंधी रचनाओं को ठंडे बस्ते में डाला और फिर मार्क्सवादी शब्दावली का जम कर प्रयोग करते हुए और बार-बार मार्क्सवादी वांगमय से ही उद्धरण उठाते हुए उन्होंने भारतीय समाज के संदर्भ में परम्परा का रूढ़ि से भेद किया, परम्परा में निहित आधुनिकता के पहलुओं को रेखांकित किया, परम्परा की पुनःरचना की प्रक्रिया को उभारा, इस प्रक्रिया में आधुनिकीकरण के रास्ते की समझ बनाते हुए भारतीय समाज के इतिहास में आधुनिकता के संरचनात्मक आधार की शिनाख्त की। चूँकि उनका उद्यम परम्परा की आधुनिकता का मार्क्सवादी संस्करण है इसलिए वहाँ हर जगह आम जनता, किसान, कारीगर, शिल्पी वगैरह मौजूद हैं। ऋग्वेद से लेकर भक्तिकाल तक हर जगह पुरोहितों को अवांछित तत्त्वों की तरह पेश किया गया है। हर जगह यह दिखाने की कोशिश की गयी है कि भारत अध्यात्मवादी या भाववादी नहीं, बल्कि भौतिकवादी या यथार्थवादी देश है। उन्होंने ऋग्वेद से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक हर जगह भौतिकवाद देख कर दावा किया

कि वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक लिखी गयी महान कविता के केंद्र में देवता नहीं बल्कि मनुष्य है।

देखें : आधुनिकता, भारतीय आधुनिकता, आधुनिकीकरण, रजनी कोठारी, भीखू पारेख, रामविलास शर्मा, व्यापारिक पूँजी, प्राक्-आधुनिकता और भारत-1, 2 और 3.

संदर्भ

1. लॉयड आई. रुडोल्फ, और सुज़ैन हूबर रुडोल्फ (1967), *द मॉडर्निटी ऑफ़ ट्रेडिशन : पॉलिटिकल डिवेलपमेंट इन इण्डिया*, द युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति : कल और आज*, अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-वाणी, दिल्ली.
3. भीखू पारेख (1989), *कोलोनियलिज़म, ट्रेडिशन ऐंड रिफॉर्म : ऐन ऐनालिसिस ऑफ़ गॉंधीज़ पॉलिटिकल डिस्कॉर्स*, सेज, दिल्ली; *गॉंधीज़ पॉलिटिकल फ़िलॉसफी : अ क्रिटिकल एग्जामिनेशन*, मैकमिलन, लंदन.
4. रामविलास शर्मा (1981 और 2011), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली; *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश* किताबघर, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

परिणामवाद

(Pragmatism)

परिणामवाद किसी वक्तव्य, कार्रवाई या आकलन के सहीपन का निर्धारण उसकी व्यावहारिकता के प्रभावानुसार करने की वकालत करता है। बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में अमेरिकी दर्शन परिणामवाद से बहुत प्रभावित था। सी.एस. पर्स, विलियम जेम्स, जॉन डिवी, जॉर्ज हरबर्ट मीड और क्लेयरेंस इरविंग लेविस जैसे दार्शनिकों ने युरोपीय साहित्य और दर्शन से संबंधित अपने प्रशिक्षण का उपयोग करके ज्ञान के सिद्धांत में परिणामवादी सूत्रीकरणों का योगदान किया। उन्होंने देकार्त और इमैनुएल कांट के विमर्श में इस अवधारणा के सूत्र रेखांकित किये। परिणामवाद के प्रमुख सिद्धांतकार के रूप में पर्स का कहना था कि किसी अवधारणा का सम्पूर्ण तात्पर्य उसकी व्यावहारिक निष्पत्तियों में व्यक्त होता है। किसी अवधारणा की वस्तुनिष्ठ सच्चाई उसके द्वारा बताये गये आचरणों या उसके सम्भावित अनुभवों से ज़ाहिर होती है। पर्स के मुताबिक परिणामवाद ज्ञान की खोज को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखता है जिसकी शुरुआत संदेह से होती है लेकिन जिसका समाधान आस्था में होता है। पर्स के



सी.एस. पर्स : ('व्हाट प्रैगमैटिज्म इज?')

दार्शनिक उत्तराधिकारियों ने इस विचार को वस्तुनिष्ठता के प्रत्यक्षवादी आग्रहों से निकालने की कोशिश की। उनका कहना था कि अगर कोई समुदाय किन्हीं विचारों को अपना लेता है तो उसी से उन विचारों की प्रभावोत्पादकता साबित हो जाती है। परिणामवाद का नया संस्करण उन विचारों के आधार पर किये गये कार्यान्वयन के नतीजों का इंतजार करने की जरूरत नहीं समझता।

दरअसल, परिणामवादी मत प्राचीन काल में सक्रिय रहे संशयवादी विमर्श की देन है। संशयवादियों का कहना था कि प्रामाणिक ज्ञान हासिल करना सम्भव ही नहीं है। इसलिए व्यवहार और आचरण की आवश्यकताओं के मद्देनजर जितनी मुमकिन सूचना हो, उसी से काम चलाना चाहिए। इसी आधार पर कांट ने परिणामवादी आस्था की धारणा सूत्रीकृत की थी। उनकी मान्यता थी कि मानवीय प्रयास की सीमाएँ सत्य का अन्वेषण करने में बाधक होती हैं, इसलिए सम्पूर्णता की बजाय हमें अपनी पड़ताल की पर्याप्तता पर जोर देना चाहिए। पर्याप्तता के लिए कांट ने सैद्धांतिक के बजाय व्यावहारिक पैमाने की तजवीज की थी। कांट की इसी सिफारिश के आधार पर परिणामवादियों ने सैद्धांतिक के ऊपर व्यावहारिक को प्राथमिकता देने की अनिवार्यता का पक्ष लिया। परिणामवादी दर्शन को प्रेरित करने में कांट के अलावा शोपेनहॉवर के इस

विचार की भी आधारभूत भूमिका रही है कि बुद्धि हमेशा और हर जगह संकल्प की मातहत में रहती है। इसी आधार पर जॉर्ज ज़िमेल जैसे विचारकों ने व्यावहारिकता के तर्क को सैद्धांतिक तर्क से ऊपर रखना पसंद किया।

ज्ञान के अन्वेषण के संदर्भ में परिणामवादी रवैया कुछ इस तरह से काम करता है : अगर किसी प्रश्न के उपलब्ध उत्तर की सच्चाई साबित करने के लिए एक प्रमाण मौजूद है तो परिणामवादी तब तक उसे पर्याप्त मानते रहेंगे जब तक कोई भिन्न दावा स्पष्ट रूप से सामने न आ जाए। परिणामवादी उपलब्ध प्रमाण के आधार पर कहेंगे कि व्यावहारिक रूप से अभी तक यही सम्भव है, इसलिए इस आधार पर सच्चाई का दावा करने में क्या हर्ज है। इसी के साथ परिणामवादी तर्क मौजूदा संदर्भ को भी प्राथमिकता देता है। उदाहरण के लिए अगर विवाह की आयु-सीमा 19 वर्ष है, मतदान करने की आयु-सीमा 18 वर्ष है और बाज़ार से शराब खरीदने के अधिकार की आयु-सीमा 25 वर्ष है तो परिणामवादी इस विभिन्नता तो प्रश्नांकित करने के लिए तैयार नहीं होंगे। वे यह बहस नहीं चलाएँगे कि क्यों न इन तीनों आयु-सीमाओं को एक कर दिया जाए। वे कहेंगे कि अलग-अलग संदर्भों में ये आयु-सीमाएँ तब तक ठीक समझी जानी चाहिए जब तक इनके सहीपन की समीक्षा करने लायक आवश्यक नये प्रमाण न मिल जाएँ।

पर्स ने परिणामवाद में वैज्ञानिक पद्धति और प्रत्यक्षवादी नज़रिये का समावेश करके उसे वस्तुनिष्ठ तात्पर्य-निरूपण के सिद्धांत का रूप दिया। 'प्रयोग से पैदा होने वाले प्रभावों' और 'प्रेक्षण के आधार पर प्राप्त किये गये परिणामों' को रेखांकित करके पर्स ने अपने परिणामवाद को भाववादी दार्शनिक आग्रहों के मुकाबले खड़ा किया। पर्स एक ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने अपने जीवन में कोई पुस्तक नहीं लिखी, लेकिन उनके निबंध *व्हाट प्रैगमैटिज्म इज?* को इस दर्शन की बुनियादी रचना माना जाता है। विलियम जेम्स उनके दार्शनिक उत्तराधिकारी थे जिनकी रचना *प्रैगमैटिज्म : अ न्यू नेम फ़ॉर सम ओल्ड वेज़ ऑफ़ थिंकिंग* 1907 में प्रकाशित हुई। जेम्स ने परिणामवाद को प्रत्यक्षवाद की छाया से मुक्त करते हुए उसे प्रभावोत्पादकता के निजी और आत्मगत मानकों की रोशनी में परिभाषित किया। परिणामवाद के निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ संस्करण के अधिष्ठाता पर्स का मानना था कि ऐसा करने से उनका सिद्धांत बर्बाद हो जाएगा। जेम्स ने तर्क दिया कि सत्य वह है जो यथार्थ के प्रभाव में व्यक्तियों द्वारा माना जाता है। वह कोई वैज्ञानिक रहस्योद्घाटन नहीं है, बल्कि मानवीय गतिविधियाँ अपनी परिस्थितियों में उसका आविष्कार करती हैं। परिणामवाद के एक अन्य व्याख्याता जॉन डिवी ज्ञान के अन्वेषण को एक ऐसी प्रक्रिया मानते थे जो खुद को संशोधित करती चलती है।

अर्थात् अन्वेषण की प्रक्रिया आगे होने वाले प्रयोगों की रोशनी में विकसित होती जाती है। परिणामवाद को विज्ञान की रोशनी में परिभाषित करने के सवाल पर डिवी भी पर्स से सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि सामाजिक और सामुदायिक प्रक्रियाएँ ऐसे मूल्यों की रोशनी में चलती हैं जिनका विज्ञान से लाजमी ताल्लुक नहीं होता। उन मूल्यों की जड़ें तो साधारण लोगों के मनोभावों में निहित होती हैं। इस तरह आधुनिक परिणामवाद के तीन संस्करण सामने आये। पर्स का परिणामवाद वैज्ञानिक और प्रत्यक्षवादी आग्रहों से भरा हुआ था। जेम्स के परिणामवाद पर निजी और आत्मगत छाप थी। डिवी का परिणामवाद लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों से ओतप्रोत था। हालाँकि परिणामवाद का अधिकतर विकास अमेरिकी दार्शनिकों ने किया, पर युरोप के कई विचारकों ने भी उससे प्रेरणा ग्रहण की। इतालवी दर्शन के दायरे में उसका उपयोग विज्ञान के दर्शन पर काम करने वाले विचारकों द्वारा किया गया। ब्रिटेन के दार्शनिक पर्स और जेम्स की परिणामवादी विरासतों के बीच बँट गये।

समकाली चिंतकों में रिचर्ड रोती को भी परिणामवादी माना जाता है। रोती ने बुद्धिवाद, सांस्कृतिक अस्मिता और राजनीति के सवालों के बारे में तात्त्विकतावाद विरोधी रवैया अख्तियार करने के लिए परिणामवाद का इस्तेमाल किया। रोती ने दलील दी कि हम अपने चिंतन के लिए भाषा के मोहताज हैं, इसलिए हमारा कोई भी यथार्थ भाषा से परे नहीं हो सकता। यथार्थ के अस्तित्व को भाषा के बाहर रेखांकित करने वालों को रोती ने ज्ञान के संदर्भ में निरूपणवादी की संज्ञा दी और खुद को इस निरूपणवाद के विरोध में खड़ा किया।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इन्द्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्याँ-पॉल सार्त्र, जाक देरिदा, जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, नवउदारतावाद, फ्रांसिस बेकन, फ्रेड्रिख नीत्से-1 और 2, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्ताइन, सोरेन आबी कीर्केगार्ड, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. सी.एस. पर्स (1934), 'व्हाट प्रैगमैटिज़म इज़?', *क्लेक्टिड पेपर्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, मैसाचुसेट्स.
2. रिचर्ड रोती (1982), *कांसिक्वेंसिज़ ऑफ़ प्रैगमैटिज़म*, एसेज़,

1972-1980, हारवेस्टर, ब्राइटन.

3. हिलेरी पुटनैम (1995), *प्रैगमैटिज़म : ऐन ओपन क्वेश्चन*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड और केम्ब्रिज, एमए.
4. डब्ल्यू.बी. गैली (1975), *पर्स एंड प्रैगमैटिज़म*, ग्रीनवुड प्रेस, वेस्टपोर्ट, सीटी.

— अभय कुमार दुबे

पश्चिम बंग

(Pashchim Banga)

भारत के पूर्वी भाग में स्थित राज्य पश्चिम बंग की स्थापना 1 नवम्बर, 1956 को हुई थी। इसकी राजधानी कोलकाता है। ममता बनर्जी की सरकार द्वारा नये नामकरण से पहले इसी राज्य को पश्चिम बंगाल के नाम से जाना जाता था। भारत विभाजन की यातना झेलने वाले इस राज्य की राजनीति को स्वतंत्रता के बाद से मुख्य तौर पर चार भागों में बाँट कर समझा जा सकता है : पहला, आजादी के बाद से 1967 तक; दूसरा, 1967 से 1977 तक; तीसरा, 1977 से सन् 2000 तक दौर जब मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में होने वाली वाम और जनवादी मोर्चे की राजनीति के तहत ज्योति बसु राज्य के मुख्यमंत्री रहे; और चौथा, 2000 से वर्तमान राजनीति तक। इस चौथे दौर में राज्य की राजनीति में माकपा को चुनौती मिली और आखिरकार 2010 के विधानसभा चुनावों में लम्बे संघर्ष के बाद ममता बनर्जी के नेतृत्व में तृणमूल कांग्रेस उस पर अपनी जीत दर्ज करने में सफल हो गयी। नब्बे के दशक (या एक अर्थ में 1977 के बाद) की पश्चिम बंगाल की राजनीति में वे मुहावरे हावी नहीं रहे जो देश के अधिकांश भागों में थे। मंदिर और मण्डल की राजनीति ने पश्चिम बंग की राजनीति में किसी तरह का ध्रुवीकरण पैदा नहीं किया। विकासशील समाज अध्ययन पीठ द्वारा किये गये सर्वेक्षणों से यह बात सामने आयी है कि इस दौर में ऊँची जातियों, पिछड़ी जातियों तथा हिंदुओं और मुसलमानों ने वाम-मोर्चे का समर्थन किया। ज्योति बसु के मुख्यमंत्रित्व तक बंगाल में उदाररीकरण की नीतियों का कोई खास असर राज्य में नहीं हुआ। कुछ आलोचक मानते हैं कि इसी कारण पश्चिम बंग देश के अन्य राज्यों से बहुत ज्यादा पिछड़ गया। 2000 के बाद के दौर में, खासतौर पर 2005 के बाद, उद्योगीकरण करने और पूँजी निवेश को बढ़ावा देने की नीतियों ने गरीबों में असंतोष को सघन किया जिसका नतीजा राजनीतिक प्रतिरोध और वाम मोर्चा सरकार द्वारा उसके दमन में निकला।



पश्चिम बंग : वाम मोर्चा बनाम तृण मूल कांग्रेस

परिणामस्वरूप 2011 के चुनावों के बाद वाम-मोर्चे को ऐतिहासिक हार का सामना करना पड़ा। आज तृणमूल कांग्रेस की सरकार भी उन्हीं चुनौतियों का सामना कर रही है जिनसे वाम मोर्चे की सरकार जूझ रही थी।

पश्चिम बंग के उत्तर में नेपाल, भूटान और सिक्किम, पूर्व में असम और बांग्लादेश, पश्चिम में बिहार तथा झाड़खण्ड, तथा दक्षिण में झाड़खण्ड तथा ओडीशा हैं। इसका कुल क्षेत्रफल 88,752 वर्ग किमी है। क्षेत्रफल के हिसाब से यह भारत का तेरहवाँ सबसे बड़ा राज्य है। 2011 की जनगणना के हिसाब से इसकी कुल जनसंख्या 9,13,47,736 है। भारत के चौथे सबसे बड़े राज्य में 2011 की जनगणना के अनुसार साक्षरता दर 77.1 प्रतिशत है। इस लिहाज से भारत में इसका स्थान सोलहवाँ है। पश्चिम बंग की विधायिका एक सदनीय है। यहाँ की विधानसभा में कुल 295 सदस्य होते हैं। यहाँ से लोकसभा के 42 और राज्यसभा के 16 सदस्य चुने जाते हैं। बंगाली और अंग्रेजी यहाँ राजकीय भाषाएँ हैं। यहाँ का उच्च न्यायालय कोलकाता में स्थित है।

पश्चिम बंग में दो प्रमुख प्राकृतिक क्षेत्र हैं : दक्षिण में गंगा का मैदान और उत्तर में उप-हिमालय या हिमालय क्षेत्र। ईसा पूर्व तीसरी सदी में बंगाल का सीमाई इलाक़ा अशोक के साम्राज्य का भाग था। चौथी सदी में यह गुप्त साम्राज्य का

हिस्सा बन गया। तेरहवीं सदी से लेकर अट्ठारहवीं सदी में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना होने तक यहाँ पर बहुत से सुल्तानों और जमींदारों आदि का शासन रहा। 1757 में प्लासी की लड़ाई के बाद ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यहाँ पर अपना वर्चस्व मजबूत किया। बंगाल को भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण का अगुआ माना जाता है। ब्रिटिश काल में साहित्य, कला, धर्म और समाज-सुधार आदि की सबसे पहली शुरुआत बंगाल में ही हुई। भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियों का एक महत्वपूर्ण उद्गम बंगाल ही था। यह भारत के स्वतंत्रता संग्राम का एक मुख्य केंद्र भी रहा।

एक ओर यह उग्र राष्ट्रवादी आंदोलन का गढ़ था, तो दूसरी ओर रवींद्रनाथ ठाकुर ने राष्ट्रवाद की आलोचना बंगाल की धरती पर ही की। औपनिवेशिक दौर में 1905 में साम्प्रदायिक आधार पर बंगाल का विभाजन किया गया। लोगों बंग-भंग के खिलाफ चले ज़बर्दस्त आंदोलन के कारण इसे 1911 में वापस ले लिया गया। इसी वर्ष कोलकाता की बजाय दिल्ली को भारत की राजधानी बनाया गया। लेकिन 1912 में बंगाल से अलग हो कर बिहार और ओडीशा अलग राज्य बने। भारत की आज़ादी के वक्रत द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के आधार पर देश का बँटवारा होने के कारण बंगाल का एक बार फिर विभाजन हुआ। मुसलिम बहुल पूर्वी बंगाल का इलाक़ा पाकिस्तान का भाग बन गया। 1971 की घटनाओं ने इसी पूर्वी पाकिस्तान को अलग सम्प्रभु राष्ट्र बांग्लादेश का रूप दिया। 1955 में कूच विहार रजवाड़े को पश्चिम बंगाल में मिला दिया गया। इसी वर्ष फ्रांसीसियों के क़ब्जे में रहे चंदननगर के इलाक़े को भी बंगाल में मिला दिया गया। इस तरह 1956 में पश्चिम बंगाल अपने वर्तमान स्वरूप में सामने आया।

आज़ादी के बाद पश्चिम बंगाल की राजनीति में कांग्रेस का वर्चस्व रहा। प्रफुल्ल चंद्र घोष राज्य के प्रथम मुख्यमंत्री बने। वे बहुत कम समय तक (15 अगस्त, 1947-14 जनवरी, 1948) राज्य के मुख्यमंत्री रहे। उनके बाद कांग्रेस के ही विधान चंद्र राय मुख्यमंत्री बने। वे 14 जनवरी, 1948 से 1 जुलाई, 1962 तक मुख्यमंत्री रहे। राय मशहूर डॉक्टर और स्वतंत्रता सेनानी थे। उन्होंने अपने मुख्यमंत्रित्व के दौरान बंगाल को विभाजन की त्रासदी से उबारा और पुनर्वास और विकास की कई योजनाएँ बनायीं। भारतीय राजनीति में उनकी भूमिका के लिए उन्हें 1961 में भारत रत्न से भी सम्मानित किया गया। उनकी मृत्यु के बाद कांग्रेस के प्रफुल्ल चंद्र सेन राज्य के मुख्यमंत्री बने। वे पाँच साल मुख्यमंत्री रहे। लेकिन इस समय तक राज्य में कांग्रेस की कमज़ोरी स्पष्ट होने लगी थी। जून, 1966 में कांग्रेस के एक प्रभावशाली नेता अजय मुखर्जी को पार्टी विरोधी गतिविधियों

के कारण पार्टी से बाहर निकाल दिया गया। मुखर्जी ने हुमायूँ कबीर के साथ मिलकर बांग्ला कांग्रेस का गठन किया।

1967 के चुनावों के बाद किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। 15 मार्च, 1967-2 नवम्बर, 1967 तक अजय मुखर्जी के नेतृत्व में यूनाइटेड फ्रंट की सरकार रही। इस सरकार में माकपा भी शामिल थी और इसके नेता ज्योति बसु उप-मुख्यमंत्री और गृहमंत्री थे। इसी दौर में माकपा में हुए विचारधारात्मक विभाजन के परिणामस्वरूप नक्सलबाड़ी आंदोलन शुरू हुआ। राज्य सरकार भूमि सुधार पर कोई स्पष्ट नीति नहीं बना पायी। इसके बाद प्रफुल्ल चंद्र घोष ने प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक एलायंस फ्रंट की सरकार का नेतृत्व किया। घोष की सरकार ज़्यादा समय तक नहीं चल पायी। कुछ समय के लिए राष्ट्रपति शासन लागू रहा और फिर से अजय मुखर्जी के नेतृत्व में यूनाइटेड फ्रंट की सरकार बनी (25 फ़रवरी, 1969-19 मार्च, 1970)। यूनाइटेड फ्रंट की इस सरकार में भी माकपा शामिल थी और ज्योति बसु इस सरकार के उप-मुख्यमंत्री थे।

इसके बाद कुछ समय तक कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबंधन के नेता के रूप में प्रफुल्ल चंद्र घोष राज्य के मुख्यमंत्री रहे (2 अप्रैल, 1971-19 मार्च, 1972)। 1972 में हुए विधानसभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी को सफलता मिली और इंदिरा गांधी ने सिद्धार्थ शंकर राय को मुख्यमंत्री बनवाया। 1967-1977 का दौर इस लिहाज़ से महत्वपूर्ण है कि इसने राज्य में वामपंथी दलों को मज़बूती दी। 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दो भागों (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी) में बँट गयी थी। लेकिन 1977 तक उन्होंने एक साथ गठबंधन कायम कर चुनावी राजनीति करने पर सहमत बना ली। बीच में कुछ समय तक भाकपा ने कांग्रेस का समर्थन किया। लेकिन 1977 तक ये दोनों दल कुछ अन्य वाम रुझान वाले दलों के साथ मिल कर एक वाम मोर्चा गठित करने पर सहमत हो गए।

भूमि सुधार के मसले पर रैडिकल रवैया न अपनाने के कारण 1969 में माकपा से अलग हो कर खुद को क्रांतिकारी और संसदीय रास्ते का विरोधी कहने वालों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) का गठन किया। इस पार्टी और नक्सलबाड़ी आंदोलन का देश के दूसरे भागों में काफ़ी प्रसार हुआ। लेकिन पश्चिम बंगाल में माकपा ने अपनी मज़बूत पकड़ बनाये रखी। 1972 के बाद कांग्रेस और सिद्धार्थ शंकर राय के कुशासन और आपातकाल की दमनकारी नीतियों के कारण माकपा के नेतृत्व वाले वामपंथी गठबंधन ने 1977 के चुनावों में जीत हासिल की।

ज्योति बसु राज्य के मुख्यमंत्री बने और उसके बाद उन्होंने 23 साल तक लगातार मुख्यमंत्री (21 जून, 1977 से 6 नवम्बर, 2000) रहने का अनूठा रिकॉर्ड बनाया। उनके

नेतृत्व में वामपंथी सरकार ने भूमि सुधार का एक प्रभावी कार्यक्रम लागू किया जिसे 'आपरेशन बर्गा' के नाम से जाना गया। इसमें क़ानूनी प्रावधान किया गया कि ज़मीन पर वास्तविक रूप में खेती करने वाले बर्गादारों (बँटाईदारों) को बेदख़ल नहीं किया जा सकता है। हालाँकि इससे कई ज़रूरतमंद भू-स्वामियों के अधिकार भी छिन गये। लेकिन तेज़ी से भूमि सुधार होने के कारण ऑपरेशन बर्गा की तारीफ़ भी की जाती है। यह प्रक्रिया 1978 में शुरू हुई और 1980 के दशक के मध्य तक इसे पूरा कर लिया गया। बसु की सरकार ने राज्य में पंचायती राज व्यवस्था भी स्थापित की जो एक रैडिकल क़दम था, क्योंकि उस समय तक पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा नहीं मिला था। इससे ग्रामीण लोगों और ग़रीब किसानों को पंचायत स्तर पर शासन में भागीदारी का मौक़ा मिला।

ज्योति बसु के नेतृत्व में पश्चिम बंगाल साम्प्रदायिक सद्भाव और सेकुलर मूल्यों की मिसाल के रूप में सामने आया। बसु ने 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या और 1992 में बाबरी मस्जिद गिराये जाने के बाद की स्थितियों में साम्प्रदायिक तत्त्वों पर सख़्ती से नियंत्रण किया। उनके ऊँचे राजनीतिक क़द के कारण ही 1996 में संयुक्त मोर्चे ने उनसे प्रधानमंत्री का पद स्वीकार करने का आग्रह किया, लेकिन उनकी पार्टी माकपा ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। पार्टी के समर्पित कार्यकर्ता के रूप में बसु यह फ़ैसला स्वीकार तो किया, लेकिन बाद में उन्होंने इसे 'ऐतिहासिक भूल' भी क़रार लिया। नवम्बर, 2000 में बसु ने अपने गिरते स्वास्थ्य के कारण मुख्यमंत्री पद से इस्तीफ़ा दे दिया और उनकी जगह माकपा के ही बुद्धदेव भट्टाचार्य राज्य के मुख्यमंत्री बने। कई बार ज्योति बसु की मुख्यमंत्रित्व काल की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसमें राज्य का तेज़ विकास नहीं हुआ और महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि जैसे राज्यों की तुलना में पश्चिम बंगाल बहुत पिछड़ गया।

बुद्धदेव भट्टाचार्य के नेतृत्व में उनकी पार्टी ने दो विधानसभा चुनावों में जीत हासिल की। मुख्यमंत्री बनने के बाद भट्टाचार्य ने बंगाल की अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का सिलसिला चला कर पूँजी निवेश आकर्षित किया। लेकिन उनके आलोचकों ने उद्योगीकरण की ख़ातिर कारपोरेट घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को विशेष औद्योगिक क्षेत्र बनाने के लिए देने हेतु किसानों की ज़मीन के अधिग्रहण की नीति की आलोचना की। बहरहाल, उनकी स्वच्छ छवि के कारण वाम मोर्चे को 2006 के विधानसभा चुनावों में भारी जीत हासिल हुई। भट्टाचार्य के दूसरे शासन-काल में समस्याएँ ज़्यादा स्पष्ट हो कर सामने आने लगीं। सिंगूर, नंदीग्राम और लालगढ़ में होने वाले प्रतिरोध आंदोलनों ने भट्टाचार्य सरकार के ख़िलाफ़ नकारात्मक माहौल तैयार किया और कई वामपंथी एक्टिविस्टों ने भी वाम मोर्चे की आलोचना शुरू कर दी। यह आरोप लगाया गया कि वाम मोर्चे की सरकार ग़रीब

किसानों की बजाय उद्योगपतियों के हितों को वरीयता दे रही है। राज्य के कुछ इलाकों में माओवादी भी सक्रिय हो गये और उन्होंने वाम मोर्चे की नीतियों का विरोध किया।

वाम मोर्चे के खिलाफ के बन रहे नकारात्मक माहौल को ममता बनर्जी के नेतृत्व वाली तृणमूल कांग्रेस ने अपने पक्ष में भुनाया। बनर्जी पहले कांग्रेस में थीं। 1997 में उन्होंने कांग्रेस से अलग होकर अपनी पार्टी बनायी। वे लगातार वाम मोर्चे की सरकार के खिलाफ विरोध की राजनीति करती रहीं। इस लिहाज से पहले उन्होने राज्य में खुद को माकपा के बाद सबसे बड़ी पार्टी के रूप में स्थापित किया। तृणमूल कांग्रेस ने 2009 का लोक सभा चुनाव कांग्रेस के साथ मिलकर लड़ा। इन चुनावों में इस गठबंधन को स्पष्ट जीत मिली। फिर 2011 में हुए चुनावों में 1977 के बाद वाम-मोर्चे को पहली बार हार का मुँह देखना पड़ा। इन चुनावों में 294 सदस्यीय विधानसभा में तृणमूल-कांग्रेस गठबंधन को 226 सीटों पर जीत मिली, जबकि वाम-मोर्चे को सिर्फ 62 सीटों से संतोष करना पड़ा।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. द्वैपायन भट्टाचार्य (2009), 'वेस्ट बंगाल: परमानेंट इंकम्बेंसी ऐंड पॉलिटिकल स्टेबिलिटी', संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स : लोकसभा इलेक्शंस 2004 ऐंड बियांड*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. सुरभि बनर्जी (1997), *ज्योति बसु : द ऑर्थोडॉक्स बायोग्राफी*, वाइकिंग, नयी दिल्ली.
3. पॉल ब्रास (1990), *द पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिंस इंडिपेंडेंस*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— कमल नयन चौबे

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

(Western Poetics)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के उद्भव के साक्ष्य ईसा के आठ शताब्दी पूर्व से मिलने लगते हैं। होमर और हेसिओड जैसे महाकवियों के काव्य में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिंतन के प्रारम्भिक बिंदु मौजूद मिलते हैं। ईसापूर्व यूनान में वक्तृत्वशास्त्रियों का काफ़ी महत्त्व था। समीक्षा की दृष्टि से उस समय की *फ्राग्स* तथा *क्लाउड्स* जैसी कुछ नाट्यकृतियाँ काफ़ी महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। *फ्राग्स* में कविता को लेकर यह प्रश्न किया गया है कि वह उत्कृष्ट क्यों मानी जाती है? काव्य समाज को उपयोगी प्रेरणा तथा मनोरंजन के कारण महत्त्वपूर्ण है या आनंद प्रदान करने तथा मनोरंजन के कारण? इस तरह से काव्यशास्त्रीय चिंतन-सूत्र यूनानी समाज में बहुत पहले मौजूद रहे और विधिवत काव्य-समीक्षा की शुरुआत प्लेटो से हुई।

प्लेटो ने काव्य की सामाजिक उपादेयता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसके अनुसार काव्य को उदात्त मानव-मूल्यों का प्रसार करना चाहिए। देवताओं तथा वीरों की स्तुति एवं प्रशंसा काव्य का मुख्य विषय होना चाहिए। काव्य-चरित्र ऐसे होने चाहिए जिनका अनुकरण करके आदर्श नागरिकता प्राप्त की जा सके। प्लेटो ने जब अपने समय तक प्राप्त काव्य की समीक्षा की तो उन्हें यह देख कर घोर निराशा हुई कि कविता कल्पना पर आधारित है। वह नागरिकों को उत्तमोत्तम प्रेरणा एवं विचार देने के बजाय दुर्बल बनाती है। प्लेटो के विचार से सुव्यवस्थित राज्य में कल्पनाप्रणव कवियों को रखना ठीक नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार के कलाकार झूठी भावात्मकता उभार कर व्यक्ति की तर्क-शक्ति कुंठित कर देते हैं जिससे भले-बुरे का विवेक समाप्त हो जाता है।

प्लेटो के कला और काव्य-संबंधी विवेचन से सौंदर्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय चिंतन में अनुकृति-सिद्धांत का समावेश हुआ। उनके अनुसार काव्य, साहित्य और कला जीवन और प्रकृति का किसी न किसी रूप में अनुकरण है। काव्य को कला का ही एक रूप मानने वाले प्लेटो के अनुसार कवि और कलाकार अनुकरण करते हुए मूल वस्तु या चरित्रों के बिम्बों और दृश्यों की प्रतिमूर्ति उपस्थित करते हैं। वे उस वस्तु या चरित्र की वास्तविकता का ज्ञान नहीं रखते। कलाओं और कविताओं को निम्न कोटि का मानने वाले प्लेटो अनुकरण के दो पक्ष मानते हैं— पहला जिसका अनुकरण किया जाता है और दूसरा अनुकरण का स्वरूप। अगर अनुकरण का तत्त्व मंगलकारी है और अनुकरण पूर्ण एवं उत्तम है तो वह स्वागत योग्य है। परंतु प्रायः अनुकृत्य वस्तु

अमंगलकारी होती है तथा कभी-कभी मंगलकारी वस्तु का अनुकरण अधूरा और अपूर्ण होता है। ऐसी दशा में कला सत्य से परे और हानिकारक होती है।

आगे चलकर प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने कलाओं को अनुकरणात्मक मानते हुए भी उनके महत्त्व को स्वीकार किया। यह प्लेटो के विचारों से भिन्न दृष्टि थी। प्लेटो के विचार जहाँ नैतिक और सामाजिक हैं, वहीं अरस्तू की दृष्टि सौंदर्यवादी है। उन्होंने विरेचन-सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस सिद्धांत के अनुसार गम्भीर कार्यों की सफल और प्रभावशाली अनुकृति वर्णन के रूप में न होकर कार्यों के रूप में होती है जिसमें करुणा और भय उत्पन्न करने वाली घटनाएँ होती हैं जो इन भावों के रेचन द्वारा एक राहत और आनंद प्रदान करती हैं। अरस्तू के विचार से भय और करुणा के दो भाव हमारे भीतर घनीभूत होते रहते हैं। इस प्रकार की त्रासदी को देखने पर कुशल अभिनय द्वारा ये भाव संतुलित और समंजित हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे मन को राहत और आनंद की अनुभूति होती है। कविता या नाटक के पात्रों के बीच इन उत्तेजित वासनाओं और उसके दुष्परिणामों का हमारे शरीर और जीवन से सीधा संबंध न होने के कारण ये वासनाएँ परिष्कृत संवेदनाओं का रूप ग्रहण करती हैं। यही भावों का विरेचन है और कविता का यही वास्तविक प्रभाव और कार्य होता है।

अरस्तू ने कहा कि काव्य कल्पना पर आधारित होता है। वह वास्तविकता का चित्रण नहीं होता बल्कि उसका आधार सम्भावना है। काव्य वास्तव में अनुकरण है किंतु यही उसकी विशिष्टता है। लेकिन कवि वस्तुओं की पुनर्रचना करता है, नक़ल नहीं। अनुकरण के कारण ही काव्य आनंददायक होता है। उससे शिक्षा प्राप्त हो सकती है किंतु उसका उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना नहीं है। इस प्रकार अरस्तू ने प्लेटो के काव्य संबंधी विचारों एवं आरोपों का निराकरण किया।

औदात्य-सिद्धांत : प्लेटो और अरस्तू के बाद यूनानी काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रतिनिधि काव्यशास्त्री लॉजाइनस का नाम भी प्रमुखता से आता है। उन्होंने औदात्य-सिद्धांत का प्रतिपादन किया। लॉजाइनस के इस सिद्धांत की अवधारणा ने साहित्येतर इतिहास, दर्शन और धर्म जैसे विषयों को भी अपने अंतर्गत समावेशित किया। उनके अनुसार औदात्य वाणी का उत्कर्ष, कांति और वैशिष्ट्य है जिसके कारण महान कवियों, इतिहासकारों, दर्शनिकों को प्रतिष्ठा सम्मान और ख्याति प्राप्त हुई है। इसी से उनकी कृतियाँ गरिमामय बनी हैं और उनका प्रभाव युग-युगांतर तक प्रतिष्ठित हो सका है। उन्होंने 'उदात्त' को काव्य का प्रमुख तत्त्व माना। उनके अनुसार विचारों की उदात्तता, भावों की उदात्तता, अलंकारों की उदात्तता, शब्द-विन्यास की उदात्तता

तथा वाक्य-विन्यास की उदात्तता किसी भी काव्य को श्रेष्ठ बनाती है। एक श्रेष्ठ कविता लोगों को आनंद प्रदान करती है तथा दिव्य-लोक में पहुँचाती है। इस सिद्धांत ने पाश्चात्य जगत को काफ़ी प्रभावित किया।

धीरे-धीरे समय के साथ यूनानी समीक्षा कमजोर पड़ने लगी और रोमन समीक्षा का प्रभाव बढ़ा। रोम कला, साहित्य और संस्कृति संबंधी विचार-विमर्श का केंद्र बना। वहाँ के सिसरो तथा वर्जिल जैसे समीक्षकों ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। सिसरो ने अपनी रचना *आर्स पोयटिका* में काव्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। होरेस ने कहा कि काव्य का उद्देश्य मनोरंजन करना, उपयोगी होना तथा प्रदान करना है। काव्य में सामंजस्य और औचित्य का होना आवश्यक है। काव्य में श्रेष्ठ विचारों के सामंजस्य के साथ ही पुरातन एवं नवीन का समन्वय होना चाहिए। काव्य के भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों की उत्कृष्टता के प्रति कवि को सजग तथा प्रयत्नशील होना चाहिए।

मध्ययुगीन समीक्षा : पाँचवीं से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के समय को पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से अंधायुग माना जाता है। इस दौरान चर्च और पादरियों के प्रभाव के कारण काव्य तथा समीक्षा बुरी तरह से प्रभावित हुई। काव्य में उपदेशात्मकता को अधिक महत्त्व दिया गया। इस काल के काव्यशास्त्रियों में दांते प्रमुख हैं। उनका समय 1265 से 1391 के बीच का माना गया है। उन्होंने गरिमामण्डित स्तरीय जन-भाषा को काव्य के लिए सबसे उपयुक्त माना। काव्य में जन-भाषा के आग्रही दांते ने कहा कि प्रतिभा के साथ ही कवि के लिए परिश्रम और अभ्यास भी आवश्यक है। उनके मुताबिक उच्च विचार, राष्ट्र-प्रेम, मानवप्रेम और सौंदर्यप्रेम काव्य को महत्त्व प्रदान करते हैं।

पुनर्जागरण काल : मध्ययुगीन समीक्षा चर्च और पादरियों के प्रभाव में उपदेशात्मक हो गयी थी। रिनैसाँ या पुनर्जागरण काल में सिडनी और बेन जॉनसन ने उसे मुक्त कराया। सिडनी ने कहा कि आदिकाल से अब तक कविता ही ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का माध्यम रही है तथा इसकी उपयोगिता प्रत्येक परिस्थिति में बनी रहेगी। काव्य का उद्देश्य सदाचरण की शिक्षा देने के साथ ही आनंद प्रदान करता है। प्रकृति के अनुकरण का अर्थ नक़ल नहीं बल्कि उसे भव्यतम रूप में प्रस्तुत कर प्रकृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करना है। उसका वास्तविक अर्थ सृजनशीलता है। इसी काल के दूसरे प्रसिद्ध समीक्षक बेन जॉनसन ने भौतिकता के निर्वाह पर बल दिया तथा क्लासिक साहित्य के अनुकरण तथा अनुशीलन को रेखांकित किया।

नव्यशास्त्रवाद : सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के बीच के समय को नव्यशास्त्रवादी समीक्षा के नाम से जाना जाता है। इसकी स्थापनाओं के अनुसार साहित्य में उन्नत

विचारों का गाम्भीर्य होना चाहिए। साहित्य में उपदेशात्मकता, अपेक्षित साहित्य रचना के लिए अभ्यास तथा अध्ययन का महत्त्व होता है। हृदय पक्ष की तुलना में बुद्धि और तर्क का महत्त्व अधिक है। इस समीक्षा के अंतर्गत उत्कृष्ट प्राचीन साहित्य के अध्ययन की अभिरुचि, पुरातन साहित्यिक मानदण्डों के पालन, साहित्य के वाह्य पक्ष की उत्कृष्टता तथा कलात्मक सौष्ठव पर बल दिया गया।

स्वच्छंदतावाद : अट्टारहवीं सदी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में स्वच्छंदतावाद ने जोर पकड़ा और वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली तथा कीट्स जैसे कवियों ने स्वच्छंदतावादी काव्य के जरिये स्वच्छंदतावाद नियामक समीक्षा सिद्धांत की प्रस्थापना दी। इसके तहत काव्य में कवि-कल्पना को महत्त्व प्रदान किया गया। आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति पर अधिक बल तथा काव्य के भाव पक्ष को केंद्र में रखा गया। काव्य का उद्देश्य स्वांतःसुखाय तथा आनंद मानते हुए स्वच्छंदतावादी काव्य में प्रेरणा, प्रतिभा तथा कल्पना को प्रमुखता मिली।

यथार्थवाद : इस समीक्षा सिद्धांत में वस्तुस्थिति तथा तथ्यपरकता का आग्रह था। साहित्य की नवीनता, प्राचीन साहित्यिक मानदण्डों, परम्पराओं तथा रूढ़ियों को नकारने की प्रवृत्ति तथा शिल्पगत नवीनता आदि के आग्रह के कारण यथार्थवाद का काफ़ी विकास हुआ और आगे चलकर इसी के गर्भ से प्रगतिवाद, समाजवादी यथार्थवाद तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का विकास हुआ।

कलावाद : इस के अनुसार कला कला के लिए है। रचना किसी सिद्धि के लिए नहीं होती। नैतिकता, उपदेश या मनोरंजन काव्य का उद्देश्य नहीं है अपितु वह स्वांतःसुखाय है। इसके अंतर्गत अनुभूति की मौलिकता एवं नवीनता पर विशेष जोर रहा।

अभिव्यञ्जनावाद : इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए क्रोचे ने कहा कि काव्य-वस्तु नहीं बल्कि काव्यशैली महत्त्वपूर्ण है। अर्थ की अपेक्षा शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। और काव्य का सौंदर्य विषय पर नहीं बल्कि शैली पर निर्भर है। अभिव्यञ्जना ही काव्य का काव्यतत्त्व है।

प्रतीकवाद : उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बादलेयर, मेलार्मे, बर्लेन, तथा वैलरी आदि ने प्रतीकवाद को बल प्रदान किया। 1886 में कवि ज्याँ मोरेआस ने *फ़िगारो* नामक पत्र में प्रतीकवाद का घोषणापत्र प्रकाशित किया। इस समीक्षा-सम्प्रदाय ने काव्य में शब्द का महत्त्व सर्वोपरि बताया और कहा कि कविता शब्दों से लिखी जाती है, विचारों से नहीं। काव्य सर्वसाधारण के लिए नहीं बल्कि उसे समझ सकने वाले लोगों के लिए होता है। कवि किसी अन्य के प्रति नहीं अपनी आत्मा के प्रति प्रतिबद्ध होता है। शब्द अनुभूतियों और विचारों के प्रतीक होते हैं।

बीसवीं शताब्दी आते-आते समीक्षा की कई प्राणालियाँ विकसित हुईं। आधुनिक युग के इस दौर पर प्रमुख रूप से टी.एस. इलियट तथा आई.ए. रिचर्ड्स ने काफ़ी प्रभाव डाला। टी.एस. इलियट ने परम्परा तथा वैयक्तिक प्रतिभा के समन्वय, निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत, वस्तुनिष्ठ समीकरण के सिद्धांत तथा अतीत की वर्तमानता के सिद्धांत का प्रतिपादन करके तुलनात्मकता के माध्यम से वस्तुनिष्ठ समीक्षा का तानाबाना खड़ा किया। आई.ए. रिचर्ड्स ने आधुनिक ज्ञान के आलोक में मूल्य-सिद्धांत की नयी व्याख्या करते हुए व्यावहारिक समीक्षा का सिद्धांत प्रस्तुत किया। इसी शताब्दी में न्यू क्रिटिसिज्म तथा शिकागो समीक्षा का भी प्रभाव देखा गया। काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्ट्रक्चर व टेक्स्चर के माध्यम से वस्तुनिष्ठ समीक्षा असरदार बनी। शैली वैज्ञानिक समीक्षा-प्रणाली भी इसी दौर की देन है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. भागीरथ मिश्र (1996), *काव्यशास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
2. सभापति मिश्र (2008-2009), *साहित्यशास्त्र और हिंदी आलोचना*, ग्रीनवर्ल्ड पब्लिकेशंस, इलाहाबाद.
3. सत्येंद्र सिंह, प्रकाश उदय और दुर्गा प्रसाद ओझा, *साहित्यशास्त्र और हिंदी आलोचना*, प्रकाशन केंद्र, लखनऊ.

— अजय कुमार पाण्डेय

परम्परा

(Tradition)

अतीत द्वारा वर्तमान को थमायी गयी कोई भी आस्था, विश्वास, चलन, रीति-रिवाज, संस्था, प्रणाली, आचरण-पद्धति, राजनीतिक या सामाजिक व्यवस्था को परम्परा की श्रेणी में माना जाता है। अंग्रेजी के शब्द 'ट्रेडिशन' की व्युत्पत्ति 'ट्रेंडर' से हुई है जिसका अर्थ ही है संचरण या हस्तांतरण। परम्परा अतीत की देन जरूर है, लेकिन अतीत की कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं की जा सकती। इसलिए यह तय करना मुश्किल है कि परम्परा समझे जाने के लिए किसी चीज़ का कितना प्राचीन होना जरूरी है। आम तौर पर परम्पराएँ पीढ़ियों के बीच निरंतरता की द्योतक होती हैं, पर कई बार परम्परा और आधुनिकता के बीच विभाजन रेखा खींचना मुश्किल हो जाता है। मसलन, भारतीय सभ्यता हजारों साल पुरानी होने के नाते निस्संदेह पारम्परिक है। लेकिन क्या उन्नीसवीं सदी में शुरू हुए औद्योगिक पूँजीवाद के शुरुआती रूपों को आधुनिकता के खाने में रखा जाएगा, परम्परा के खाने में रखा जाएगा या फिर परम्परा बनती हुई आधुनिकता की श्रेणी में? क्या सार्विक मताधिकार अपने-आप में एक आधुनिक परम्परा नहीं है?

जरूरी नहीं कि परम्परा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विघ्न ही डाले। उसके कुछ रूप आधुनिकीकरण का रास्ता साफ़ भी करते हैं। आधुनिकता भी अपनी तरफ़ से परम्परा के कई रूपों को क्रानून के जरिये संस्थाबद्ध करती है। यह दोतरफ़ा सिलसिला आधुनिकता के सार्वभौम पहलुओं का स्थानीय परिस्थितियों में अनुवाद करता है। भारतीय परम्परा और भारतीय आधुनिकता की अन्योन्यक्रिया का इस दृष्टि से समृद्ध अध्ययन हुआ है।

समाज-विज्ञान परम्परा और परम्परावाद के बीच में भी फ़र्क मानता है। परम्परावाद नवीनता का विरोधी हो सकता है, जबकि परम्परा अपनी पुनर्व्याख्या के जरिये नये संस्कारों और और नयी परम्पराओं को जन्म देती है। इस दृष्टि से परम्परा को पूरी तरह से स्थिर और अपरिवर्तनीय मानना उचित नहीं होगा। स्थान और समय के अनुसार इसमें तब्दीली आती रहती है। अतीत की पुनर्व्याख्या और पुनःपरिभाषा से परम्परा की समझ बदल जाती है। परम्परा की एकात्म समझ को नकारते हुए समाज वैज्ञानिकों ने परम्परा को विभेदीकृत ढंग से समझने की चेष्टा भी की है। उन्होंने ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक जीवन के विश्लेषण की पद्धति के रूप में लघु परम्परा की धारणा का प्रतिपादन किया है। इसके बरक्स उच्च परम्पराएँ वे मानी जाती हैं जो अभिजनों के बीच विद्यालयों और देवालयों में सचेत रूप से पनपी हों। परम्परा के ये दोनों रूप भिन्न होने के साथ-साथ

परस्पर निर्भर भी हैं।

परम्परा के प्रति मोटे तौर पर तीन तरह के रवैयों की शिनाख़्त की जा सकती है। ये तीनों रुझान परम्परा और परिवर्तन के बीच की चलने वाली द्वंद्वत्मकता की देन हैं : यथास्थितिवाद अर्थात् अतीत की निरंतरता और शुद्धता कायम रखने के लिए स्थापित चले आ रहे तौर-तरीकों और संस्थाओं में किसी भी तरह के परिवर्तन को अस्वीकार करना; अतीत के आधार वर्तमान की रचना अर्थात् अतीत की वापसी का प्रयास और किसी 'स्वर्ण युग' की धारणा से प्रेरित हो कर उसी के आधार पर परिवर्तन का कार्यक्रम तैयार करना; और परिवर्तन को इसलिए स्वीकार करना ताकि परम्परा का संरक्षण किया जा सके। इस तीसरे रवैये के समर्थक 'स्वाभाविक' परिवर्तन के पैरोकार होते हैं और उसे परम्परा के लिए घातक नहीं मानते।

यथास्थितिवाद : एंग्लो-अमेरिकी विचार में जिस प्रवृत्ति को कंज़रवेटिज़म कहते हैं, उसे हिंदी में परम्परानिष्ठता के नाम से भी व्यक्त किया जा सकता है। यथास्थितिवाद परम्परानिष्ठता की ही एक अतिरेकपूर्ण अभिव्यक्ति है। माइकेल ओकशॉट ने 1962 में प्रकाशित अपने निबंध 'रेशनलिज़म इन पॉलिटिक्स' में बताया है कि किस तरह यथास्थितिवाद मानवीय मनोविज्ञान में निहित है। यथास्थितिवादी अनजाने के मुकाबले जाने हुए को, अपरीक्षित की जगह परखे हुए को, रहस्य के मुकाबले तथ्य को, मुमकिन के बजाय मौजूदा को, दूरस्थ के मुकाबले निकटस्थ को, असीमित की अपेक्षा सीमित को, अतिप्रचुर के मुकाबले पर्याप्त को, सम्पूर्ण की अपेक्षा सुविधाजनक को और यूटोपियाई परमानंद के मुकाबले वर्तमान की हँसी को प्राथमिकता देते हैं। यथास्थितिवादी बदलाव को हमेशा अंदेशे की निगाह से देखते हैं। वे वर्तमान को खारिज नहीं करते, पर उसका मूल्यांकन इस निगारह से करते हैं कि वह कितना परिचित है और उन्हें स्थिरता और सुरक्षा के प्रति कितना आश्वस्त कर सकता है। यथास्थितिवाद के प्रवक्ताओं का विचार है कि सामाजिक संस्थाएँ स्थापित नियमों और आचरणों के संदर्भ में ही अच्छी तरह काम कर पाती हैं।

कंज़रवेटिव विचार के विख्यात पैरोकार एडमण्ड बर्क ने फ्रांसीसी क्रांति की आलोचना करते हुए कहा था कि समाज एक अनुबंध पर आधारित है जिसे केवल समाज के मौजूदा सदस्यों द्वारा नहीं किया गया है। समाज दरअसल आज के लोगों, अतीत के लोगों और भविष्य में जन्म लेने वालों के बीच भागीदारी का नाम है। युगों-युगों से जमा की गयी प्रज्ञा ही वर्तमान का मार्गदर्शन कर सकती है।

बर्क के विचारों को आड़े हाथों लेते हुए थॉमस पेन ने जवाब में कहा था कि वे जीवितों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं पर मृतकों के प्राधिकार का बोलबाला चाहते हैं।

अतीत की श्रद्धेय समझी जाने वाली परम्पराओं का अनालोचनात्मक स्वीकार न केवल आधुनिक लोकतांत्रिक उसूलों के खिलाफ़ जाता है, बल्कि प्रत्येक पीढ़ी के उस अधिकार का उल्लंघन भी करता है जिसके मुताबिक़ वह अपना वर्तमान और भविष्य अपनी मर्जी से बनाना चाहती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी 'रीति-रिवाजों की निरंकुशता' के खतरे की तरफ़ इशारा किया था।

अतीत के आधार पर वर्तमान की रचना : परम्परावादी चिंतन का यह रूप अतीतगामी परिवर्तन का पक्षधर है। वह वर्तमान से असंतुष्ट और भविष्य के प्रति अविश्वास का शिकार रहता है। उसके लिए वर्तमान की हर समस्या का हल अतीत में निहित है। यह विचार कभी-कभी इस क्रूर रैडिकल साबित होता है कि उसके गर्भ से क्रांतियाँ भी जन्म लेती हैं। 1979 में ईरान में हुई इस्लामिक क्रांति को अतीतगामी परिवर्तन के ज़बरदस्त उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। अयातुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में हुई इस क्रांति ने न केवल ईरान का रिश्ता उसके निकट अतीत से तोड़ दिया, बल्कि उसके भविष्य को प्राचीन इस्लामिक उसूलों के मुताबिक़ गढ़ने का समग्र कार्यक्रम पेश किया। अतीतगामी परिवर्तन हमेशा दावा करता है कि मानवीय इतिहास के बारे में उसकी दृष्टि पूरी तरह स्पष्ट है। वह इतिहास के एक ख़ास दौर को स्वर्णिम क्रूर दे कर बाक़ी इतिहास को पतन और स्खलन के सिलसिले के रूप में पेश करने की परियोजना चलाता है।

अतीत के एक दौर को आदर्शकृत करने के आधार पर राजनीतिक करने वाले इस तरह के रुझानों के कई उदाहरण मौजूद हैं। उन्नीसवीं सदी के युरोप में कंज़रवेटिज़म ने तक्ररीबन यही भूमिका निभायी थी। फ़्रांस, रूस और जर्मनी में शासन के संवैधानिक और प्रतिनिधित्वमूलक रूपों की स्थापना के बावजूद कंज़रवेटिव रवैया निरंकुश कुलीनतंत्र की तरफ़दारी करता रहा। बीसवीं सदी में इतालवीवाद ने मुसोलिनी के नेतृत्व में रोम की फ़ौजी ताक़त और अनुशासन की विरुदावलियाँ गा कर ही खुद को स्थापित किया था। हिटलर और नाज़ियों ने 'फ़र्स्ट राइश' को आदर्श के रूप में पेश करने की कोशिश की थी। रोनाल्ड रीगन ने यही काम 'अमेरिकी वेस्ट' के दुस्साहसवाद से लेने का प्रयास किया था, और मार्गरेट थैचर का ख़याल था कि वे उन्नीसवीं सदी के मध्य के ब्रिटेन में प्रचलित शिष्टता, स्वयंसेवा और उद्यम को स्वर्णिम अवधि के रूप में चित्रित कर सकती हैं। भारत के राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भी अंग्रेज़ों की गुलामी से उपजी आत्महीनता का मुक़ाबला करने के लिए गुप्त काल को स्वर्णिम अतीत के रूप में पेश किया था। भारतीय राजनीति की हिंदुत्ववादी प्रवृत्तियों पर इतिहास लेखन द्वारा की गयी इस इंजीनियरिंग की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।

परम्परा के संरक्षण के लिए परिवर्तन : आवश्यक नहीं कि परम्परा के पैरोकार हमेशा परिवर्तन का विरोध ही करते

हों या उनकी मंशा केवल प्रतिगामी परिवर्तन का समर्थन करने की हो। उनका एक हिस्सा मानता है कि इतिहास की गति को रोका नहीं जा सकता। परम्परानिष्ठता का यह रूप प्रगतिशील रुझान दिखाते हुए क्रांतिकारी बदलाव के मुक़ाबले सुधारवादी बदलाव पर ज़ोर देता है ताकि ज़्यादा उथल-पुथल न हो और परम्परा के कई रूप सुरक्षित रहें। इस विचार का सूत्रीकरण बर्क के फ़्रांसीसी क्रांति संबंधी लेखन में भी मिलता है। बर्क के अनुसार अगर फ़्रांसीसी राजशाही ने सर्वसत्तावाद को जारी रखने का अड़ियल रवैया न अख़्तियार किया होता तो क्रांतिकारी परिस्थितियाँ ही न बनतीं। इंग्लैण्ड में राजशाही इसीलिए बची रह सकी कि उसने अपने ऊपर आरोपित की जाने वाली संवैधानिक सीमाओं को स्वीकार कर लिया। 1917 में बोलशेविकों को रूसी क्रांति करने का मौक़ा इसीलिए मिल पाया कि ज़ार निकोलस द्वितीय 1905 की क्रांति से कोई सबक सीखने के लिए तैयार नहीं था। पूरी उन्नीसवीं सदी में प्रतिक्रियावादी कंज़रवेटिज़म की साख़ इसी तरह की ज़िदबाज़ी के कारण गिरती रही और बीसवीं सदी में फ़्रांसीसीवाद के साथ जुड़ कर पूरी तरह से ध्वस्त हो गयी।

अमेरिकी कंज़रवेटिज़म अपने युरोपीय बिरादरों के मुक़ाबले परिवर्तन को कहीं कम संदेह से देखता है। कई प्रेक्षकों की मान्यता है कि अमेरिकी राजनीतिक संस्कृति पर प्रगतिकांक्षा और असीमित भविष्य की धारणा का ज़बरदस्त बोलबाला है। इसका एक कारण शायद यह भी है कि अमेरिका के पास कोई सामंती इतिहास नहीं है इसलिए वे स्वर्णिम अतीत की किसी फ़ंतासी से बचे रहते हैं। ब्रिटिश कंज़रवेटिज़म भी सामाजिक-जनवादी सुधारों को स्वीकार करता है। युरोप में 1945 के बाद से ही क्रिश्चियन-डेमॉक्रेटिक पार्टियाँ मुक्त बाज़ार और सामाजिक न्याय के बीच संतुलन तलाशने में लगी हुई हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारगार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्राइवैसी, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एंड्रू हेवुड (2004), 'ट्रेडिशन, प्रोग्रेस ऐंड यूटोपिया', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
2. माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट (1991), *रैशनलिज़म इन पॉलिटिक्स ऐंड अदर एसेज़*, मेथ्युन, लंदन, संशोधित संस्करण.
3. एन. ओसुलीवान (1976), *कंज़रवेटिज़म*, डेंट, लंदन.
4. टी. ब्लैकवेल और जे. सियरबुक (1993), *द रिवोल्ट अगेंस्ट चेंज : टुवर्ड्स अ कंज़र्विंग रैडिकलिज़म*, विंटेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

पण्य

(Commodity)

सभी तरह के समाजों को अपने भौतिक वजूद की गारंटी करने के लिए उत्पादन करना पड़ता है। जब उत्पादन का यह सिलसिला विनिमय या लेन-देन की प्रणाली के जरिये संगठित होता है, तो उस प्रक्रिया के जरिये सामने आये उत्पाद को पण्य की संज्ञा दी जाती है। बाज़ार में खरीदने या बेचने योग्य वस्तुओं और सेवाओं को पण्य या कमोडिटी कहते हैं। इस तरह पण्य एक ऐसी वस्तु (या सेवा) है जो अपने उत्पादक के इस्तेमाल के लिए नहीं बल्कि बाज़ार में धन के बदले लेन-देन या विनिमय के लिए पैदा की जाती है। मार्क्सवाद के तहत पण्य का सिद्धांत वह बुनियादी श्रेणी है जिसके तहत पूँजी का वर्णन और विश्लेषण किया जाता है। पूँजी वह मूल्य है जिसका विस्तार उत्पादन और विनिमय के जरिये होता है। एक पूँजीपति धन की एक निश्चित मात्रा से उत्पादन शुरू करता है। उस धन से श्रम-शक्ति और उत्पादन के साधन खरीदे जाते हैं। नतीजे के तौर पर बने हुए उत्पाद को बाज़ार में लागत मूल्य से अधिक पर बेचा जाता है जिससे अतिरिक्त मूल्य या अधिशेष मूल्य पैदा होता है। इस तरह पूँजी एक ऐसे रूप में उभरती है जिसका वजूद पण्य उत्पादित करने वाली प्रणाली पर निर्भर है। उसके लिए मूल्य का धन के रूप में उभरना भी ज़रूरी है। पूँजी, पण्य, धन, खरीद-फ़रोख़्त और मूल्य की बुनियादी धारणाओं के माध्यम से पण्य के रूप में होने वाले उत्पादन का विश्लेषण किया जा सकता है।

आख़िर पण्य उत्पादित कैसे होता है? इसमें ख़र्च होने वाला श्रम दरअसल सामाजिक श्रम है, लेकिन पण्य उत्पादन की प्रणाली इसके टुकड़े-टुकड़े करके निजी श्रम में बदल देती है। परिणामस्वरूप बने उत्पाद को उसे उत्पादित करने वाला श्रमिक इस्तेमाल नहीं करता, बल्कि विनिमय के जरिये हासिल करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति करता है। पण्य के उत्पादक उसके उत्पादन और अपने जीवन-यापन के लिए आवश्यक साधनों के लिए दूसरे उत्पादकों पर निर्भर करते हैं। लेकिन, इस प्रक्रिया में मज़दूर की जो मेहनत ख़र्च होती है, उसे वह समाज से स्वतंत्र अपने निजी श्रम के रूप में देखता है। वह मानता है कि अपनी निजी ज़रूरतें पूरी करने के लिए वह बाज़ार में उस श्रम का विनिमय कर रहा है। इस तरह पण्य के उत्पादक और अन्य मनुष्यों के बीच एक पेचीदा रिश्ता बनता है जिसमें श्रम के सामाजिक विभाजन की भूमिका होती है। पण्य का उत्पादक बाज़ार की शक्तियों को नियंत्रित नहीं कर सकता। वे इस रिश्ते को निर्वैयक्तिक बनाती चली जाती हैं। पण्य के उत्पादकों को लगने लगता है कि वस्तुओं से भरे इस संसार में वे स्वयं पण्य की भाँति हैं।

सवाल यह है कि पण्य का संबंध किससे है। लोगों से या वस्तुओं से? लोगों के बीच के संबंध और चीज़ों व लोगों के बीच के संबंध का अंतर्विरोध ही पण्य उत्पादन का बुनियादी अंतर्विरोध है। मानवीय श्रम से पैदा होने वाली चीज़ें उन लोगों से स्वतंत्र और उनके क़ाबू के बाहर दिखने लगती हैं जिन्होंने दरअसल उन्हें बनाया है। यह प्रक्रिया पण्य को केंद्र में ले आती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार समाजवाद का ऐतिहासिक लक्ष्य न केवल पूँजीवादी उत्पादन के अंतर्विरोधों का, बल्कि पण्य में निहित उस अंतर्विरोध का समाधान करना भी है जो पूँजीवादी उत्पादन का आधार है।

मार्क्स ने कैपिटल के पहले खण्ड में पहले तो यह दिखाया है कि पण्य-उत्पादन उत्पादकों के बीच का एक सामाजिक संबंध है जिसके तहत श्रम की विभिन्न क्रिस्में, कौशल और मात्राएँ मूल्य के रूप में आपसी बराबरी हासिल करते हैं। फिर मार्क्स ने यह दिखाया है कि इस संबंध को उत्पादक खुद कैसे समझते हैं या आम तौर पर समाज उसे कैसे समझता है। उत्पादकों के लिए यह एक सामाजिक संबंध है जो उनके नहीं बल्कि उनके श्रम के उत्पादों के बीच है। एक दर्जी और बढ़ई के बीच का सामाजिक संबंध एक कोट और मेज़ के बीच के संबंध में बदल जाता है, उस संबंध में जो उन चीज़ों में ख़र्च होने वाले श्रम के आधार पर नहीं बल्कि उनकी विनिमय दर से निर्धारित होता है। इसी जगह मार्क्स यह भी बताते हैं कि पण्यों के बीच का यह संबंध फ़र्जी नहीं होता। इसका वजूद होता है, पर यह उत्पादकों के बीच संबंध को अपने पीछे छिपा लेता है।

पण्य की आवधारणा का इस्तेमाल कार्ल मार्क्स ने एक सुविकसित पण्य उत्पादन प्रणाली से उपजने वाले उत्पादन रूपों के विश्लेषण के लिए किया है। उनका सरोकार ऐसे रूपों से है जो आदिम अर्थों में पण्य नहीं हैं, जैसे श्रम-शक्ति जिसके दाम बाज़ार में मज़दूरी के रूप में मिलते हैं और जो खुद एक पण्य के रूप में सामने आती है, बावजूद इसके कि वह पण्य के रूप में पैदा नहीं की जाती। श्रम एक ऐसा पण्य बन जाता है जिसका मूल्य उसे बनाने में ख़र्च होने वाले श्रम से नहीं तय होता। इस तरह उत्पादन और विनिमय की प्रणाली के तहत उत्पादित पण्य किसी एजेंट की सम्पत्ति होता है जिसे वह एजेंट किसी दूसरे एजेंट के हवाले कर सकता है। मान लीजिये कि एक एजेंट के पास तरह-तरह के पण्यों का मालिकाना हक़ है। वह चाहे तो किसी दूसरे एजेंट से सौदेबाज़ी की प्रक्रिया के तहत पण्यों का आदान-प्रदान कर सकता है। इस तरह किसी उत्पाद की एक निश्चित मात्रा किसी दूसरे उत्पाद की निश्चित मात्रा से विनिमय की जा सकती है।

विनिमय के दौरान पण्य दो तरह के मूल्य का वाहक होता है : पहला है उपयोग-मूल्य अर्थात् वह किसी न किसी

आवश्यकता की पूर्ति करता है, और दूसरा है विनिमय-मूल्य जो आदान-प्रदान के दौरान प्राप्त किया या दिया जाता है। चूँकि पण्यों को उत्पादित करके उनकी एक निश्चित मात्रा को आदान-प्रदान की प्रक्रिया में लाया जाता है, इसलिए एक निश्चित समय में उत्पादित किसी एक समरूप पण्य की मात्रा उसके समरूप मूल्य से जाना जाता है। यह अलग बात है कि वह समरूप मूल्य तरह-तरह के मूल्यों के विविध संग्रह से मिल कर बना होता है। मूल्य के तौर पर पण्य गुणात्मक रूप से समान और मात्रात्मक रूप से भिन्न होते हैं। उपयोग-मूल्य के तौर पर पण्यों के बीच गुणात्मक भिन्नता होती है।

मूल्य का श्रम सिद्धांत मूल्य की इस मात्रा को पण्य-उत्पादन प्रणाली के तहत खर्च किये जाने वाले सामाजिक श्रम के रूप में देखता है। इस श्रम की शिनाख्त ठोस रूप से भी की जा सकती है, जैसे जुलाहे का श्रम जो कपड़ा पैदा करता है। और, इस श्रम की शिनाख्त मूल्य के स्रोत के रूप में अमूर्त रूप से भी की जा सकती है। यह मूल्य उस समय दृश्यमान होता है जब विभिन्न पण्य विनिमय के दौरान एक-दूसरे के सामने आते हैं। तब विनिमय मूल्य पण्य से स्वतंत्र हो कर धन के रूप में दिखाई पड़ता है। धन की जिस मात्रा के बदले किसी पण्य को खरीदा या बेचा जाता है उसे उसके दाम के रूप में समझा जाता है। यहाँ दाम और मूल्य में फ़र्क समझना ज़रूरी है। पण्यों का दाम उनके मूल्य से अलग हो सकता है, क्योंकि उनके मूल्य में उत्पादन के लिए किया गया अमूर्त श्रम भी जुड़ा हुआ है। इस तरह विश्लेषणात्मक रूप से कहा जा सकता है कि एक पण्य उपयोग-मूल्य और मूल्य का द्वंद्वत्मक समागम है। अमूर्त श्रम का सिद्धांत और धन का सिद्धांत, दोनों के ही आधार से पण्य का विश्लेषण किया जाता है।

रिकार्डों और मार्क्स ने पण्य के उत्पादन की लागत के रूप में केवल श्रम को ही देखने का आग्रह किया। रिकार्डों का तर्क था कि उपयोगिता को किसी जिंस के विनिमय-मूल्य की अनिवार्य शर्त के रूप में देखा जाना चाहिए। दुर्लभ मूर्तियों या चित्रों के अपवादों को छोड़ कर रिकार्डों किसी चीज़ की अपेक्षाकृत दुर्लभता को उसके विनिमय-मूल्य का आधार बनाने के लिए तैयार नहीं थे। वे मानते थे कि अन्य सभी चीज़ों के मामले में उन्हें बनाने में किये गये श्रम के आधार पर उनका मूल्य तय किया जाना चाहिए। कौशल और श्रम की सघनता की अहमियत मानने से इनकार करते हुए रिकार्डों का आग्रह था कि जिंसों को बाज़ार में लाने में लगे वक्त का फ़र्क उनके मूल्य पर छह से सात फ़ीसदी तक असर डाल सकता है। इसी वजह से रिकार्डों के मूल्य सिद्धांत को 'श्रम का 93 फ़ीसदी मूल्य सिद्धांत' भी कहा जा सकता है।

मार्क्स ने रिकार्डों के मूल्य सिद्धांत को आधार बनाते हुए अपनी रचना *कैपिटल* के पहले खण्ड में कहा है कि

उपयोग-मूल्य संबंधित पण्य (जिंस या वस्तु) के भौतिक गुणों पर निर्भर होता है जिसकी प्राप्ति उस वस्तु के उपभोग की प्रक्रिया में होती है। मार्क्स के अनुसार मूल्य एक तकनीकी संबंध न हो कर मनुष्यों के बीच का एक सामाजिक संबंध है जो पूँजीवाद के तहत एक खास तरह का भौतिक रूप अख़्तियार करके जिंस के रूप में प्रकट होता है। अर्थात् मूल्य सिर्फ़ एक दिमागी अवधारणा नहीं है, बल्कि पूँजीवादी सामाजिक संबंध उसे भौतिक रूप दे देते हैं।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डों, डॉचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्वाफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. डंकन फ़ोली, 'कमोडिटी', संकलित : टॉम बॉटमोर (सम्पा.) (2001), *अ डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट*, माया ब्लैकवेल, वर्ल्डव्यू पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली।
2. इसाक आई. रूबिन (1928/1972), *एसेज़ ऑन मार्क्सिज़ थियरी ऑफ़ वेल्यू*, ब्लैक ऐंड रेड, डेट्रोइट।
3. कार्ल मार्क्स (1867/1976), *कैपिटल : अ क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* (1867), अनुवाद : बी. फ़ाउकेस, पेंगुइन, हार्मड्सवर्थ, (हिंदी में इस रचना का अनुवाद रामविलास शर्मा ने किया है)।

— अभय कुमार दुबे

पण्य-पूजा

(Commodity Fetishism)

पण्य-पूजा एक मार्क्सवादी सिद्धांत है जिसका जिक्र कार्ल मार्क्स के महाग्रंथ *कैपिटल* के पहले खण्ड में मिलता है। इस सिद्धांत के मुताबिक पूँजीवादी समाज उत्पादन और विनिमय की प्रक्रिया में भौतिक वस्तुओं में कुछ ऐसे लक्षण पैदा कर देता है जो होते तो तत्कालीन सामाजिक संबंधों की बदौलत हैं, पर लगते कुछ इस तरह हैं कि जैसे वे उस वस्तु के नैसर्गिक गुण हों। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में व्याप्त इस सिद्धांत या संलक्षण को मार्क्स ने फ्रेटिशिज़म की संज्ञा दी है और इसके शुरुआती रूप को कमोडिटी फ्रेटिशिज़म या पण्य-पूजा करार दिया है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली पण्य का महत्त्व इतना बढ़ा देती है कि इसके तहत हर सामाजिक संबंध का, मानवीय श्रम और स्वयं मनुष्य का पण्यीकरण (कमोडिफिकेशन) होने लगता है। मार्क्स ने *कैपिटल* के पहले खण्ड में पहले तो यह दिखाया है कि पण्य का उत्पादन उसके उत्पादकों के बीच का एक सामाजिक संबंध है जिसके तहत श्रम की विभिन्न क्रिस्में, कौशल और मात्राएँ मूल्य के रूप में आपसी बराबरी हासिल करते हैं। फिर मार्क्स ने यह दिखाया है कि इस संबंध को उत्पादक खुद कैसे समझते हैं या आम तौर पर समाज उसे कैसे समझता है। उत्पादकों के लिए यह एक सामाजिक संबंध है जो उनके नहीं बल्कि उनके श्रम के उत्पादों के बीच है। एक दर्जी और बढ़ई के बीच का सामाजिक संबंध एक कोट और मेज़ के बीच के संबंध में बदल जाता है, उस संबंध में जो उन चीज़ों में खर्च होने वाले श्रम के आधार पर नहीं बल्कि उनकी विनिमय दर से निर्धारित होता है। इसी जगह मार्क्स यह भी बताते हैं कि पण्यों के बीच का यह संबंध फ़र्जी या काल्पनिक नहीं होता। इसका ठोस वजूद होता है, पर यह उत्पादकों के बीच के सामाजिक संबंध को अपने पीछे छिपा लेता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादक एक-दूसरे के सम्पर्क में बाज़ार के जरिये आते हैं। उस समय उनकी स्थिति अपने-अपने तरह के विशिष्ट सारतत्त्व से सम्पन्न अनूठे मनुष्यों जैसी न हो कर महज़ पण्य-उत्पादकों की होती है। व्यक्ति को व्यक्ति नहीं, बल्कि महज़ वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादक समझा जाने लगता है। श्रम और श्रमिकों के बजाय वस्तुएँ और सेवाएँ यानी पण्य और पूँजी की अहमियत बढ़ जाती है। धन के बदले पण्यों का विनिमय करते समय व्यक्तियों के बीच का सामाजिक संबंध वस्तुओं के बीच संबंध की तरह लगने लगता है। मसलन, किसी वस्तु का दाम (जो कुछ सांस्कृतिक और सामाजिक प्रक्रियाओं के तहत तय होता है) उसके अंतर्निहित गुण की तरह देखा जाने लगता है।

पण्य-पूजा का सिद्धांत बताता है कि पूँजीवाद किस तरह अपने सार को छिपाते हुए अपना पुनरुत्पादन करता चला जाता है। जिस तरह उत्पाद या उसके उत्पादक का गुणात्मक अनूठापन विशुद्ध मात्रा के पीछे छिप जाता है, उसी तरह आत्मगत वस्तुगत और वस्तुगत आत्मगत लगने लगता है। अंततः बाज़ार में होने वाला विनिमय उत्पादन के वास्तविक सार का रूप ग्रहण कर लेता है। इसके प्रभाव में मनुष्य खुद को उत्पादक समझने के बजाय उपभोक्ता समझने की भ्रांत धारणा का शिकार हो जाता है। परिणामस्वरूप वह विनिमय के दौरान पैदा होने वाले अधिशेष मूल्य और उसके माध्यम से होने वाले शोषण के यथार्थ से वाकिफ़ नहीं हो पाता।

मार्क्स ने पण्य-पूजा के लिए धर्म का उदाहरण भी दिया है कि किस तरह लोग धर्म में (या मूर्तिपूजा में) एक तरह की काल्पनिक सत्ता आरोपित कर लेते हैं जिसके कारण धर्म का यथार्थ छिप जाता है। जिस तरह धर्म के जरिये ईश्वर या देवता अपने ही रचयिता मनुष्य के साथ अविभाज्य रिश्ते में जुड़ जाते हैं, उसी तरह पण्यों के उत्पादन के साथ पण्य-पूजा अविभाज्य रूप से संबंधित है।

दूसरी तरफ़, मार्क्स के अनुसार वस्तुओं में पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा पैदा किये गये गुण काल्पनिक न हो कर वास्तविक होते हैं। वे सामाजिक गुण हैं और उनकी सत्ता वास्तविक होती है। मनुष्य उन्हें नियंत्रित कर पाने में असमर्थ है। वे अपना बोलबाला मनुष्य पर स्थापित कर ही लेते हैं। इन गुणों का सामाजिक सार तुरंत नहीं दिखाई देता और ऐसा लगता है कि ये उस वस्तु की नैसर्गिक प्रकृति की देन हैं। सैद्धांतिक विश्लेषण के जरिये ही इन गुणों के सामाजिक सार का उद्घाटन हो सकता है। पण्य-पूजा का सिद्धांत और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मूल्य सिद्धांत का आपस में अनिवार्य संबंध है। समाज कैसा भी हो, किसी भी युग का हो, मानव हमेशा से श्रम करता रहा है। पर केवल पूँजीवादी समाज में ही यह श्रम अपने ही उत्पादों की वस्तुनिष्ठ सम्पत्ति की तरह व्यक्त होता है जिसे हम उस उत्पाद के मूल्य की तरह देखते हैं। दूसरे तरह की अर्थव्यवस्थाओं में श्रम की शिनाख्त एक सामाजिक प्रक्रिया की तरह की जा सकती थी। उसे किसी अधिकारी या किसी अनुबंध द्वारा स्पष्ट रूप से नियंत्रित या समन्वित होते हुए देखा जा सकता था। इसके विपरीत पूँजीवाद में पण्यों के उत्पादक व्यक्तिगत रूप से श्रम करते हैं और उनके बीच होने वाली समन्वय उनकी पीठ के पीछे बाज़ार की शक्तियों द्वारा होता है। उन्हें श्रम विभाजन की विस्तृत प्रणाली के तहत काम करना पड़ता है। इस श्रम का सामाजिक चरित्र अप्रत्यक्ष रूप से पण्यों के मूल्य के रूप में दिखाई पड़ता है। वस्तु की सामाजिक खूबियों और उनके भौतिक आकार-प्रकार में घालमेल हो जाता है।

इसकी एक मिसाल है सोना, जिसे मूल्य का सर्वोत्कृष्ट मानक समझा जाता रहा है, और कई तरह से

उसका क्रीमतीपन आज भी स्वीकारा जाता है। जबकि, असल में सोने के लिए सहज-स्वाभाविक समझा जाने वाला उसका यह क्रीमतीपन सामाजिक है। पण्य-पूजा (फ्रेटिशिज़्म) का प्राथमिक रूप है। यही सिद्धांत पूँजी के फ्रेटिशिज़्म का भी पता देता है। पूँजी का दर्जा, जो मुख्यतः सामाजिक है, उन आर्थिक संबंधों को छिपा लेता है जो उसके उत्पादन के लिए ज़िम्मेदार हैं। पूँजी का यह दर्जा उसकी सत्ता के रूप में सामाजिक श्रम की तमाम उत्पादक सम्भावनाओं का श्रेय उसी को दिलवा देता है। यहाँ तक कि पूँजी को ही मुनाफ़े का स्रोत समझ लिया जाता है, जबकि असल में मुनाफ़े का स्रोत होता है अधिशेष मूल्य। दरअसल, पूँजी इतनी ताक़तवर और स्वयं का पुनरुत्पादन करने वाली ताक़त के रूप में उभरती है कि एक स्थिति में बिना किसी श्रम के वह ब्याज के रूप में खुद को उत्पादित करती चली जाती है। पण्य-पूजा के सिद्धांत के आधार पर पश्चिमी मार्क्सवाद ने विचारधारा के सिद्धांत का विकास किया है जिसमें मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धांत के महारथी ग्योर्गी लूकाच और फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों की उल्लेखनीय भूमिका रही है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लागे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिडाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजनशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्नाफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोपीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. जे. बर्क और एस. मूर (1979), 'रीफ़िक्शन ऐंड कमोडिटी फ्रेटिशिज़्म रिविज़िटेड', *क़नाडियन ज़रनल ऑफ़ पॉलिटिकल ऐंड सोशल थियरी*, खण्ड 3, अंक 1.
2. टी. क्रेवर (1975), 'मार्क्सिज़्म कमोडिटी फ्रेटिशिज़्म', *इनक्वारी*, खण्ड 18, अंक 1.
3. टी. डैट (1996), 'फ्रेटिशिज़्म ऐंड सोशल वेल्यू ऑफ़ ऑब्जेक्ट्स', *सोसियोलॉजिकल रिव्यू*, अंक 44, अंक 3.
4. कार्ल मार्क्स (1867/1976), *कैपिटल : अ क्रिटिक ऑफ़*

पॉलिटिकल इकॉनॉमी, अनुवाद : बी. फाउकेस, पेंगुइन, हार्मड्सवर्थ (हिंदी में इस रचना का अनुवाद रामविलास शर्मा ने किया है).

— अभय कुमार दुबे

पृथकतावाद

(Secessionism)

पृथकतावाद या सेसेशनिज़्म लैटिन भाषा के शब्द सेसेशियो से बना है। इसका मतलब है किसी संगठन, किसी संघ या किसी राज्य से अलग होने की माँग करना और उसके लिए आंदोलन चलाना। यह आंदोलन शांतिपूर्ण भी हो सकता है और हथियारबंद भी। आम तौर पर पृथकतावाद के ज़रिये किसी स्थापित राजनीतिक प्राधिकार को चुनौती दी जाती है। दुनिया के अनगिनत देश, खासकर बहुजातीय राज्य, पृथकतावादी राजनीति के दौरों से गुज़रते रहे हैं। पृथकतावाद के ज़रिये पुराने देशों का ख़ात्मा और नये देशों का जन्म होता रहा है। समाज वैज्ञानिकों और राजनेताओं के बीच किसी राष्ट्र से पृथक होने के अधिकार को लेकर काफ़ी बहस रही है। पृथक होने का सीधा संबंध आत्म-निर्णय के अधिकार के आधार पर किसी भू-क्षेत्र पर दावेदारी से है। नब्बे के दशक में सोवियत संघ और युगोस्लाविया के विघटन की रोशनी में पृथकतावादी राजनीति पर नये सिरे से विचार की शुरुआत हुई है। आम तौर पर पृथकतावाद का ताल्लुक अपनी अलग पहचान सुरक्षित रखने के लिए व्याकुल अल्पसंख्यक समूहों की राजनीति से जोड़ा जाता है। लेकिन ज़रूरी नहीं कि हर बार ऐसा ही हो। बहुसंख्यक लोग भी अलगाववाद की माँग करते हैं। स्वाभाविक तौर पर उनकी दावेदारी राज्य के ज़्यादा बड़े हिस्से पर होती है। पृथकतावादी आंदोलन खुद को राजनीतिक मंच पर कई तरह के नामों से पेश करते हैं। अगर वे खुद को स्वायत्तता या अधिकारों के विकेंद्रीकरण का आंदोलन कह रहे हैं तो समझा जा सकता है कि या तो उनकी गोलबंदी शुरुआती दौर में है, या फ़िलहाल उनका नरमदली हिस्सा आंदोलन पर हावी है और खुल कर अलगाववाद का पक्ष लेने वाला गरमदली हिस्सा मौक़े का इंतज़ार कर रहा है।

उदारतावादी राजनीतिक सिद्धांत के दायरे में पृथक होने के अधिकार के पाँच औचित्य गिनाये गये हैं : पूँजीवादी अराजकतावाद के तहत निजी स्तर पर राजनीतिक संगठन बना कर समान विचार के लोगों के साथ अपने मन-माफ़िक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना हेतु अलग होने का व्यक्तिगत अधिकार, आत्म-निर्णय के अधिकार के मुताबिक

किसी मौजूदा राजनीतिक समुदाय से अलग हो कर पृथक राजनीतिक समुदाय बनाने का लोकतांत्रिक अधिकार, किसी भी मौजूदा समुदाय द्वारा अपने सदस्यों की निर्णयकारी क्षमताओं को बढ़ाने के मकसद से अलग होने का अधिकार, अपनी संस्कृति और विशिष्ट राष्ट्रीय पहचान को आधार बना कर किसी अल्पसंख्यक समूह द्वारा स्वतंत्र और सम्प्रभु राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से अलग होने का अधिकार, और किसी बहुसंख्यक संस्कृति से पीड़ित अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा पृथक राष्ट्र की स्थापना का अधिकार।

एलन बुकानन ने सीमित परिस्थितियों में पृथक होने के अधिकार की वकालत करते हुए उसके खिलाफ जा सकने वाले आठ तर्कों को इस प्रकार गिनाया है : पृथकतावादी जिस भू-क्षेत्र को अधिगृहीत करके अपना घोषित करने जा रहे हों उसमें पहले से रहने वाले लोगों के अधिकारों की रक्षा का आग्रह, अगर अलग होने वाले भू-क्षेत्र की वजह से बाक़ी राज्य को अपनी प्रतिरक्षा करना नामुमकिन लगने लगा हो, बहुमत आधारित शासन का यह आग्रह कि अल्पमत को असहमत रहते हुए भी उसके निर्णयों का सम्मान करना चाहिए, अराजकता का डर कि अगर इसी तरह भू-क्षेत्र टूट-टूट कर अलग होते रहे तो अंत में क्या बचेगा, और समतामूलक न्याय का तर्क कि किसी राज्य के धनी और खुशहाल हिस्सों को उसके दरिद्र और वंचित हिस्सों से अलग होने का अधिकार नहीं दिया जा सकता।

राजनीतिक प्राधिकार को चुनौतियाँ कई तरह से मिलती हैं। राजनीतिक क्रांतिकारी पूरे संविधान और व्यवस्था को ही उखाड़ फेंकना चाहते हैं। उनके पास अपनी नयी व्यवस्था बनाने की योजना होती है। लेकिन, पृथकतावादी न तो राज्य के प्राधिकार को समूल नष्ट करने की कोशिश करता है और न ही उसमें कोई बुनियादी परिवर्तन करने का प्रस्ताव करता है। उसका सरोकार केवल अपने समूह, संगठन या अपनी दावेदारी वाले भू-क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। पृथकतावादी ऐसे किसी धार्मिक अथवा जातीय समूह की तरह भी नहीं होते जो किसी राज्य की सीमा को छोड़ कर कहीं और चले जाने की कोशिश के ज़रिये उसके प्राधिकार को चुनौती देते हैं। पृथकतावादी तो राज्य की सीमा छोड़ कर जाने के बजाय उसकी सीमाओं की रूपरेखा बदलने के फेर में रहते हैं।

पृथकतावाद के पक्ष में सबसे प्रभावशाली तर्क इस आधार पर दिया जाता है कि हर तरह के जन-गणों को अपना अलग राज्य बनाने का हक़ है, और वे दावा कर सकते हैं कि राज्य की सांस्कृतिक और राजनीतिक सीमाओं का चरित्र एक सा होना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र महासभा का प्रस्ताव संख्या 1514 साफ़ तौर पर आत्म-निर्णय के राष्ट्रवादी उसूल की

ताईद करता है। चूँकि आधुनिक राष्ट्र-राज्य व्यावहारिक तौर पर जातीय बहुलता से बनी संरचना है, इसलिए आत्म-निर्णय का यह अधिकार अलगाव के अधिकार में बदल जाता है।

पृथक होने का दूसरा प्रभावशाली औचित्य तब पैदा होता है जब कोई समूह अतीत में अपने साथ हुए अन्याय का परिष्कार करने के लिए अलग होने की माँग करता है। नब्बे के दशक की शुरुआत में बाल्टिक गणराज्यों के पृथकतावादी आंदोलन इसी तर्क पर आधारित थे। कई क्षेत्रों का दावा था कि पहले कभी उन्हें ज़बरन एक राज्य में मिला दिया गया था इसलिए अब उन्हें अलग होने और अपना पृथक भू-क्षेत्र क़ायम करने का मौक़ा मिलना चाहिए।

पृथक होने का तीसरा और मज़बूत तर्क तब बनता है जब कोई समूह आत्मरक्षा के लिए अलग होने की कोशिश करता नज़र आता है। किसी राज्य की सीमा में अगर बहुसंख्यक समुदाय किसी अन्य समुदाय के खिलाफ़ जाति-संहारी नीतियाँ अपना रहा है तो उसे पृथकतावाद के ज़रिये अपने अस्तित्व की हिफ़ाज़त करने का पूरा हक़ है।

इन तमाम औचित्यों के बावजूद पृथक होने के अधिकार के साथ सबसे बड़ी व्यावहारिक दिक्कत यह है कि उसका सैद्धांतिक समर्थन करने वाले उसी समय तक उसके पक्ष में रह पाते हैं जब तक तक मसला किसी दूसरे देश में चल रहे पृथकतावादी आंदोलन तक सीमित होता है। अपने देश में चल रहे पृथकतावादी आंदोलन का समर्थन केवल एक बेहद कड़ी विचारधारात्मक मुद्रा के तहत ही किया जा सकता है। सोवियत संघ के बिखराव, युगोस्लाविया के हिंसक विखण्डन और कई बहुजातीय राज्यों में पृथकतावाद की माँगों के ज़ोर पकड़ने के बाद अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर इस प्रश्न के इर्द-गिर्द आम सहमति बनना और भी मुश्किल हो गया है।

भारत में पृथकतावादी आंदोलन : भारतीय संविधान अपने राज्यों को संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं देता। नगालैण्ड और सिक्किम में चले पृथकतावादी आंदोलनों को फ़ौजी कार्रवाई के ज़रिए दबाया जा चुका है, लेकिन इन राज्यों में पृथकतावादी भावनाएँ आज भी पायी जा सकती हैं। अलगाववादी राजनीति का असर मिज़ोरम में भी है, बावजूद इसके कि अस्सी के दशक में मिज़ो नेता लाल डेंगा के साथ तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने ऐतिहासिक समझौता करके इस आंदोलन के तक्ररीबन समाप्त कर दिया था। पंजाब के अलगाववादी ख़ालिस्तानी आंदोलन ने अस्सी के दशक में पूरे देश को हिला दिया था। भारतीय राजनीति में आतंकवाद की परिघटना की शुरुआत यहीं से हुई। सिक्ख अलगाववाद को फ़ौज-पुलिस की कार्रवाई और राजनीतिक समझौते की मिली-जुली रणनीति के तहत ख़त्म बेअसर

किया जा सका। इस सिलसिले में कश्मीर का पृथकतावादी आंदोलन भी उल्लेखनीय है जिसका नेतृत्व पहले जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रंट और अब हुर्रियत कांफ्रेंस के हाथ में है। देश के कम से नौ राज्य ऐसे हैं जहाँ अलगाववादी गतिविधियाँ किसी न किसी रूप या किसी न किसी स्तर पर चलती रहती हैं।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. क्रिस्टोफर हीथ वेलमैन (2005), *अ थियरी ऑफ सेसेशन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 2005
2. डेविड गॉर्डन, (1998) *सेसेशन, स्टेट ऐंड लिबर्टी*, ट्रांजेक्शन पब्लिशर्स, 1998
3. एलन बुकानन (1991), *सेसेशन : द मॉरलिटी ऑफ पॉलिटिकल डायवर्स फ्रॉम फोर्ट सुम्टर टु लिथुआनिया ऐंड कूबेक*, वेस्टव्यू प्रेस, 1991
4. लियोपोल्ड कोहर (1957), *द ब्रेकडाउन ऑफ नेशंस*, रॉटलेज ऐंड कीगन पॉल, 1957

— अभय कुमार दुबे

पाणिनि और अष्टाध्यायी

(Panini aur Ashatadhyayi)

पाणिनि संस्कृत के सबसे बड़े वैयाकरण थे। कोई ढाई हजार पहले उनके ग्रंथ *अष्टाध्यायी* ने संस्कृत भाषा को व्याकरणसम्मत रूप दिया। लेकिन *अष्टाध्यायी* सिर्फ एक व्याकरण-ग्रंथ भर न होकर अपने समय के भूगोल, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा, राजनीतिक जीवन, दार्शनिक-चिंतन, खान-पान, रहन-सहन, लोकजीवन और तत्कालीन भारतीय समाज का विश्वसनीय व तथ्यपरक ऐतिहासिक दस्तावेज भी है। पाणिनि के बाद जितने आचार्य हुए वे सभी *अष्टाध्यायी* की ही आलोचना-प्रत्यालोचना, टीका-टिप्पणी करते रहे। आज भी जब राजभाषा हिंदी के लिए पारिभाषिक

शब्दावली बनाने की बात उठती है, तो *अष्टाध्यायी* पर ही दृष्टि जाती है। पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* को आठ अध्यायों में बाँटा। प्रत्येक अध्याय के चार पाद हैं और प्रत्येक पाद में कई सूत्र हैं। सभी सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्र है। पूरी पुस्तक 14 सूत्रों (अइउण्, ऋलृक, एओड़, ऐऔच, हयवरद, लण, त्रमडगनेम्, झमञ् धढभष, जबगडह्यु, खफछेठथचटतव्, कपय्, शेषस्, हल्) पर, जिन्हें महेश्वर-सूत्र कहा जाता है, आधारित है। *अष्टाध्यायी* के अलावा पाणिनि की तीन और पुस्तकें *धातुपाठ*, *गणपाठ* और *उणादिसूत्र* भी बतायी जाती हैं। *धातुपाठ* में धातुओं की सूची है। संस्कृत के सभी शब्दों को इन्हीं कुछ धातुओं पर आधारित माना गया है। *गणपाठ* के कुछ अंश को ही पाणिनि रचित माना जाता है। तीसरे ग्रंथ *उणादिसूत्र* को कुछ विद्वान शकटायन की रचना मानते हैं, किंतु इसके पारिभाषिक शब्दों (उदात्त, उपधा, लोप) को देखते हुए यह रचना पाणिनि की ही लगती है। वैसे इसके विरुद्ध प्रमाण भी काफ़ी मिले हैं। इसलिए इस संबंध में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। जो भी हो, पाणिनि को अमर रखने के लिए उनकी एक ही रचना *अष्टाध्यायी* पर्याप्त है।

पाणिनि के व्याकरण-सिद्धांतों से आधुनिक भाषाशास्त्र ने काफ़ी-कुछ लिया है। उन्नीसवीं सदी के युरोप में फ्रेंच बॉप उनके पहले अध्येता थे। इसके बाद फ़र्दिनैंड द सॅस्यूर, लियोनार्ड ब्लूमफ़ील्ड और रोमन जैकबसन जैसे भाषाशास्त्रियों ने पाणिनि और भर्तृहरि द्वारा प्रवर्तित सिद्धांतों के युरोपीय भाषाओं पर प्रभाव को रेखांकित किया। यह परम्परा नोआम चोम्स्की की 1957 तक की रचनाओं तक में देखी जा सकती है। समझा जाता है कि 1894 में सॅस्यूर ने पाणिनि और उनके बाद भर्तृहरि द्वारा विकसित किये गये स्फोट सिद्धांत का प्रयोग करके ही साइन थियरी का प्रवर्तन किया था। 1927 में अमेरिकी स्ट्रक्चरलिज्म के संस्थापक ब्लूमफ़ील्ड ने 'ऑन सम रूल्स ऑफ पाणिनि' शीर्षक से एक शोध आलेख लिखा था।

पाणिनि का जन्म पश्चिमोत्तर भारत में स्थित गांधार के शालातुर यानी आज के लहुर गाँव में हुआ था। शालातुर गाँव में जन्म लेने की वजह से उनका एक और नाम शालातुरीय भी पड़ गया। पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* में यह उल्लेख भी किया है। इसी तरह से पाणिनि के कुछ अन्य नाम आहिक, शालांकिक तथा दाक्षीपुत्र आदि भी मिलते हैं। दरअसल, पाणिनि के गुरु का नाम उपवर्ष, पिता का नाम पणिन और माता का नाम दाक्षी था। एक अनुमान के अनुसार कुछ लोग उन्हें पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहने वाली दक्ष जाति का मानते हैं। एक दूसरी मान्यता यह भी है कि उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं आता था। एक दिन अपनी अकुशाग्रता से दुःखी होकर वे तपस्या करने चले गये और शंकर के आशीर्वाद से वैयाकरण बन

सके। पाणिनि के जीवन-काल को लेकर कोई मतैक्य नहीं है। पीटरसन आदि कुछ विद्वान सुभाषितावली तथा कुछ अन्य ग्रंथों के आधार पर उनका समय ईसा के आरम्भिक वर्षों के समीप मानते हैं। मैक्समूलर तथा वेबर उन्हें ईसापूर्व 350 का मानते हैं। उन्होंने इसका प्रमाण यह दिया है कि पाणिनि के यहाँ यवन शब्द आता है जिसकी जानकारी सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों को हुई होगी। भंडारकर और गोल्डस्कर ने इनका समय 500 ईसापूर्व से भी पहले निश्चित किया है। सत्यव्रत आदि कुछ विद्वानों ने उनका समय 2400 ईसापूर्व माना है। और डॉ. बेलवेकर 700 ईसापूर्व के आस-पास मानते हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल ने उनके जीवन-काल को 5वीं सदी ईसापूर्व के मध्य माना है। यही गणना सबसे तर्कसंगत भी लगती है। अग्रवाल ने पाणिनि कृत अष्टाध्यायी के सूत्रों में वर्णित भारतीय सभ्यता के बिखरे सूत्रों को इकट्ठा कर उन्होंने इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि (1941) की रचना की। इस शोध ने पाणिनिकालीन समाज की जिन मान्यताओं को रेखांकित किया उसने काल-निर्धारण की नयी परिपाटी अपनाने के लिए भारतविदों को प्रेरित किया।

हालाँकि पाणिनि को संस्कृत का पहला वैयाकरण माना जाता है लेकिन यह भी एक तथ्य है कि उनके पहले आपिशलि, काशकृत्स्न और इंद्र आदि वैयाकरणों का नाम भी आता है। दरअसल, पाणिनि ने प्रत्यय, अव्ययीभाव, बहुब्रीहि, कृतु तद्धित, प्रथमा, द्वितीया, षष्ठी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बिना अर्थ बतलाये ही किया है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय तक भाषा इतनी विकसित हो चुकी थी कि लोग इन शब्दों को समझाने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे। एक दूसरा सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाणिनि इतने उच्च कोटि के व्याकरण की रचना ही नहीं कर पाते यदि उनके पीछे कोई परम्परा नहीं होती। इसलिए आपिशलि तथा काशकृत्स्न पाणिनि के पूर्व व्याकरण-सम्प्रदाय के जनक के तौर पर देखे जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता में इंद्र नाम के एक ऋषि का उल्लेख प्रथम वैयाकरण के रूप में मिलता है किंतु सारे तथ्यों पर विचार करने के बाद निष्कर्ष यही निकलता है कि पाणिनि के समय तक कोई प्रसिद्ध व उल्लेखनीय वैयाकरण नहीं हो पाया था।

पाणिनि ने अपने पूर्व के वैयाकरणों को पढ़ कर और उनके परस्पर भेदों को देख कर उन्हें व्याकरण संगत करने का उद्यम किया। इसके लिए उन्होंने वैदिक संहिताओं, शाखाओं, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि का विस्तृत अध्ययन करके अष्टाध्यायी के लिए आधार-सामग्री जुटायी। इसके बाद शाकटायन, शाकल्य, भारद्वाज, गाग्य, सेनक, आपिशलि, गालव और स्फोटायन आदि आचार्यों के जमाने के प्रचलित निरुक्त और व्याकरणों का अध्ययन व संग्रह किया ताकि उनका यथासम्भव प्रयोग किया जा सके।

शाकटायन का निश्चित मत था कि सभी संज्ञा शब्द धातुओं से बनते हैं। पाणिनि ने उनके इस मत को स्वीकार किया किंतु उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कहा कि ऐसे बहुत सारे शब्द हैं जो लोक की बोलचाल में घुलमिल गये हैं और जो धातु प्रत्यय से पकड़ में नहीं आ सकते हैं। पाणिनि ने लोक का प्रत्यक्ष निरीक्षण किया और समाज के बहुआयामी जीवन से शब्दों का संग्रह कर उनका वर्गीकरण कर सूची बनायी। उन्होंने एक सूची अष्टाध्यायी से अलग धातुपाठ की तैयार की जिसमें कुल 1943 धातुएँ हैं। धातुपाठ में दो प्रकार की धातुएँ हैं— पहली, जो पाणिनि के पहले प्रयुक्त हो चुकी थीं और दूसरी वे जो लोगों की बोलचाल में मिली थीं। दूसरी सूची में वेदों के अनेक आचार्य शामिल थे। किस आचार्य के नाम से कौन-सा चरण प्रसिद्ध था, उसमें पढ़ने वाले छात्र किस नाम से प्रसिद्ध थे और उन छंद या शाखाओं के क्या नाम थे— उन सबकी निष्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रत्यय लगा कर पाणिनि ने दी है। जैसे एक आचार्य थे तित्तिरि। उनका चरण तैत्तिरीय कहा जाता था और उस पाठशाला के छात्र एवं वहाँ की शाखा या संहिता तैत्तिरीय कहलाती थी। पाणिनि ने तीसरी सूची गोत्रों की बनायी जिसमें उन्होंने वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं के परिवार या कुटुम्ब के आर्ष और लौकिक गोत्र दर्ज किये। छोटे-मोटे पारिवारिक नाम या अल्लों को उन्होंने गोत्रावयव कहा है। एक गोत्र या परिवार में होने वाले दादा, बूढ़े एवं चाचा (सपिंड, स्थविर पिता, पुत्र, पौत्र) आदि व्यक्तियों के नाम कैसे रखे जाते थे, इसका ब्यौरेवार उल्लेख पाणिनि ने किया है। बीसियों सूत्रों के साथ लगे हुए गणों में गोत्रों के अनेक नाम पाणिनि के गणपाठ नामक परिशिष्ट ग्रंथ में हैं। पाणिनि की चौथी सूची भौगोलिक थी। गंधार और पंजाब के पाँच सौ ग्रामों के वास्तविक नाम पाणिनि ने दिये हैं। उनकी जनसंख्या लगभग दस सहस्र थी। उनसे उन्होंने उनके भूगोल संबंधी गणों की सूचियाँ बनायी। पंजाब की अनेक जातियों के नाम उन गाँवों के अनुसार थे जहाँ वे जातियाँ निवास करती थीं या जहाँ से उनके पुरखे आये थे। इस प्रकार निवास और अभिजन (पुरखों का स्थान) इन दोनों से उपनाम बनते थे, वे पुरुष नाम में जुड़ जाते थे क्योंकि ऐसे नाम भी भाषा के भाग थे।

गंधार की पूर्वी राजधानी तक्षशिला से पश्चिमी राजधानी पुष्कलावती कुल्लू कांगड़ा फैला हुआ था जिसे उस समय त्रिगत कहा जाता था। इसी में वह प्रदेश था जो सिंध नदी के उत्तर से दक्षिण तक व्याप्त था। इसके उत्तरी छोर पर सौबीर (सिंध) था, जिसे आज कबायली इलाके की पहचान मिली है। पाणिनि ने इस प्रदेश में रहने वाले ऋबीलों की सूची बनायी और उनके संविधानों का अध्ययन किया। इस प्रदेश को ग्रामणीय क्षेत्र कहा जाता था। वहाँ ग्रामणी शासन व्यवस्था लागू थी और ग्रामीण शब्द उनके नेता या शासक की पदवी थी। पाणिनि के गणपाठ में कई ऋबीलों के नाम मिलते हैं,

जैसे अफरीदी और मोहम्मद जिन्हें उन्होंने आप्रीत और मधुमंत कहा है। पाणिनि की सूचियों में एक सूची जनपदों की है। उस काल में कम्बोज, कच्छ, सूरमस और अश्मक नामक चार जनपदों में बँटे भू-भागों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं भाषाओं का जनपदीय विकास हो रहा था। पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* के चौथे और पाँचवें अध्यायों में शब्दों की व्युत्पत्ति बतायी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, सैनिक, व्यापारी, किसान, रँगरेज, बढई, रसोइये, मोची, ग्वाले, चरवाहे, गड़रिये, बुनकर, कुम्हार आदि सैकड़ों पेशेवर लोगों से मिल-जुल कर उन्होंने उनके विशेष पेशों से जुड़े शब्दों का संग्रह किया। उन्होंने बताया कि किस शब्द में कौन-सा प्रत्यय लगता है। वर्णमाला के स्वर और व्यंजन रूप जो अक्षर हैं उन्हीं से प्रत्यय बनाये गये, जैसे वर्षा से वार्षिक।

पाणिनि ने आर्थिक जीवन का भी अध्ययन किया। उनकी नज़र उन सिक्कों पर भी गयी जो उस समय बाज़ारों में प्रचलित थे। जैसे शतमान, कार्षापण, सुवर्ण, अंध, पाद माशक, त्रिंशत्क, विंशतिक। कुछ लोग अदला-बदली या वस्तु-विनिमय से भी सामान ख़रीदते थे, जिसे निमान कहा जाता था। पाणिनि किसी मतविशेष के पक्षधर न हो कर बुद्ध की तरह मध्यमार्ग के अनुयायी थे। शब्द का एक अर्थ व्यक्ति से संबंधित है और दूसरा जाति से। उन्होंने दोनों को माना। गऊ का अर्थ गाय तो है ही, और गऊ जाति भी है। वाजप्यायन और व्याडि आचार्यों के अलग-अलग आग्रह थे। पाणिनि ने दोनों को स्वीकार किया। पाणिनि ने वैदिक और लौकिक भाषाओं की सामग्री से अपने व्याकरण की रचना की किंतु प्रधानता लौकिक संस्कृत को दी। उन्होंने बोलचाल की लौकिक संस्कृत को भाषा कहा। उन्होंने अध्यापन किया और सम्भवतः उनका संबंध तक्षशिला विश्वविद्यालय से रहा। कहा जाता है सामग्री-संग्रह के बाद कुछ समय तक उन्होंने एकांतवास करते हुए *अष्टाध्यायी* की रचना की। पाणिनि को मांगलिक और प्रमाणभूत आचार्य भी कहा जाता है। उनकी कृति का प्रत्येक अक्षर व्याकरण में प्रमाण माना जाता है। पतंजलि के अनुसार पाणिनि ने जो सूत्र एक बार लिखा उसे काटा नहीं।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, द्रविड़ संस्कृति, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वासुदेव शरण अग्रवाल (1953), *इण्डिया एज़ नोन टु पाणिनि*, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.
2. जॉर्ज कार्डोना (1998), *अ सर्वे ऑफ़ रिसर्च*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.
3. भोलानाथ तिवारी (1995-96), *भाषा विज्ञान*, किताब महल, इलाहाबाद.

— अजय कुमार पाण्डेय

पारिस्थितिकीय दर्शन

(Ecosophy)

दर्शन की एक नवीन शाखा के रूप में पारिस्थितिकीय दर्शन (गहन पारिस्थितिकी) मानवतर प्रजातियों, पारिस्थितिकीय तंत्र और प्राकृतिक प्रक्रियाओं पर बल देता है। पर्यावरण और हरित आंदोलन से ज़्यादा गम्भीर और दूरदर्शी यह विचार पर्यावरण के संबंध में उपयोगितावादी आग्रह ख़ारिज करते हुए नयी पर्यावरणीय मूल्य-व्यवस्था की स्थापना करने के पक्ष में है। गहन पारिस्थितिकी को सैद्धांतिक आधारभूमि प्रदान करने का श्रेय नार्वे के प्रमुख दार्शनिक अर्ने नेस्स (1912-2009) को है। उनके दार्शनिक विचारों पर स्पिनोज़ा, बौद्ध-दर्शन और गाँधी का प्रभाव था। 1962 में प्रकाशित रिशेल कार्सन की रचना *साइलेंट स्प्रिंग* से नेस्स को गहरी प्रेरणा मिली। उन्होंने अपने पर्यावरणीय दृष्टिकोण में अहिंसा का विचार शामिल किया, और दूसरी ओर व्यावहारिक स्तर पर अहिंसक विरोध प्रदर्शनों में भागीदारी की। 1972 में थर्ड वर्ल्ड फ़्यूचर कांफ़्रेंस में नेस्स ने अपनी प्रस्तुति में पहली बार सतही और गहन पारिस्थितिकी के बीच अंतर की स्थापना की। अगले वर्ष उन्होंने *द शैलो एंड द डीप : लोंग-रेंज इकोलॉजी मूवमेंट्स* में स्पष्ट किया कि सतही पारिस्थितिकी प्रदूषण और संसाधन-क्षरण की चर्चा करती है और इसका मुख्य उद्देश्य विकसित देशों के निवासियों के स्वास्थ्य और समृद्धि की रक्षा करना है। गहन पारिस्थितिकी का सरोकार जैवमण्डलीय समतावाद और विविधता जैसे सरोकारों से है। जैवमण्डलीय समतावाद या बायोस्फ़ेरिक इगेलिटेरियनिज़म ही गहन पारिस्थितिकी का सैद्धांतिक स्रोत है। गहन पारिस्थितिकी-विचारक अपने ऊपर रॉल्फ़ वाल्डो, इमर्सन, हेनरी डेविड थोरो, जॉन म्यूर, एल्डो लियोपोल्ड आदि का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

जैवमण्डलीय समतावाद के अनुसार मनुष्य के अलावा

भी अन्य समस्त चराचर जगत को भी जीवन जीने और विकसित होने का अधिकार है। पारिस्थितिकीय विज्ञान तर्क और तथ्य पर आधारित है, मगर कैसे रहना चाहिए जैसे नैतिक प्रश्नों का जवाब नहीं देता। ऐसे प्रश्नों के लिए एक पारिस्थितिकीय प्रज्ञा की आवश्यकता होती है। इस प्रज्ञा का विकास गहन अनुभूति, गहन प्रश्नाकुलता और प्रतिबद्धता के ज़रिये हो सकता है। नेस्स ने सापेक्षिक महत्ता के आधार पर जीवों की श्रेणी बनाने का विचार खारिज करते हुए कहा कि आत्मा, तर्क और चेतना जैसी कसौटियाँ इनसान द्वारा गढ़ी गयी हैं ताकि वह दूसरों से खुद को श्रेष्ठ क्रार दे सके। उन्होंने इकॉलॉजीकल सेल्फ़ (पारिस्थितिकीय इयत्ता) के विचार की स्थापना करते हुए इकोसॉफ़ी के मर्म में आत्मानुभूति (स्वयं को बृहद अर्थों और संदर्भों में जानना) को रखा। उन्होंने अपनी पारिस्थितिकीय दृष्टि के आधार पर स्पष्ट किया कि जीवन के समस्त रूपों को जीवन जीने का सार्वभौम अधिकार है, जिसे सीमित नहीं किया जा सकता है। किसी विशेष प्रजाति को इस जीवन-अधिकार का दूसरों अधिक हिस्सा नहीं मिला है।

गहन पारिस्थितिकी के सिद्धांतकारों ने अपना दर्शन व्याख्यायित करने के लिए मुख्यतः आठ बिंदु गिनाये हैं : पहला, पृथ्वी पर मानव और मानवेतर जीवन का कल्याण एवं प्रस्फुटन/उन्नयन स्वयं में एक मूल्य है। इस मूल्य को मानवीय उद्देश्यों हेतु मानवेतर दुनिया की उपयोगिता से स्वतंत्र समझना होगा। दूसरा, जीवन-रूपों की समृद्धि और विविधता इन मूल्यों की अनुभूति में योगदान करती है। यह समृद्धि तथा विविधता अपने आप में भी मूल्य है। तीसरा, मनुष्य को अपनी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी करने के अलावा इस समृद्धि और विविधता को कम करने का कोई अधिकार नहीं है। चौथा, मानवीय जीवन और संस्कृति का पल्लवन इनसानी आबादी में काफ़ी गिरावट की माँग करता है। इसी तरह मानवेतर जीवन का पल्लवन भी इनसानी आबादी घटने पर निर्भर है। पाँचवाँ, मानवेतर जगत में मानवीय हस्तक्षेप की मात्रा इतनी अधिक है कि उसके हालत बिगड़ते जा रहे हैं। छटाँ, नीतियाँ बदलने की ज़रूरत है जिससे आधारभूत आर्थिक, तकनीकी और विचारधारात्मक संरचनाएँ प्रभावित हो सकें। इसके परिणामस्वरूप भविष्य की स्थिति आज की स्थिति से भिन्न होगी। सातवाँ, यह वैचारिक परिवर्तन लाना होगा कि जीवन की गुणवत्ता (अंतर्निहित मूल्यों की स्थिति के साथ) की प्रशंसा की जानी चाहिए, न कि जीने के महँगे और ऊँचे मानकों को बढ़ाने की। बड़े और महान के बीच अंतर के प्रति जागरूकता भी बढ़ानी होगी। आठवाँ, जो इन बिंदुओं से सहमत हैं, उनका दायित्व है कि वे आवश्यक परिवर्तन लागू करने हेतु प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रयास करें।

गहन पारिस्थितिकी का दर्शन विकेंद्रीकरण का समर्थन करता है, उद्योगीकरण के वर्तमान स्वरूप की निंदा करता है

और सर्वसत्तावाद की समाप्ति पर बल देता है। फ़िलहाल इसे हरित आंदोलन (ग्रीन मूवमेंट) का ही एक भाग माना जाता है, इस दायरे में गहन पारिस्थितिकीय नज़रिया रखने वाले लोग अलग दिखाई पड़ते हैं। साथ ही आधुनिक पारिस्थितिकीय आंदोलन से यह इस मायने में भी अलग है कि वह उसकी बुनियादी अवधारणा मनुष्य केंद्रीयता की आलोचना करते हुए मनुष्यों को पर्यावरण का आधिकारिक परिजन बताने का दावा खारिज करता है। मनुष्य केंद्रीयता की जगह उसका बल पारिस्थितिकीय केंद्रीयता पर है।

गहन पारिस्थितिकी के विचारक साफ़ करते हैं कि मनुष्य केंद्रीयता की आलोचना का अर्थ मनुष्य को कमतर साबित करना या उससे घृणा करना नहीं है। उनकी कोशिश तो मनुष्य की जगह प्रकृति को केंद्र में लाना है। गहन पारिस्थितिकी का विचार एक स्तर पर पर्यावरणीय नारीवाद से जुड़ता भी है और उससे आगे भी जाता है। इकोफ़ेमिनिज़म अगर मनुष्य-केंद्रीयता के साथ-साथ पुरुष-केंद्रीयता की आलोचना करता है, तो गहन पारिस्थितिकी इससे आगे जाकर कहता है कि पर्यावरण / पारिस्थितिकी की समस्या का हल तब तक नहीं हो सकता है जब तक प्रकृति को उपभोग-वस्तु मात्र माना जाता रहेगा। पारिस्थितिकी को केंद्र बना कर ही इस समस्या का हल किया जा सकता है। यह दर्शन पारिस्थितिकीय विज्ञान की सहायता ले कर दिखाता है कि अंततः सभी चीज़ें आपस में अंतःसंबंधित होती हैं। गहन पारिस्थितिकी के विचारकों में रिशेल कार्सन, एल्डो लियोपोल्ड, बैरी कॉमनर, पॉल सिअर्स, फ़्रिटजोफ़ काप्रा प्रमुख हैं।

गहन पारिस्थितिकी आलोचना से परे नहीं है। सामाजिक पारिस्थितिकीय से संबंधित विचारकों, जिनमें मुरे बुकचिन का नाम प्रमुख है, ने इस दर्शन की यह कह कर आलोचना की है कि इसके पास ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जिसके मुताबिक़ पर्यावरणीय संकट को सर्वसत्तावाद, वर्चस्व आदि से जोड़ कर प्रस्तुत किया जा सके। साथ ही यह भी देखना ज़रूरी है कि पर्यावरणीय संकट का मूल मानव के आपसी व्यवहार में निहित है। यह भी हो सकता है कि पर्यावरणीय दृष्टि से टिकाऊ व्यवस्था, जिसकी बात गहन पारिस्थितिकी विचारक करते हैं, सामाजिक शोषण की संरचना क्रायम रखती हो। गहन पारिस्थितिकी के विचारकों ने इस आलोचना का जवाब दिया है कि पर्यावरणीय दृष्टि आपसी व्यवहार से नहीं, बल्कि प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण से तय होती है। यह भी हो सकता है कि सामाजिक समानता प्राप्त करने वाली व्यवस्था भी पर्यावरण के प्रति शोषण का नज़रिया रखती हो।

कुछ विचारकों ने यह आलोचना भी की है कि मनुष्य-केंद्रीयता के मुकाबले नयी मूल्य व्यवस्था बनाना एक ख़ाब के अलावा और कुछ नहीं है। गहन पारिस्थितिकी के

बारे में यह भी कहा जाता है कि वह असामाजिक है और जनसंख्या के कम से कम होने पर तो बल देता है, मगर प्राकृतिक आपदाओं और महामारी जैसी परिघटनाओं पर मौन है। गहन पारिस्थितिकी के विचारकों का इस संबंध में कहना है कि वे मनुष्यता एवं पारिस्थितिकी के बीच एक नवीन रिश्ते की बात पर बल देते हैं। गहन पारिस्थितिकी-विचारक इस बात पर भी बल देते हैं कि स्वैच्छिक सादगी पर बल दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ है कि व्यक्ति अपने उपभोग, जीवन-स्तर और जीवन-शैली को ऐसा बनाये कि उसका कम से कम नकारात्मक प्रभाव पर्यावरण पर पड़े।

देखें : चिपको आंदोलन, जैवविविधता, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकवाद, पेटेंट, भारत में पेटेंट कानून, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी।

संदर्भ

1. बिल डेविड और जॉर्ज सेशंस (1985), *डीप इकोलॉजी : लिविंग एज इफ नेचर मैटर्स*, परग्राइन स्मिथ, साल्ट लेक सिटी.
2. एलन ड्रेंगसन और इनोयू युइची (सम्पा.) (1995), *द डीप इकोलॉजी मूवमेंट : ऐन इंटरडक्टरी एंथोलॉजी*, नॉर्थ अटलांटिक पब्लिशर्स, बर्कले.
3. पॉल हॉकेन (1993), *द इकोलॉजी ऑफ कॉमर्स : द डिक्लेरेशन ऑफ सस्टेनिबिलिटी*, हार्पर कोलिंस, न्यूयॉर्क.

— शम्भू जोशी

पारिस्थितिकवाद

(Ecologism)

पारिस्थितिकवाद प्राकृतिक संसाधनों के लगातार दोहन और पर्यावरण की बदहाली के कारण पैदा हुई स्थिति के विश्लेषण और उसे दुरुस्त करने के लिए राजनीतिक कार्रवाई पर जोर देता है। पारिस्थितिकवादियों (या पर्यावरणवादियों) की कोशिशों के कारण कई देशों में ग्रीन पार्टियों का उभार हुआ है और पर्यावरण से जुड़े मुद्दे राजनीतिक वाद-विवाद के केंद्र में आये हैं। इस बहस में इकोसेंट्रिज्म (पारिस्थितिक-केंद्रवाद) और एंथ्रोपोसेंट्रिज्म (मानवकेंद्रवाद) का मुद्दा भी प्रमुख रहा है। विकासशील और विकसित देशों के पर्यावरणीय आंदोलनों का एजेंडा अलग-अलग है। मार्क्सवादियों, नारीवादियों आदि ने भी अपने-अपने नज़रिये से पारिस्थितिकी से जुड़े मसलों का गहनता से विश्लेषण किया है। इसके कारण इको-फेमिनिज्म या पारिस्थितिक-

नारीवाद और पारिस्थितिक-समाजवाद जैसे विचार सामने आये हैं।

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में हुई औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रांतियों के कारण प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, शहरी विकास और पर्यावरणीय क्षय में बहुत बढ़ोतरी हुई। साठ के दशक से पहले राजनीतिक एजेंडे में पर्यावरण के प्रश्न को तुलनात्मक रूप से महत्त्व नहीं दिया जाता था। लेकिन आज यह मसला राजनीति के सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण, विवादित और अहम विषयों में से एक है। 1972 में *लिमिट्स ऑफ ग्रोथ रिपोर्ट* का प्रकाशन हुआ। डॉनेला मीडो, डेनिस मीडोस, जॉर्गन रेंडर और विलियम वेहर्न्स द्वारा तैयार इस रपट में चेतावनी दी गयी थी कि अगर संसाधनों का दोहन मौजदा दर से ही होता रहा तो आने वाले सौ वर्षों में मानवीय अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। ग्रोथ यानी समृद्धि की सीमा संबंधी थीसिस का पर्यावरणीय चिंतन की दिशा में बहुत महत्त्व है। इसी तरह संसाधनों के सीमित होने के सिद्धांत को भी पर्यावरणीय चिंतन में अहम जगह हासिल है। दूसरा, इस रपट ने मानव और प्रकृति के बीच परस्पर निर्भर संबंधों पर जोर दिया। तीसरा, इस रपट से यह बात भी सामने आयी कि यह मसला अल्पावधि तकनीकी समाधानों से नहीं सुलझ सकता, क्योंकि ऐसे हल पर्यावरणीय संकट के लिए जिम्मेदार बुनियादी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारणों को दूर नहीं करते।

इकोलॉजी (या पारिस्थितिकी) शब्द का प्रयोग सबसे पहले अर्नेस्ट हेक्कल ने किया था। यह अभिव्यक्ति जीवों और उनके अपने वातावरण के बीच आपसी रिश्तों के अध्ययन से संबंधित है। इकोलॉजी के साथ ही कई मर्तबा पर्यावरण शब्द का इस्तेमाल भी समानार्थक रूप से किया जाता है। पारिस्थितिकी की चिंताओं से संबंधित आंदोलनों को पर्यावरणीय आंदोलन की भी संज्ञा दी जाती है। लेकिन पर्यावरण शब्द का अपेक्षाकृत व्यापक है, क्योंकि इसका संबंध हमारे पूरे परिवेश से है।

एंड्रू डॉबसन ने तर्क दिया है कि पारिस्थितिकवाद को एक विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा मानना चाहिए। एक विचारधारा के रूप में सामने आने के लिए पारिस्थितिकवाद में तीन बुनियादी विशेषताएँ होनी चाहिए : पहली, अवधारणाओं और मूल्यों का ऐसा समूह जो वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की समीक्षा पेश करे; दूसरी, किसी समाज की वैकल्पिक रूपरेखा; और तीसरी, वैकल्पिक रूपरेखा के अनुसार समाज को ढालने के लिए रणनीति और सामाजिक कार्यक्रम। डॉबसन के अनुसार, पारिस्थितिकवाद इन तीनों ही कसौटियों पर कामयाब है। पहला, इसकी बुनियाद में यह विचार निहित है कि मनुष्यों और प्रकृति के बीच संबंधों पर नये सिरे से विचार होना

चाहिए। यह इस बुनियादी तथ्य को भी स्वीकार करता है कि मनुष्यों द्वारा की जाने वाली सम्बृद्धि की प्राकृतिक सीमाएँ हैं। दूसरा, यह टिकाऊ समाज के रूप में वैकल्पिक समाज की रूपरेखा पेश करता है। तीसरा, यह इस समाज को हासिल करने के लिए कई रणनीतियों को रेखांकित करता है। नील कार्टर ने पारिस्थितिकी से जुड़े लेखन और जर्मन ग्रीन पार्टी के 1980 के दशक के चुनावी घोषणापत्रों के आधार पर पारिस्थितिकवाद के पाँच प्रमुख सिद्धांत बताये हैं: पारिस्थितिकीय उत्तरदायित्व, सामाजिक न्याय, ग्रासरूट डेमोक्रेसी, विकेंद्रीकरण और अहिंसा।

दरअसल, सम्बृद्धि की सीमा थीसिस के बाद पर्यावरणीय दर्शन में मानव-केंद्रवाद और पारिस्थितिक-केंद्रवाद संबंधी विवाद को काफ़ी बढ़ावा मिला। मानवकेंद्रवाद में आधुनिकता से जुड़ी इस मान्यता को सबसे प्रमुख स्थान दिया जाता है कि मनुष्य इस ब्रह्मांड के केंद्र में हैं और ब्रह्मांड की सभी वस्तुएँ मनुष्यों की भलाई के लिए हैं। मनुष्यों को यह हक़ है कि वह अपने फ़ायदे के लिए इनका उपयोग करे। इसके विपरीत आर्ने नेस और पीटर सिंगर जैसे लेखकों ने पारिस्थितिक-केंद्रवाद के विचार को आगे बढ़ाया। पारिस्थितिक-केंद्रवाद मानव-केंद्रवाद की 'अंध मानव भक्ति' खारिज करते हुए तर्क देता है कि ग़ैर-मानवीय सत्ताओं में भी तात्त्विक मूल्य होते हैं।

पारिस्थितिक-केंद्रवादियों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहला है समग्रवादी दृष्टिकोण। आर्ने नेस ने 'गहन पारिस्थितिकी' की अवधारणा से इस विचार को आगे बढ़ाया। इसके मुताबिक इस ब्रह्मांड में कुछ भी और कोई भी पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं है। हर चीज़ या प्राणी में मूल्य है। इसलिए मनुष्यों को यह हक़ नहीं है कि वे अपने फ़ायदे के लिए मनमाने तरीक़े से दूसरे प्राणियों का उपयोग करें। दूसरा नैतिक विस्तारवाद का दृष्टिकोण है। यह दुख या पीड़ा महसूस करने जैसे आधार पर नैतिक समुदाय को विस्तार देता है। इसमें पशुओं के अधिकारों पर बहत ज़्यादा जोर है। पीटर सिंगर ने उपयोगितावादी सिद्धांतों के आधार पर इस बात पर दावा किया है कि समान महत्त्व का सिद्धांत उन सभी जीवों पर लागू करना चाहिए जो पीड़ा अनुभव करते हैं। बहरहाल, समग्रवादी दृष्टिकोण के समर्थकों ने नैतिक विस्तारवादियों की इस आधार पर आलोचना की है कि वे इकोलॉजी या पारिस्थितिकी पर समग्रता से विचार करने में नाकाम रहे हैं।

पारिस्थितिक-केंद्रवाद को काफ़ी आलोचना का सामना करना पड़ा है। इस आलोचना का आधार यह है कि यह मनुष्य की हस्ती को चूहों या मच्छरों के बराबर कर देता है। इस विचार का एक अर्थ यह भी है कि चूँकि सभी जीवों का समान नैतिक महत्त्व है इसलिए मनुष्यों का भी उतना ही

महत्त्व है जितना कि चूहों, साँपों आदि जीवों का। नॉर्टन जैसे बहुत से विद्वान इस बात पर जोर देते हैं कि पारिस्थितिक-केंद्रवाद और मानवकेंद्रवाद को दो अलग-अलग खानों में बाँटना सही नहीं है, क्योंकि दोनों के लक्ष्यों में कोई दूरगामी टकराव नहीं है। पारिस्थितिक-केंद्रवादी सभी जीवों को अहमियत देकर इस दुनिया को मनुष्यों की आने वाली पीढ़ियों के लिए भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। कोई भी पारिस्थितिक-केंद्रवादी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कर सकता है कि मनुष्यों को फलने-फूलने का अधिकार है। इसी तरह, मानव-केंद्रवादी भी इस बात को स्वीकार करेंगे कि मनुष्यों का भविष्य पूरी तरह से सुरक्षित रखने के लिए यह ज़रूरी है कि सभी जीवों को महत्त्व देते हुए जैव-विविधता क़ायम रखी जाए।

लेकिन पारिस्थितिक सिद्धांत की कुछ स्पष्ट सीमाएँ भी हैं। यह बुनियादी रूप से पश्चिमी औद्योगिक समाज से संबंधित है। कई बार पारिस्थितिक सिद्धांत और विकासशील समाजों के पर्यावरणीय आंदोलनों की माँगों में बहुत ज़्यादा जुड़ाव नहीं दिखता। विकासशील समाजों में पारिस्थितिकी की चिंता लोगों की जीविका से जुड़ी हुई है। कई दफ़ा ऐसा होता है कि इन समाजों में वन्य जीव संरक्षणवादियों की राजनीति और माँगें समाज के सबसे उपेक्षित तबकों की ज़रूरतों के खिलाफ़ जाती हैं या उनके प्रति संवेदनहीन होती हैं।

देखें : चिपको आंदोलन, जैवविविधता, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकवाद, पारिस्थितिकीय दर्शन, पेटेंट, भारत में पेटेंट क़ानून, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी।

संदर्भ

1. नील कार्टर (2001), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ द इनवायरनमेंट : आइडियाज़, एक्टिविज़्म, पॉलिसी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. एंड्रयू डॉबसन (2001), *ग्रीन पॉलिटिकल थॉट*, तीसरा संस्करण, रॉटलेज, लंदन.
3. ब्रायन नॉर्टन (1999), *टुवर्ड्स युनिटी अमंग ऐनवायरनमेंटलिस्ट्स ऑक्सफ़ोर्ड*, लंदन.
4. आर्ने नेस (1989), *इकोलॉजी, क़म्युनिटी ऐंड लाइफ़स्टाइल*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
5. पीटर सिंगर (1971), *प्राैक्टिकल एथिक्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

— कमल नयन चौबे

पार्टी-गठजोड़ की राजनीति

(Politics of Coalition)

जिन देशों में दो-दलों की होड़ के बजाय बहुदलीय होड़ से राजनीतिक प्रणाली की रचना होती है, वहाँ गठजोड़-राजनीति का मुख्य चरित्र विभिन्न पार्टियों के गठबंधनों के जरिये अभिव्यक्त होता है। तरह-तरह के विचारधारात्मक और सामाजिक हितों की नुमाइंदगी करने वाली पार्टियाँ कभी बेहद अस्थायी तो कभी कुछ-कुछ स्थायी क्रिस्म का गठबंधन बना कर किसी राजनीतिक मुहिम के लिए चलायी गयी संयुक्त कार्यवाही या चुनाव में उतरती हैं। चुनाव में किसी एक पार्टी को बहुमत न मिलने की सूरत में भी कई दल सरकार बनाने के लिए आपस में जुड़ जाते हैं। उनका अपना सांगठनिक अस्तित्व, घोषणापत्र और कार्यक्रम बरकरार रहता है, लेकिन संयुक्त कार्यवाही या सत्ता में साझेदार रहने की अवधि में उनकी ज्यादातर गतिविधियाँ उस गठजोड़ के आधारभूत न्यूनतम साझा कार्यक्रम के मातहत ही चलती हैं। राष्ट्रीय संकट या युद्ध जैसे अपवादों की घड़ी में बनायी जाने वाली राष्ट्रीय सरकार भी सभी सक्रिय पार्टियों की नुमाइंदगी से बनती है जिससे पैदा होने वाली राजनीतिक वैधता को व्यापक सहमति का आधार बनाया जाता है। लेकिन भारत, फ्रांस, जर्मनी, इजरायल और इटली जैसे कई देशों में पार्टी-गठजोड़ की राजनीति व्यावहारिक रूप से सत्ता में साझेदारी की विधि के रूप में रोजमर्रा की परिघटना बन चुकी है। इन देशों में बड़े दलों के साथ-साथ छोटे दल भी मतदाता मण्डल के उल्लेखनीय हिस्से को अपनी ओर खींचने में समर्थ रहते हैं।

आम तौर पर गठजोड़ सरकारें उन देशों में नहीं बनतीं जहाँ पहले राष्ट्रपति का सीधा चुनाव होता है और फिर चुना गया नेता मंत्रिपरिषद् (काबिना) की नियुक्ति करता है, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका। ऐसी प्रणालियों में मंत्रिपरिषद् को निचले सदन का विश्वास जीतने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन फ्रांस जैसे अर्ध-राष्ट्रपति प्रणाली वाले देशों में गठजोड़ सरकारें बनती रहती हैं, क्योंकि वहाँ राष्ट्रपति की तरफ से प्रधानमंत्री की औपचारिक नियुक्ति होती है और सरकार को संसद का विश्वास जीतना पड़ता है। दूसरी तरफ यूनाइटेड किंगडम, संयुक्त राज्य और जापान जैसे देशों में गठजोड़ सरकारों का नज़ारा नहीं दिखाई देता, क्योंकि वहाँ छोटे दल ख़ास प्रभावी नहीं होते।

गठजोड़ सरकार और एक पार्टी की सरकार के बीच की बहस बहुत कुछ निर्वाचन के लिए अपनायी जाने वाली विधि से भी जुड़ी है। अगर किसी देश में आनुपातिक चुनाव प्रणाली होने के साथ-साथ सार्वजनिक जीवन में दलों की संख्या भी ज्यादा है तो यह प्रणाली अधिक संख्या में पार्टियों

को संसद में लाने की वाहक बन सकती है। 'फर्स्ट-पास्ट-द-पोस्ट' क्रिस्म की चुनाव प्रणाली छोटी पार्टियों के उम्मीदवारों की जीत में बाधक मानी जाती है। लेकिन, भारत जैसा देश इस नियम का अपवाद है जहाँ इसी क्रिस्म की प्रणाली होने के बावजूद राजनीतिक होड़ पूरी तरह से गठजोड़ों की प्रतियोगिता बन चुकी है।

अगर चुनाव में किसी एक पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिले तो दो ही विकल्प बचते हैं : निचले सदन में सबसे ज्यादा सदस्यों वाली पार्टी के नेतृत्व में अल्पमतीय सरकार बनना जिसे बाहर से दिये गये समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता है; या पार्टियों का गठबंधन बना कर बहुमत प्राप्त करने वाली सरकार। इस तरह की गठजोड़ सरकार के घटक दलों में आम तौर पर भीतरी रस्साकशी तो चलती रहती है, पर उसकी गर्दन पर अविश्वास प्रस्ताव की तलवार नहीं लटकती। तकनीकी रूप से दो बड़े राजनीतिक दलों का महा-गठजोड़ भी सम्भव है। इजरायल और जर्मनी को इसके उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। पर व्यावहारिक रूप से ऐसा कम ही होता है। आम तौर पर एक बड़ी पार्टी के नेतृत्व में ही छोटी पार्टियों का गठबंधन बनता है।

मोटे तौर पर गठजोड़ सरकारें तीन क्रिस्म की होती हैं : दो बड़ी पार्टियों के बीच गठजोड़ पर आधारित सरकारें (जैसे इजरायल और जर्मनी में बनी सरकारें), बड़े-बड़े मोर्चों के बीच गठजोड़ पर आधारित सरकारें (जैसे नैशनल फ्रंट, यूनाइटेड फ्रंट और लेफ्ट फ्रंट के गठजोड़ से बनी सरकार), एक बड़ी राष्ट्रीय पार्टी के नेतृत्व में छोटी पार्टियों के गठजोड़ की सरकार (जैसे भारतीय जनता पार्टी की अगुआई में बनी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ और कांग्रेस के नेतृत्व में बनी संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकारें)। राजनीतिक रुझान के लिहाज़ से देखा जाए तो गठजोड़ों की एक चौथी क्रिस्म समान विचारधारा वाले दलों के गठबंधन रूप में सामने आती है। भारतीय राज्य पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा के दल तीस साल तक लगातार हुकूमत करने में कामयाब रहे हैं। लेकिन ज़रूरी नहीं कि मार्क्सवादी दल हमेशा विचारधारात्मक क्रिस्म का गठजोड़ ही बनाते हों। केरल में यही दल स्थानीय परिस्थितियों के मुताबिक अपने नेतृत्व में गैर-मार्क्सवादी (यहाँ तक कि मुसलिम लीग जैसी धर्म आधारित) पार्टियों को साथ लेकर सरकारें बनाते रहे हैं।

गठजोड़ सरकारों की ख़ूबियाँ : गठजोड़ राजनीति के पैरोकारों का दावा है कि ऐसी सरकारों की सबसे बड़ी ख़ूबी उनका अधिक प्रतिनिधित्वमूलक होना है। किसी एक पार्टी की सरकार के मुकाबले वे जनमत के ज्यादा बड़े दायरे की नुमाइंदगी करती हैं और यह विशेषता उनकी निर्णय-प्रक्रिया में भी झलकती है। ये सरकारें अपने मिले-जुले चरित्र के

कारण क्षेत्रीय विषमता की समस्या निबटाने में अधिक सक्षम होती हैं जिससे किसी एक क्षेत्र का तेज़ विकास होने के बजाय अधिकांशतः सर्वसमावेशी विकास की संभावना पैदा होती है। इन पैरोकारों का यह भी दावा है कि एकल पार्टी सरकार के मुक़ाबले गठजोड़ सरकारों के तहत बेहतर शासन और नीति-निर्माण सम्भव है। सरकार के भीतर जनमत की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ होने के कारण नीतियाँ बनाते समय अधिक व्यापक और गहन बहस हो सकती है। इसके उलट एक पार्टी की सरकार द्वारा एकतरफ़ा सोच के आधार पर बनायी गयी नीतियाँ बहुमत के दम पर थोपने के उदाहरण मिलते हैं। भारत में इंदिरा गाँधी की सरकार द्वारा 1975 में लगायी गयी आंतरिक इमरजेंसी इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। गठजोड़ राजनीति की संस्कृति उसके प्रमुख नेताओं द्वारा अपनाये गये सहमति हासिल करते हुए चलने के रवैये के आधार पर बनती है। राज्यों को अधिक अधिकार मिलते हैं, केंद्र-राज्य संबंधों में सुधार होता है और संघात्मकता मज़बूत होती है। मिली-जुली सरकारें (अगर गठजोड़ विचारधारा आधारित नहीं है) विचारधारात्मक ध्रुवीकरण को रोकती हैं जिससे राजनीति में अतिवादी नज़रिये को प्राथमिकता मिलना कम हो जाता है।

गठजोड़ सरकार की ख़ामियाँ : पार्टी-गठजोड़ से बनने वाली सरकारों के आलोचक उन्हें अधिक लोकतांत्रिक मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे ध्यान दिलाते हैं कि ये सरकारें गठजोड़ के भीतरी शक्ति-संतुलन से पैदा होने वाली विकृतियों के प्रभाव से ग्रस्त रहने के लिए अभिशप्त हैं। इसके पीछे मुख्य कारण होता है छोटी पार्टियों द्वारा सत्ता में अपनी हैसियत से ज़्यादा हिस्सा प्राप्त करने की कोशिश में लगे रहना। इससे राजनीतिक ब्लैकमेल की स्थिति पैदा होती है जिसके सामने बड़ी पार्टी को सरकार चलाते रहने के स्वार्थ के कारण झुकना पड़ता है। इज़रायल में धार्मिक पार्टियाँ, जर्मनी और फ़्रांस में ग्रीन पार्टियाँ, भारत में द्रमुक और तृणमूल कांग्रेस जैसी पार्टियों का रवैया इसका प्रमाण है। घटक दलों की महत्त्वाकांक्षाओं को संतुष्ट करने के लिए इन सरकारों में मंत्रियों की संख्या भी अधिक होती है जिसके कारण सरकार पर होने वाला ग़ैर-बजटीय खर्च काफ़ी बढ़ जाता है।

इसके अलावा चुनाव के बाद होने वाले गठजोड़ों की रचना-प्रक्रिया को प्रतीकात्मक राज्याध्यक्ष (चाहे वह राजा हो या राष्ट्रपति) की मनमर्जी का मोहताज होना पड़ता है। ऐसी सरकारें अपने मतदाताओं के संदर्भ में भी पारदर्शी नहीं होतीं। जिन मुद्दों और वायदों के आधार पर वे चुनाव में वोट पाती हैं, उन्हें नीतियों में बदलने लायक समर्थन न मिल पाने की सूरत में पर्दे के पीछे होने वाले समझौतों के आधार पर नीतियों का निर्माण होता है। ऐसी सरकारों को अपने ज़्यादातर निर्णय अल्पकालीन नज़रिये के आधार पर करने पड़ते हैं। उसे डर

लगा रहता है कि कहीं वह अलोकप्रिय न हो जाए। इसी डर के कारण वह दूरगामी असर वाले क्रदमों को उठाने से हिचकती है और फ़ौरी कार्रवाइयों का प्रशासन बन कर रह जाती है।

देखें : कांग्रेस 'प्रणाली', गठजोड़ राजनीति, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन।

संदर्भ

1. विलियम गेमसन (1961), 'ए थियरी ऑफ़ कोआलिशन फॉर्मेशन', *अमेरिकन सोसियोलॉजीकल रिव्यू*, अंक 26, 1961.
2. विद्युत चक्रवर्ती (2005), *फोर्जिंग पावर : कोआलिशन पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. एच. विलियम रिकर (1962), *द थियरी ऑफ़ पॉलिटिकल कोआलिशन*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवन.
4. आर.के. पाण्डेय (2010), 'कोआलिशन पॉलिटिक्स इन इण्डिया : प्रॉस्पेक्ट्स ऐंड प्रॉब्लम्स', *इंटरनेशनल रिसर्च जर्नल*, खण्ड 1, अंक 12.

— अभय कुमार दुबे

पांडुरंग वामन काणे

(Pandurang Vaman Kane)

भारतविद्, आलोचक, भाष्यकार और संस्कृत के विद्वान पांडुरंग वामन काणे (1880-1972) प्राचीन भारतीय इतिहास का पुनर्विवेचन कुछ इस तरह करना चाहते थे कि उससे न केवल समाज-सुधार में, बल्कि उससे भी आगे बढ़ कर स्वराज्य प्राप्त करने में सहायता मिले। राजेंद्रलाल मित्र और रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर जैसे स्वदेशी चिंतकों की परम्परा को काणे ने अपनी विशाल पाँच खण्डीय रचना *हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र* द्वारा आगे बढ़ाया। सामाजिक नियमों और आचारों का यह विश्वकोश काणे की बौद्धिक उपलब्धियों का महान कीर्तिस्तम्भ है। प्राचीन भारत में सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए उनकी यह रचना अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। काणे संस्कृत के विद्वान, शोधार्थी और शिक्षाशास्त्री ही न हो कर एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं से उनके जुड़ाव का एक उदाहरण वाही के धर्म निर्णय मण्डल प्रज्ञा पाठशाला में उनकी सक्रियता से मिलता है। उन्होंने विधवाओं के मुंडन, बाल विवाह और अस्पृश्यता जैसी सामाजिक कुरीतियों की निंदा की और उनका तार्किक सामाजिक प्रतिरोध किया। उन्होंने



पांडुरंग वामन काणे (1880-1972)

वैदिक और धर्मशास्त्रीय व्याख्या और तर्कों-प्रमाणों के साथ समाज-सुधार आंदोलन द्वारा उठाये गये अंतरजातीय विवाह, विधवा विवाह जैसे मुद्दों का समर्थन किया और विवाह-विच्छेद अर्थात् तलाक़ के पक्ष में भी अपने विचार दृढ़ता से रखे। प्राचीन भारतीय समाज में गो-मांस भक्षण का चलन था या नहीं; अथवा क्या प्राचीनकाल में लड़कियों को यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करने का अधिकार था— जैसे प्रश्नों पर होने वाली बहसों के दौरान स्वतंत्र भारत में काणे से प्राप्त स्रोतों का दोनों पक्षों द्वारा इस्तेमाल हुआ। काणे का मानना था कि भारतीय संविधान द्वारा प्राचीन भारत में व्याप्त पारम्परिक विचारों और आचार-व्यवस्था के नियमों की अनदेखी करने के कारण नागर समाज में एक ग़लत अवधारणा ने जन्म लिया जिसके तहत लोग अपने अधिकारों के लिए तो सचेत दीखते हैं परंतु अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य के प्रति उदासीन रहते हैं।

पांडुरंग वामन काणे का जन्म 7 मई, 1880 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी ज़िले में चिपलून के क़रीब पेढेम (परशुराम) नामक स्थान पर चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे अपनी तीन बहनों और छह भाइयों में दूसरे स्थान पर थे। उनके पिता वामन शंकर तालुका वकील थे। वैदिक शिक्षा की परम्परा से लकदक परिवार में पैदा होने के कारण काणे ने बचपन से ही साहित्यिक और शास्त्रीय ज्ञान आत्मसात करना शुरू कर दिया। 1896 में सोलह साल की उम्र में काणे का विवाह सुभद्रा देवी से हुआ। 1897 में

डपोली के मिशन हाई स्कूल से मैट्रिक करने के उपरांत उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने मुम्बई के विल्सन कॉलेज में दाखिला लिया। उन्हें इंटरमीडिएट के दौरान संस्कृत में अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति मिली। 1901 में प्रथम श्रेणी से उन्होंने स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की और उन्हें भाऊ दाजी पारितोषिक ने नवाजा गया। 1903 में काणे ने अंग्रेज़ी ऐच्छिक विषय रख कर संस्कृत से परास्नातक किया और इस दौरान उन्होंने झाला वेदांत पारितोषिक जीता। उन्होंने 1908 में एलएलबी और 1912 में एलएलएम की डिग्री प्राप्त की। काणे ने अपने पेशेवर जीवन की शुरुआत 1904 से रत्नागिरि में राजकीय हाई स्कूल में पढ़ाने से की। 1907 में वे मुम्बई स्थानांतरित हो गये। पुणे के डेक्कन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर के सहायक के पद हेतु कमतर योग्यता प्राप्त व्यक्ति की उनकी जगह पर नियुक्ति से विचलित हो कर काणे ने 1911 में सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया 1911 से उन्होंने मुम्बई हाई कोर्ट में वकालत शुरू की। 1917 में गवर्नमेंट कॉलेज में काणे लॉ के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए और 1923 तक इस पद पर बने रहे। बाद में वे मुम्बई हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के वकील भी रहे। काणे जिन अकादमिक और साहित्यिक संस्थाओं से जुड़े उनमें प्रमुख हैं पुणे स्थित संस्कृत अध्ययन के केंद्र डेक्कन कॉलेज और भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, मुम्बई ब्रांच ऑफ़ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी और मुम्बई युनिवर्सिटी।

काणे ने संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में अपने कार्य का श्रीगणेश द हिस्ट्री ऑफ़ अलंकार लिटरेचर (1905) से किया। इस कृति के लिए उन्हें 1905 में वी.एन. मांडलिक गोल्ड मेडल दिया गया। यहीं से भारत-विद्या के क्षेत्र में काणे के शोध-जीवन की शुरुआत हुई। 1906 में *आर्यन मैनुस एंड मॉरल्स ऐज़ डिपिक्टेड इन द एपिक्स* के लिए उन्हें पुनः मांडलिक गोल्ड मेडल प्राप्त हुआ। 1913 में मुम्बई युनिवर्सिटी ने उन्हें द विल्सन फ़िलोलॉजिकल लेक्चर्स के लिए आमंत्रित किया। 1915 से 1917 तक युनिवर्सिटी स्प्रिंगर शोधार्थी के तौर पर काणे ने महाराष्ट्र के प्राचीन भौगोलिक इतिहास हेतु *एंशिअंट जियोग्राफी ऑफ़ महाराष्ट्रा* विषय पर शोध कार्य किया।

काणे ने भवभूति के *उत्तररामचरित* पर संस्कृत में नया भाष्य लिखा जिसका बाद में गुरुनाथ भट्टाचार्य विद्यानिधि ने बांग्ला में अनुवाद किया। 1910 में विश्वनाथ कविराज के *साहित्य दर्पण*, 1917 में बाण भट्ट के *हर्षचरित*; 1921 में बाण भट्ट की *कादंबरी*, 1926 में नीलकंठ भट्ट के *व्यवहारमयूख* और 1933 में ग्यारह पांडुलिपियों पर आधारित *कात्यायनस्मृति-सरोद्धरा* पर इसी नाम से लिखी गयी टीकाओं ने उनकी विद्वत्ता को अपार ख्याति दिलाई। 1951 में रची गयी दो भागों की *द हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स* शीर्षक शोध

प्रबंधिका को विद्वत्संसार में हाथो-हाथ लिया गया। इसके प्रथम भाग में अलंकारशास्त्र और उससे सम्बद्ध तत्त्वों की चर्चा की गयी है तथा दूसरे भाग में अलंकारशास्त्र के तहत आने वाले विषयों को विस्तार दिया गया है। इस प्रबंध में काणे ने दिखाया कि कैसे काव्यात्मकता के सिद्धांतों और साहित्यिक आलोचना का उद्भव हुआ। साथ ही उन्होंने काव्यात्मकता के सिद्धांतों के विभिन्न पहलुओं और भारत में साहित्यिक सिद्धांतों के इतिहास का सविस्तार वर्णन किया।

हालाँकि पांडुरंग वामन काणे ने प्राच्य-विद्या के क्षेत्र में विपुल योगदान किया, पर धर्मशास्त्रों पर किया गया उनका कार्य भारत-विद्या में उनका अतुलनीय योगदान माना जाता है। 1930 से 1962 के बीच लिखी गयी और पाँच भागों में प्रकाशित *द हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र : एंशिअंट ऐंड मेडिवल रिलिजंस ऐंड सिविल लॉ इन इण्डिया* प्राचीन और मध्यकालीन भारत में धर्म और नागरिक क़ानून की जानकारी और तथ्यों के विश्लेषण से लैस एक बेहतरीन ग्रंथ है। विस्तृत, वस्तुनिष्ठ और आलोचनात्मक होते हुए भी धर्मशास्त्रों से सम्बद्ध सभी सम्भव विषयों को समेटे हुए यह कृति ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और मानकों पर ख़रा उतरती है। यह ग्रंथ ईसापूर्व छठी शताब्दी से अठारहवीं सदी तक के बृहद् कालक्रम में रचित धर्मशास्त्रों और धर्मशास्त्र विवेचकों के विचारों का अप्रतिम संकलन है।

1930 में प्रकाशित इसके प्रथम भाग में मुख्यतः धर्म की अवधारणा और स्रोतों, धर्मशास्त्र की उत्पत्ति के कारणों तथा आवश्यकता, कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर चर्चा और पुराणों और महाकाव्यों का गहनता से अध्ययन मिलता है। 1941 में आये दूसरे खण्ड में समाज का वर्णों में विभक्त होना दिखाया गया है। साथ ही आश्रमों, संस्कारों, अस्पृश्यता, दासप्रथा और वैदिक बलि पर प्रकाश डाला गया है। 1946 में प्रकाशित तीसरे खण्ड में राजधर्म विषय पर विस्तृत विवरण के साथ व्यवहार, सदाचार और वर्जित तत्त्वों का विवेचन शामिल है। 1953 में प्रकाशित चौथे खण्ड में कर्मकाण्डीय जीवन की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इसमें पातक (पाप), प्रायश्चित्त, कर्माविपाका (अशुभ का परिपक्व होना), अंत्येष्टि, असौक (जन्म और मृत्यु के समय की अशुद्धि), शुद्धि, श्रद्धा और तीर्थयात्रा पर विशद चर्चा है। चौथे भाग के लिए काणे को 1956 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी मिला। आर.एन. दांडेकर ने इसे हिंदुओं के धार्मिक इतिहास से जुड़े वास्तविक तथ्यों, प्राचीन और मध्यकालीन भौगोलिक इतिहास तथा संस्कृत और सम्बद्ध विषयों का सापेक्ष और खरा कालक्रम दर्शाने वाली ज्ञान-संचयिका करार दिया है। *हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र* का पाँचवाँ और अंतिम खण्ड 1962 में प्रकाशित हो कर आया, पर व्रत, उत्सव, कला-दर्शन का सिद्धांत, प्राचीन ज्योतिष शास्त्र पर विचारों से सुसज्जित

इसका प्रथम भाग 1958 में ही छप गया था। दूसरा भाग 1962 में प्रकाशित हुआ जिसमें पुराण और धर्मशास्त्र, तंत्र और धर्मशास्त्र के साथ साथ पूर्व-मीमांसा दर्शन पर चर्चा की गयी है। ऐसे सर्वज्ञान विषयक विश्वकोश के मार्फत काणे एक समाज-सुधारक की भूमिका में अवतरित होते हैं। उन्होंने हिंदू लॉ के संहिताकरण की वकालत की। इस ग्रंथ के माध्यम से उन्होंने हिंदू समाज के तार्किक और ज़रूरी पुनर्निर्माण के लिए जो दिशा-निर्देश प्रदान किये वे युगीन आवश्यकतानुसार स्वस्थ और समृद्ध सांस्कृतिक चेतना और विकास के लिए लोकतंत्र और राष्ट्रवाद जैसी नवीन अवधारणाओं का भी समावेश करने की अपील करते हैं। नवीन राष्ट्र के रूप में भारत के सामने प्रमुख समस्या यह थी कि धर्म और पारम्परिक संस्कारों का नवीन राज-व्यवस्था से किसी तरह के टकराव और अंतर्विरोध कैसे टाला जाए। इसी मकसद से तत्कालीन भारत को नये सिद्धांतों और मूल्यों की आवश्यकता भी थी।

धर्मशास्त्र की गहरी पकड़ और अपनी विधिक पृष्ठभूमि ने पांडुरंग वामन काणे को हिंदू लॉ से जुड़े कई ग्रंथों की रचना के लिए प्रेरित किया। *धर्मशास्त्र-विचार* (1935), *वैदिक बेसिस ऑफ़ हिन्दू लॉ* (1936), और *हिंदू कस्टम्स ऐंड माडर्न लॉ* (1950) उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। मराठी में *धर्मशास्त्र-विचार*, *पूर्वमीमांसापद्धतिचा इतिहास*, *संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास* और हिंदी में *संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास* उनकी महती अनूदित कृतियाँ हैं। भाऊ दाजी लाड विशेषांक, डी.डी. कोसम्बी स्मृति ग्रंथ, डॉ. एच.डी. वेलंकर मेमोरियल ग्रंथ और 1944 से *जर्नल ऑफ़ द मुम्बई ब्रांच ऑफ़ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी* के सफल और निरंतर सम्पादन द्वारा काणे ने स्वयं को समर्थ सम्पादक के रूप में स्थापित किया।

प्राचीन भारतीय साहित्य के क्षेत्र में गहरी रुचि, अप्रतिम पांडित्य और प्राच्य-विद्या में किये गये अथक अनुसंधान एवं पर्यवेक्षण तथा संस्कृत में सिमटे विस्तृत ज्ञान के पिटारे को अन्य भाषाओं में प्रस्तुत कर काणे ने उसे जनसुलभ कराया। 1942 में उन्हें महामहोपाध्ययय विरुद से विभूषित किया गया। 1942 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1960 में पुणे विश्वविद्यालय और मुम्बई विश्वविद्यालय ने उन्हें ऑनरेरी डाक्टरेट से सम्मानित किया। 1946 में वे नागपुर में हुए आल इण्डिया ओरिएंटल कांफ़्रेंस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1947 से 1949 के दौरान वे मुम्बई युनिवर्सिटी के कुलपति रहे। 1953 में काणे इण्डियन हिस्ट्री कांफ़्रेंस के अध्यक्ष चुने गये। काणे 1948, 1951 और 1954 में इंटरनैशनल कांफ़्रेंस ऑफ़ ओरिएंटलिस्ट्स में भारत सरकार के प्रतिनिधि के तौर पर शामिल हुए। 1951 में उन्हें लंदन स्कूल ऑफ़ ओरिएंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज द्वारा फ़ेलोशिप प्रदान की

गयी। अकादमिक जीवन में उनके योगदान के लिए भारत सरकार द्वारा उन्हें राज्य सभा सदस्य के रूप में मनोनीत किया। संस्कृत ज्ञान के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए 1958 में सर्टिफिकेट ऑफ़ मैरिट से सम्मानित किया गया। भारत सरकार ने उन्हें 1959 में मुम्बई युनिवर्सिटी के एलफ़िंस्टन कॉलेज में नैशनल प्रोफ़ेसर ऑफ़ इण्डोलॉजी नियुक्त किया। और, इन सब से बढ़ कर संस्कृत के विद्वान, शोधार्थी, शिक्षाशास्त्री और समाजसुधारक पांडुरंग वामन काणे को 1963 में भारत सरकार ने देश के सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से अलंकृत किया।

1974 में प्राच्य विषयों में शोध को बढ़ावा देने के लिए एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ मुम्बई ने महामहोपाध्याय डॉ. पी.वी. काणे इंस्टिट्यूट ऑफ़ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ एंड रिसर्च की स्थापना की। काणे गोल्ड मेडल पुरस्कार की शुरुआत हुई जिसे प्राच्य-विद्या, विशेषकर वेद, धर्मशास्त्र और अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में विशिष्ट शोध के लिए एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ मुम्बई की तरफ़ से प्रदान किया जाता है। समाज सुधार के क्षेत्र में व्यापक बुद्धिवादी तर्कणा पद्धति के महारथी इस महान प्राच्यविद्, शोधार्थी और शिक्षाशास्त्री का निधन 18 अप्रैल, 1972 को हुआ।

देखें : भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, पांडुरंग वामन काणे, रामकृष्ण भंडारकर, काशी प्रसाद जायसवाल, रणजीत गुहा, काशीनाथ विश्वनाथ रजवाड़े।

संदर्भ

1. राम शरण शर्मा (2005), *इण्डियाज़ एंशिपंट पास्ट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. एस.एन. गजेंद्रगडकर (सम्पा.) (1974), *पी.वी. काणे कॉमेमोरेशन मोनोग्राफ़*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मुम्बई प्रेस, मुम्बई,
3. एस.वी. वेलंकर (1960), *जीवन संग्रह: अ लिरिकल होमेज टू डॉ. पी.वी. काणे*, ब्राह्मण सभा, मुम्बई.
4. एस. पी. सेन (सम्पा.) (1973), *डिक्शनरी ऑफ़ नैशनल बायोग्राफी*, इंस्टिट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल स्टडीज़, कोलकाता, खण्ड 3.
5. रामशरण शर्मा (1983), *मैटेरियल कल्चर एंड सोशल फार्मेशन इन एंशिपंट इण्डिया*, मैकमिलन, नयी दिल्ली.
6. ए. दत्त (सम्पा.) (1989), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, साहित्य अकादेमी*, खण्ड 3, नयी दिल्ली.

—निर्मल कुमार पाण्डेय

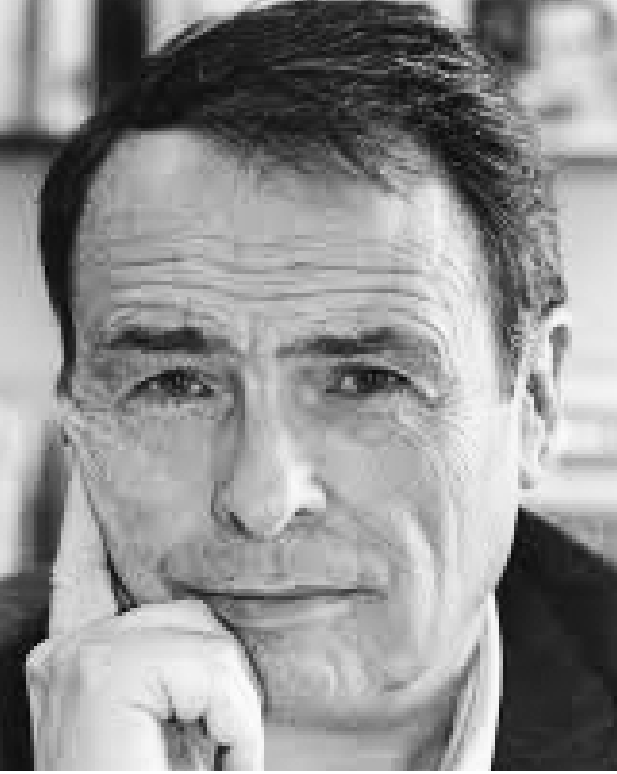
पिएर बोर्दियो

(Pierre Bourdieu)

सामाजिक जीवन में सत्ता संबंधों की रूपरेखा पर रोशनी डालने वाले फ्रांसीसी चिंतक पिएर बोर्दियो (1930-2002) को संस्कृति और शिक्षा के समाजशास्त्रीय पहलुओं के अध्ययन में नयी ज़मीन तोड़ने का श्रेय जाता है। सांस्कृतिक मानवविज्ञान और समाजशास्त्र के औज़ारों का इस्तेमाल करते हुए बोर्दियो ने इन अनुशासनों को वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता की अतियों से बचाने पर जोर दिया। वस्तुनिष्ठता पर बले देने वाले विद्वानों का आग्रह था कि समाज को एक ऐसी विशुद्ध बाह्य शक्ति की तरह समझा जाना चाहिए जो मानवीय कर्ता की गतिविधियों को निर्धारित करती है। दूसरी तरफ़ आत्मनिष्ठता की वकालत करने वालों का विचार था कि मानवीय कर्ता के पास ही सार्थक सामाजिक पहलक़दमी के ज़रिये नयी संरचनाएँ रचने की क्षमता होती है। इन दोनों रवैयों से ख़ुद को अलग करते हुए बोर्दियो ने सर्वेक्षण आधारित अनुसंधान और मानकीय सैद्धांतिक चिंतन का साथ-साथ प्रयोग किया। उन्होंने 'हैबिटस' और 'फ़्रील्ड' की अवधारणाओं का विकास किया।

बोर्दियो के लिए हैबिटस का मतलब था आजीवन ज्ञानार्जन और समाजीकरण की प्रक्रिया के ज़रिये बनी व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ; और फ़्रील्ड का मतलब था सामाजिक परिस्थिति का वस्तुनिष्ठ यथार्थ। हैबिटस के माध्यम से उन्होंने मानवीय कर्ता की गहराइयों में झाँक कर देखा कि उसे अपनी इन्हीं मनोवृत्तियों के कारण किसी निर्धारित सामाजिक व्यवहार की श्रेणी में नहीं घटाया जा सकता। यही मनोवृत्तियाँ उसे वह लचीलापन प्रदान करती हैं जिनके सहारे वह किसी परिस्थिति में अपनी गतिविधियाँ करता है। फ़्रील्ड की अवधारणा के माध्यम से बोर्दियो ने दिखाया कि सामाजिक परिस्थिति राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के आपसी संबंधों से मिल कर बनी होती है। ये संबंध उन अवस्थितियों में मौजूद रहते हैं जो कर्ता अपने लिए बनाता है। फ़्रील्ड में काम करते हुए कर्ता इन संबंधों को क्रायम भी रखता है और बदलता भी है। बोर्दियो ने इसके लिए महान आधुनिकतावादी चित्रकार माने का उदाहरण दिया कि किस तरह एक कर्ता के रूप में उसने अपने फ़्रील्ड के लिए लाक्षणिक समझे जाने वाले संसाधनों का इस्तेमाल भी किया और उनसे संघर्ष भी। इस प्रक्रिया में माने को चित्रकला जगत के स्थापित अकादमीय मानकों को बदलने में कामयाबी मिली।

बोर्दियो के समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि संस्कृति को एक भौतिक शक्ति के रूप में व्याख्यायित करके



पिएर बोर्दियो (1930-2002)

सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा का विकास है। साठ के दशक के आखिरी वर्षों में नव-मार्क्सवादी सोच के दायरे में काम करते हुए बोर्दियो ने वर्ग-रचना की प्रक्रिया में सामाजिक पूँजी के साथ-साथ सांस्कृतिक ज्ञान और अभिरुचियों की भूमिका की भी जाँच-पड़ताल की। अपने साथी विद्वान ज्याँ-क्लॉड पासरसन के साथ उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न पीढ़ियों के बीच सत्ता और विशेष सुविधाओं का हस्तांतरण सांस्कृतिक पूँजी के रूप में होता है। बोर्दियो ने यह अवधारणा पूँजीपति वर्ग पर ही लागू नहीं की, बल्कि मध्य और उच्च वर्ग के बीच सत्ता और हैसियत के वितरण को भी इसी के ज़रिये समझने की कोशिश की। सांस्कृतिक पूँजी के प्रभाव को रेखांकित करने के लिए उन्होंने समाजशास्त्र की क्लासिक तकनीक का इस्तेमाल करते हुए बड़े पैमाने के सामाजिक सर्वेक्षण किये। हालाँकि उन दिनों फ्रांसीसी गणराज्य में मैरिट संबंधी मूल्य प्रचलित थे, पर बोर्दियो ने तर्क दिया कि जिन लोगों के पास पहले से ही सुविधासम्पन्न पारिवारिक पृष्ठभूमि होती है वे कथित रूप से योग्यता आधारित शिक्षा प्रणाली का लाभ उठाने के मामले में फायदे में रहते हैं। शिक्षा और घरेलू पृष्ठभूमि का मिला-जुला प्रभाव उनके लिए कुछ ऐसी अभिरुचियों और प्राथमिकताओं के विकास में सहायक होता है जिनके आधार पर 'मँझोले स्तर' की या 'मज़दूर-वर्गीय' के बरक्स एक तरह की 'वैध संस्कृति' परिभाषित होती है। यह सांस्कृतिक पूँजी एक पीढ़ी

से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा सकती है। इसके आधार पर आर्थिक लाभ भी प्राप्त होता है। हालाँकि इन उच्चस्तरीय सांस्कृतिक अभिरुचियों की रचना सामाजिक रूप से होती है, पर वर्ग-व्यवस्था के प्रभाव में इन्हें कुछ विशेष वर्गों के लिए नैसर्गिक गुणों की तरह देखा जाता है।

बोर्दियो के इस प्रतिपादन से पहले समाजशास्त्री एमाइल दुर्खाइम अपने अवलोकनों के ज़रिये सामाजिक पूँजी की अवधारणा के सूत्रीकरण के लिए रास्ता साफ़ कर चुके थे। उन्होंने मैकेनिकल और ऑर्गेनिक सामाजिक एकजुटता की व्याख्या की थी। इसी विचार को बोर्दियो भिन्न दिशा में ले गये और इसके आधार पर समाज में सामाजिक-आर्थिक ग़ैर-बराबरी के पुनरुत्पादन की व्याख्या की। बोर्दियो ने अपने साथी लोइक वाकाँ के साथ प्रकाशित रचना में लिखा कि सामाजिक पूँजी ऐसे वास्तविक और निराकार संसाधनों का योगफल है जो किसी व्यक्ति या समूह को किसी सामाजिक नेटवर्क की सदस्यता की बदौलत हासिल होते हैं। ये नेटवर्क आपसी जान-पहचान के कमोबेश संस्थागत रूप ले चुके संबंधों के ज़रिये टिके रहते हैं। व्यक्ति अपनी सामाजिक पूँजी के आधार पर हासिल की गयी उस सामाजिक-आर्थिक हैसियत को अगली पीढ़ी के हवाले कर पाता है जो उसने प्रभावशाली परिजनों, महँगे स्कूलों में पढ़ने वाले अपने सहपाठियों और किसी खास क्लब के साथी सदस्यों की सोहबत के बदौलत हासिल की होती है। इस सामाजिक पूँजी को लगातार प्रासंगिक और प्रभावी रखने के लिए व्यक्ति आपसी मेल-जोल में अपने समय का योजनाबद्ध निवेश करता है।

सामाजिक पूँजी से सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा निकाल लेना संस्कृति संबंधी चिंतन के संदर्भ में एक रैडिकल उपलब्धि थी। क़रीब सौ साल पहले अंग्रेज़ शिक्षाशास्त्री और लेखक मैथ्यू अरनॉल्ड अपनी रचना *क्लचर एंड एनार्की* (1869) में तर्क दे चुके थे कि तेज़गति से हो रहे उद्योगीकरण, शहरीकरण और जन-साधारण द्वारा नागरिक अधिकारों की माँग से पैदा हुई बेचैनियों का निवारण सौंदर्यमूलक संस्कृति के उच्चतम रूपों के प्रचार-प्रसार से ही किया जा सकता है। अरनॉल्ड ने सुशिक्षित अभिजनों पर ज़िम्मेदारी डाली थी कि वे सामाजिक उथल-पुथल को शांत करने के लिए लोगों को सभ्य बनाने की मुहिम पर निकल जाएँ और इसके लिए सांस्कृतिक अभिरुचियों के विकास को औज़ार की तरह इस्तेमाल किया जाए। इस स्थापित विचार के मुकाबले बोर्दियो का सूत्रीकरण बताता था कि सौंदर्यमूलक उपलब्धियाँ अपने-आप में स्वयं-सिद्ध न हो कर वर्ग-संघर्ष का प्रत्यक्ष फलितार्थ होती हैं। लेकिन वर्ग-व्यवस्था इस हकीकत को छिपा कर उन्हें एक तटस्थ क्रिस्म की नैसर्गिक खूबी और योग्यता का जामा पहना देती है।

बोर्दियो ने दिखाया कि बाख के संगीत और उत्तर-अनुभववादी कला का आनंद लेने की क्षमता या स्कीइंग का मजा लेने की खूबी अपने-आप में किसी नैसर्गिक श्रेष्ठता का द्योतक नहीं है, बल्कि ये तमाम बातों को संकेतक की तरह इस्तेमाल करने के जरिये एक खास तरह का सामाजिक समूह अपनी आंतरिक एकजुटता और दूसरे समूहों पर अपना रुतबा कायम रखता है। यह प्रक्रिया न केवल वर्गों के बीच चलती है, बल्कि वर्गों के भीतर भी चलती है। महँगे अभिजन स्कूलों में पढ़े उच्चवर्गीय लोग हमेशा बाख का क्लासिकल संगीत सुनना-सुनाना पसंद करेंगे, जबकि अच्छी शिक्षा से वंचित रहने वाले मजदूर वर्ग की संगीत संबंधी अभिरुचियाँ अपेक्षाकृत भेदस क्रिस्म की होंगी।

बोर्दियो ने अपना फ्रील्ड-वर्क साठ के दशक में किया था। वे यह मान कर चले थे कि उच्च-भ्रू पूँजीवादी संस्कृति की श्रेष्ठता का विचार काफ़ी टिकाऊ साबित होगा। लेकिन उनकी यह पूर्वधारणा सही नहीं निकली। बीसवीं सदी में ही बाद के वर्षों के दौरान बेहद बहुलतावादी लोकप्रिय संस्कृति के परिदृश्य का विकास हुआ। एक अपेक्षाकृत खुले बाजार में संस्कृति का उद्योग उभरा जिसके तहत भिन्न क्रिस्म की सांस्कृतिक अभिरुचियाँ सभी के लिए उपलब्ध होने लगीं। दरअसल इस नये नज़ारे ने अभिरुचियों का सवाल अस्पष्ट कर दिया। हर वर्ग से आने वाले युवजन तरह-तरह की सांस्कृतिक अस्मिताओं के साथ प्रयोगरत हो गये। इससे उच्च-भ्रू और निम्न संस्कृति के रूपों के बीच वर्गीय फासले की धारणा पहले की तरह वैध नहीं रह गयी। बोर्दियो के सूत्रीकरण की दूसरी समस्या यह थी कि उन्होंने मजदूर वर्ग को सांस्कृतिक रूप से निष्क्रिय भी मान लिया था। कुछ समकालीन समाजशास्त्रियों ने यह भी कहा है कि वर्ग को समाज व्यवस्था का आधार मानने का मार्क्सवादी विचार अब पुराना पड़ चुका है। चूँकि बोर्दियो की अवधारणा इसी पर टिकी है, इसलिए उनकी प्रस्थापनाओं की दोबारा जाँच की जानी चाहिए।

इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद बोर्दियो द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक पूँजी का सिद्धांत आज भी समाज-विज्ञान के हलकों में प्रभावी बना हुआ है। हालाँकि बोर्दियो ने अपने विश्लेषण में जेंडर के प्रश्न को नज़रअंदाज़ कर दिया था, पर नारीवादी विद्वानों ने उनकी अंतर्दृष्टियों का लाभ उठाते हुए उस सांस्कृतिक पूँजी को रेखांकित करने का प्रयास किया है जिसके कारण पितृसत्ता को अपना पुनरुत्पादन करने में आसानी होती है। सत्तर और अस्सी के दशकों में शिक्षा के समाजशास्त्र पर बोर्दियो के विचारों का काफ़ी असर रहा। कई समाजशास्त्री आज भी मानते हैं कि संस्कृति को एक भौतिक शक्ति के रूप में व्याख्यायित करने की अहमियत अभी ख़त्म नहीं हुई है।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफ़र्ड गीट्ज़, जॉर्ज जिमेल, टैलकॉर्ट पार्संस, डेविड एमील दुर्खाइम, फ्रेंज़ उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. पिएर बोर्दियो (1986), *डिस्टिक्शन : अ सोशल क्रिटीक ऑफ़ द जजमेंट ऑफ़ टेस्ट, रॉटलेज*, लंदन.
2. पिएर बोर्दियो और ज्यॉ-क्लॉद पासरसन (1973), *रिप्रोडक्शन इन एजुकेशन, सोसाइटी ऐंड कल्चर*, सेज, लंदन.
3. जेरेमी एफ. लेन (2000) *पिएर बोर्दियो : अ क्रिटीकल इंटरडक्शन*, प्लूटो प्रेस, लंदन.
4. डेरक रोबिंस (2000), *बोर्दियो ऐंड कल्चर*, सेज, लंदन, 2000
5. पिएर बोर्दियो और लोइक वार्को, (1992) *ऐन इनविटेशन टु रिफ्लेक्सिव सोसियोलॉजी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

पितृसत्ता

(Patriarchy)

पितृसत्ता का शाब्दिक अर्थ है 'पिता का शासन' और उस पर पुत्र या किसी अन्य पुरुष का उत्तराधिकार। यहाँ पिता का अर्थ जैविक पिता से तो है ही (जैसे कि परिवार की इकाई) और किसी सामाजिक इकाई (जैसे कोई समुदाय या क़बीला) के पुरुष-मुखिया से भी है। समाजशास्त्र इस अभिव्यक्ति का प्रयोग लैंगिक-संबंधों की एक प्रणाली के लिए करता है जिस पर जेंडर-विषमता हावी रहती है। ये विषम लैंगिक संबंध सभी तरह की सामाजिक संस्थाओं और संरचनाओं में अंतर्निहित होते हैं। राजनीतिशास्त्र में सत्रहवीं सदी के दौरान पैट्रियारकलिज़म की चर्चा मिलती है जिसके ज़रिये राजाओं की परमसत्ता और उनके दैवी अधिकार का बचाव किया गया था। राज्य के उदारतावादी सिद्धांत को इसी पैट्रियारकलिज़म से संघर्ष करना पड़ा था। लेकिन समाज-विज्ञान की इन प्रवृत्तियों से अलग बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों से लेकर अब तक नारीवादी विदुषियों ने इस अवधारणा पर चिंतन करके उसके अर्थों पर नाटकीय प्रभाव डाला है। नारीवाद के प्रभाव में पितृसत्ता सभी पहलुओं को अपने आगोश में समेट लेने वाली एक ऐसी सामाजिक प्रणाली का पर्याय बन गयी है जिसके तहत सभ्यता की शुरुआत से ही स्त्रियों पर विभिन्न ढंग से पुरुष-प्रभुत्व थोपा जाता रहा है। स्त्री-अध्ययन और

जेंडर-अध्ययन के लिए पितृसत्ता एक बुनियादी विचार है। नारीवाद ने इसके इर्द-गिर्द कई सवाल उठाये हैं। मसलन, क्या पितृसत्ता एक प्रणाली है जिसे लागू किया जाता है या एक संरचना है जिसे कोई व्यक्ति चाहे-अनचाहे अपना सकता है? क्या इसे विशेष सुविधाओं और सत्ता पाने की सचेत कोशिशों के परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए? क्या पितृसत्ता पुरुष के अस्तित्व में नैसर्गिक रूप से निहित है या यह एक मूल्य-प्रणाली जिसे कुछ स्त्रियाँ भी अपना सकती हैं और कुछ पुरुषों द्वारा इसे ठुकराया भी जा सकता है?

पितृसत्ता पर हुए विमर्श से कई तरह के सिद्धांत निकले हैं जिनमें तीन सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं : रैडिकल फ़ेमिनिस्ट, मार्क्सिस्ट फ़ेमिनिस्ट और द्वि-प्रणाली सिद्धांत। पितृसत्ता के भारतीय संस्करण का भी सूत्रीकरण किया गया है जिसमें जातिगत संरचनाओं के प्रभाव को केंद्रस्थ किया गया है। रैडिकल नारीवादियों के लिए पितृसत्ता वह मुख्य विभाजक रेखा है जिसके इधर-उधर समाज बँटा हुआ है। इस थियरी के अनुसार पुरुष-प्रभुत्व परिवार की संस्था के जरिये स्थापित किया जाता है। कुछ रैडिकल नारीवादी स्त्री-पुरुष की इस विषमता की जड़ दोनों की अलग-अलग जैविक संरचना और प्रजनन-क्षमता से दोनों के अलग-अलग रिश्ते में तलाशते हैं। कुछ ने स्त्री की सेक्शुअलिटी पर पुरुष के नियंत्रण को प्रमुख कारण करार दिया है। मार्क्सवादी नारीवादियों का विचार है कि पितृसत्ता पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली का नतीजा है। उनके लिए स्त्री की अधीनता पूँजी द्वारा श्रम की अधीनता का ही उप-उत्पाद है। अर्थात् वर्ग-विषमता ही जेंडर-विषमता का निर्धारण करती है। मार्क्सवादी और समाजवादी नारीवाद अपने सिद्धांतों के लिए बहुत-कुछ फ्रेड्रिख एंगेल्स की रचना *परिवार, निजी सम्पत्ति और राजसत्ता का उदय* पर निर्भर है। अपनी इस विख्यात पुस्तक में एंगेल्स ने अमेरिकी मानवशास्त्री लेविस हेनरी मॉर्गन की रचना *एंशिएंट सोसाइटी* की मदद से दिखाया है कि किस तरह पुरुष ने निजी सम्पत्ति और उत्पादन के अधिशेष पर नियंत्रण करके राज्य और पितृसत्तात्मक व्यवस्था क्रायम की। एंगेल्स के अनुसार आदिम समाज में स्त्रियों की ज़िम्मेदारी जीवन का उत्पादन करने की थी, और पुरुष का काम जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करना था। द्वि-प्रणाली सिद्धांत मार्क्सवादी और रैडिकल नारीवाद का संश्लेषण है। इस नज़रिये का उभार वर्ग को सर्वोच्च महत्त्व देने वाले मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आलोचना से हुआ है। यह नज़रिये रैडिकल फ़ेमिनिस्टों को भी जैविक भिन्नता को अत्यधिक महत्त्व देने के लिए आड़े हाथों लेता है। यह सिद्धांत स्त्री की अधीनस्थता के लिए पितृसत्ता और पूँजीवाद को बराबर का ज़िम्मेदार मानता है।

नारीवादी विमर्श की दुनिया पितृसत्ता के सवाल पर होने वाली बहसों और आलोचना-प्रत्यालोचनाओं से भरी हुई है। पितृसत्ता की ऐसी व्याख्याएँ भी हैं जिनमें लैंगिक-संबंधों की

रचना में इतिहास और संस्कृति के विकास के साथ आने वाले परिवर्तनों की अनदेखी की गयी है। इन व्याख्याओं के लिहाज से पितृसत्ता सभी जगह सभी कालावधियों में एक ही है। कुछ अन्य व्याख्याओं में पितृसत्ता को किसी एक कारक (जैसे, जैविकी, पूँजीवाद या परिवार) में ही सीमित कर दिया गया है। लैंगिक-संबंधों की सभी क्रिस्मों (जैसे समलैंगिकता) को नज़रअंदाज़ करने वाली पितृसत्ता की परिभाषाएँ भी हैं जो उसे केवल स्त्री-पुरुष संबंधों की रोशनी में ही देखती हैं। पितृसत्ता की कुछ ऐसी परिभाषाएँ भी हैं जो सिर्फ संरचनाओं पर ही जोर देती हैं और व्यक्तियों की भूमिका उनके विश्लेषण के दायरे में नहीं आती।

इन व्याख्यागत खामियों से बचने के लिए सिल्विया वाल्ब ने पितृसत्ता के छह मुख्य मुकाम निर्धारित किये हैं : घरेलू उत्पादन, वेतनभोगी स्त्री-श्रम, राज्य, पुरुष-हिंसा, सेक्शुअलिटी और संस्कृति। वाल्बी की थियरी में पितृसत्ता को ऐतिहासिक विकास के मुताबिक समझने का लचीलापन भी है। हाल ही में पुरुष-अध्ययन ने पितृसत्ता पर गौर करते हुए पाया है कि समाज में पितृसत्तात्मक लाभ विभिन्न लैंगिक संरचनाओं में समान रूप से बँटने के बजाय विभेदित तरीके से वितरित होते हैं। बॉब कॉनेल ने पितृसत्तात्मक लाभ पैदा करने वालों का एक जेंडर-पदानुक्रम बनाया है जिसके मुताबिक पुरुषों की ऐसी श्रेणियाँ (जैसे काले पुरुष और समलैंगिक पुरुष) भी हैं जिन्हें ये लाभ न के बराबर ही नसीब हो पाते हैं।

पितृसत्ता का इतिहास : नारीवादी विदुषियों ने पितृसत्ता का इतिहास रचने के लिए ज़बरदस्त बौद्धिक परियोजनाएँ चलायी हैं। उन्होंने पता लगाने की कोशिश की है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था का आधार क्या है और स्त्री-शोषण का उद्भव कब हुआ। उन्होंने पूछा है कि क्या मानव इतिहास के प्रारम्भिक दौर से ही स्त्री का शोषण होता आया है, या निजी सम्पत्ति, राज्य और कृषि के विकास के बाद से यह सिलसिला शुरू हुआ है। प्रमुख मार्क्सवादी फ़ेमिनिस्ट मानवशास्त्री इलीनर लीकाँक ने दिखाया है कि इरॉक्विस जनजाति स्त्री-पुरुष समानता में आस्था रखने वाला समुदाय था। यहाँ तक कि अट्टारहवीं सदी तक में कई ऐसे समुदाय थे जिनमें स्त्री का वर्चस्व होता था। उन्नीसवीं सदी के बाद पुरुष-सत्ता की शुरुआत युरोपियन व्यापार के प्रभाव में हुई।

गर्डा लर्नर की पुस्तक *क्रिएशन ऑफ़ पैट्रियार्की* पहला नारीवादी इतिहास है जो राज्य के उदय का विश्लेषण करता है। गर्डा लर्नर पुरातात्विक तथा लिखित साक्ष्यों के आधार पर 3500 से 500 सदी ईसा-पूर्व के मध्य पितृसत्ता का विकासक्रम समझने के लिए मेसोपोटैमियन, सुमेरियन, अकेडियन, बेबिलोनियन और हिब्रू सभ्यता का विश्लेषण करती हैं। उन्होंने पितृसत्तात्मक व्यवस्था के उदय और राज्य एवं वर्ग के साथ उसके संबंधों की व्यापक तस्वीर प्रस्तुत की है। गर्डा लर्नर ने मेसोपोटैमियन राज्य के तहत चौथी सदी ईसा-पूर्व में

पितृसत्तात्मक व्यवस्था/जेंडर संबंधों के उदय पर प्रकाश डाला है। लर्नर ने मानवशास्त्री क्लॉड मीलासू द्वारा विकसित मॉडल के आधार पर समकालीन समाजों का अध्ययन करके उसे निओलिथिक अवधि पर लागू किया है। सार रूप में लर्नर बताती हैं कि किस तरह प्रारम्भ में जैविक भिन्नता के आधार पर काम का बँटवारा किया गया, परंतु जैसे ही कृषि युग का प्रारम्भ हुआ इसने पुरुषों को यह अवसर प्रदान किया कि वह स्त्री पर नियंत्रण क्रायम कर लें। बड़ों ने बच्चों पर और मर्द ने स्त्री पर नियंत्रण क्रायम करना शुरू किया। इस पितृवंशीय परम्परा में स्त्रियों का आदान-प्रदान होने लगा। इस तरह लर्नर ने 8000-3000 ईसा-पूर्व से पितृसत्ता का उद्भव माना है।

गर्डा लर्नर 3500-3000 ईसा-पूर्व के बाद मेसोपोटैमियन समाज (सुमेरियन तथा अन्य समाजों के माध्यम से भी) के जरिये कई मातृवंशीय समाजों और धर्म के जरिये मातृ देवियों की जानकारी देती हैं। वे विभिन्न सबूतों के जरिये साबित करती हैं कि पहली सहस्राब्दी के प्रारम्भ में स्त्रियों की स्थिति तुलनात्मक रूप से बेहतर थी। उस जमाने में मातृवंशीयता के प्रमाण भी मिलते हैं, उस समय में रानियों तथा कुलीन/सामंत स्त्रियों के पास कुछ अहम शक्तियाँ भी थीं। बड़ी संख्या में मातृ देवियों के प्रमाण भी मिलते हैं। जाहिर है कि उस समय तक स्त्रियों की यौनिक अधीनता स्थापित नहीं हुई थी। लेकिन धीरे-धीरे पितृसत्ता क्रायम हुई और स्त्रियों की यौनिकता का उपयोग मन्दिरों में देवदासी के रूप में होने लगा। उनकी भूमिकाएँ भी अलग-अलग खाँचों में बँटने लगीं। पत्नी, उपपत्नी, दासी या वेश्या के रूप में वे अपनी भूमिका का निर्वाह करने लगीं। गर्डा लर्नर ने दासता के मुद्दे को खास तौर से उठाया है। वे दासता के कारणों को स्त्री-उत्पीड़न के जरिये समझती हैं। लर्नर बताती हैं कि हम्मूराबी की कानून संहिता (1752 ईसा-पूर्व) के 282 में से 73 तथा मध्य आर्य कानून के 112 में से 59 कानून विवाह तथा यौनिकता के मुद्दे से जुड़े हुए हैं। इनके कारण परिवार की व्यवस्था में न सिर्फ पुरुषों की शक्ति बढ़ी, बल्कि उन्होंने अपनी पत्नियों, रखैलों और गुलामों के यौनिक व्यवहारों को भी सूत्रबद्ध किया।

गर्डा लर्नर के अनुसार पुरुषों का वर्ग इस बात से निर्धारित होता था कि उनका उत्पादन के साधनों के साथ क्या संबंध हैं। जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण था उनका प्रभुत्व भी था। जिनके पास साधन नहीं थे, उनका प्रभुत्व भी नहीं था। स्त्रियों के लिए उत्पादन के साधनों तक पहुँच तब सुनिश्चित होती जब वे किसी पुरुष के साथ संबंध बनाती थीं। अच्छी और बुरी औरत का संस्थानीकरण उसके पर्दा रखने और न रखने के आधार पर किया जाने लगा था। पूर्वी समाजों में एक मजबूत और साम्राज्यवादी शासन की स्थापना के बाद मातृ देवियों का स्थान धीरे-धीरे पितृ देवताओं ने ले लिया। देवी की प्रजनन क्षमता नियंत्रित करने के लिए पूर्व में प्रतीकात्मक रूप से पुरुष देवताओं या भगवान की शादी देवी से किये जाने की

प्रथा का प्रारम्भ हुआ। कामुकता और प्रजनन के लिए अलग-अलग देवियों का जिक्र होने लगा। स्त्रियों की यौनिकता को पाप और बुराई के साथ जोड़ कर देखे जाने की धारणा का विकास हुआ। गर्डा लर्नर के इस विमर्श ने पितृसत्ता की मूल संरचना एवं उसके कारणों पर काफ़ी प्रकाश डाला है।

भारतीय संदर्भ में पितृसत्ता के सूत्रीकरण में जाति का आईना महत्वपूर्ण है। समाज जातियों में बँटा है और पितृसत्ताओं की प्रकृति भी उसी के मुताबिक अलग-अलग है। प्राचीन भारत के इतिहास का हवाला देते हुए पितृसत्ता के एक प्रधान ब्राह्मणवादी संस्करण को भी रेखांकित किया गया है। वी. गीता के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में जेंडर और नातेदारी कुछ इस तरह से अंतर-संबंधित हैं कि स्त्री एक नागरिक के तौर पर अपनी अस्मिता खो देती है। लोकतांत्रिक राज्य-व्यवस्था पर स्त्रीत्व और सेक्सुअलिटी के साथ-साथ नातेदारी-संरचना से जुड़े आग्रह हावी हैं जो स्त्री को स्वतंत्र रूप से अपनी सामाजिक भूमिका चुनने से रोकते हैं। बलात्कार और यौन-उत्पीड़न की घटनाओं को स्त्री की दैहिक अस्मिता के अतिक्रमण की तरह न देख कर उसकी पवित्रता और कुँवारेपन के खात्मे की तरह देखा जाता है। वी. गीता के अनुसार भारत में पूँजीवाद और स्त्रियों की अधीनस्थता के बारे में होने वाली बहसें अक्सर आधुनिक राज्य की भूमिका और विकास के इर्द-गिर्द हो जाती हैं। नतीजा यह निकला है कि राज्य को एक तरफ तो पितृसत्तात्मक ठहराया जाता है, और दूसरी तरफ उसमें पितृसत्ता को चुनौती देने की सम्भावनाएँ भी देखी जाती हैं।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरै, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. सिल्विया वाल्ब (1990), *थियराइजिंग पेट्रियार्की*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
2. वी. बीची (1979), 'ऑन पेट्रियार्की', *फेमिनिस्ट रिव्यू* 3.
3. गर्डा लर्नर (1987), *क्रिएशन ऑफ़ पेट्रियार्की*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, यूएसए.
4. वी. गीता (2008), *पेट्रियार्की*, शृंखला सम्पा. मैत्रेयी कृष्णराज, स्त्री, कोलकाता.

— अभय कुमार दुबे और सुप्रिया पाठक

पियरो स्राफ़ा

(Piero Sraffa)

इतालवी अर्थशास्त्री पियरो स्राफ़ा (1898-1983) नव-रिकार्डोवादी स्कूल के प्रमुख अर्थशास्त्री माने जाते हैं। उनका पहला योगदान तो यह है कि उन्होंने मूल्य के सीमांतीय सिद्धांत को तार्किक असंगतियों का शिकार करार दिया। दूसरे, उन्होंने पारम्परिक आर्थिक सिद्धांत की आलोचना की। अल्फ्रेड मार्शल द्वारा किये गये आपूर्ति के विश्लेषण की जगह उन्होंने इजारेदारी होड़ के मॉडल के लिए रास्ता साफ़ किया और डेविड रिकार्डो के मूल्य सिद्धांत और अधिशेष की क्लासिकल धारणा को आधार बनाते हुए मूल्य का एक अलग और नया सिद्धांत विकसित करने की कोशिश की। स्राफ़ा अपने पिता के एक दोस्त के ज़रिये लंदन में जॉन मेनार्ड कीस के सम्पर्क में आये और 1922 में उन्हीं के निमंत्रण पर इतालवी बैंकिंग पर दो लेख लिखे। इतालवी बैंक के दिवालियेपन आधारित एक लेख कीस द्वारा सम्पादित *इकॉनॉमिक जर्नल* में प्रकाशित हुआ। दूसरा *मैचेस्टर गार्जियन* में छपा जिसमें स्राफ़ा ने इतावली बैंकों द्वारा अपनी हालत की रपट देने वाली प्रक्रिया और सरकार द्वारा इस प्रक्रिया की निगरानी के तौर-तरीकों की आलोचना की थी। जैसे ही इन लेखों का इतालवी समेत चार अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ, मुसोलिनी की निगाह उन पर पड़ी। लेख पढ़ कर मुसोलिनी की नाराज़गी की ठिकाना न रहा। उसने स्राफ़ा के लेखों को इतालवी वित्तीय व्यवस्था की पीठ में छुरा भोंकने जैसी हरकत करार दिया और माँग की कि स्राफ़ा अपनी आलोचना को पूरी तरह से वापस लें। स्राफ़ा इस दबाव के सामने नहीं झुके, और मुसोलिनी का गुस्सा शांत होने तक उन्होंने इटली के बाहर रहना पसंद किया।

पियरो स्राफ़ा का जन्म ट्यूरिन, इटली के एक धनी और गणमान्य यहूदी परिवार में हुआ था। उनके पिता एक जाने-माने वकील थे जो न केवल वकालत करते थे, बल्कि उन्होंने कई विश्वविद्यालयों में कानून का अध्यापन भी किया था। माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्राफ़ा ने ट्यूरिन विश्वविद्यालय के विधि संकाय में दाखिला लिया। वहाँ उन्हें लुइगी इनौदी के निर्देशन में राजनीतिक अर्थशास्त्र पढ़ने का मौक़ा मिला। आगे चल कर इटली के राष्ट्रपति होने वाले इनौदी सार्वजनिक वित्त के विशेषज्ञ माने जाते थे। इतालवी फ़ौज में कुछ दिन काम करने के बाद स्राफ़ा ने 1920 में अपनी डिग्री पूरी की। उनकी डॉक्टोरल थीसिस 1914-20 की अवधि में इटली की मुद्रास्फीति पर केंद्रित थी। 1921 के वसंत में वे ब्रिटिश मौद्रिक समस्याओं का अध्ययन करने इंग्लैण्ड गये और वहीं उनका परिचय कीस से हुआ। बीस के दशक में ही उन्होंने इटली की सरकार के लिए कई परियोजना

पूरी कीं। फ़ासीवादी सरकार के उत्तरोत्तर दमनकारी होते चले जाने के कारण उन्होंने कीस की मदद से केम्ब्रिज में अर्थशास्त्र के प्रवक्ता का पद प्राप्त कर लिया। लेकिन, स्राफ़ा को अंग्रेज़ी में व्याख्यान देने में दिक्कत होती थी। इस पर कीस ने उन्हें मार्शल लाइब्रेरी ऑफ़ इकॉनॉमिक्स में नौकरी दिलायी और रिकार्डो की रचनाओं का सम्पादक बनवा दिया।

कीस की ही मदद से स्राफ़ा को रॉयल इकॉनॉमिक सोसाइटी के लिए डेविड रिकार्डो की रचनाओं के सम्पादन का काम मिला। स्राफ़ा के विद्वत्तापूर्ण प्रयासों का नतीजा तीस साल बाद दस खण्डों की एक ग्रंथमाला के रूप में सामने आया। स्वीडिश रॉयल एकेडमी ऑफ़ साइंसेज़ द्वारा उन्हें स्वर्ण पदक से सम्मानित किया। अर्थशास्त्र में नोबेल पुरस्कार से पहले इसी पदक को सबसे बड़ा सम्मान माना जाता था। इसी प्रोजेक्ट पर काम करते हुए उनका ध्यान धन और आर्थिक नीति से हट कर मूल्य सिद्धांत के अमूर्त और सैद्धांतिक मुद्दों की तरफ़ गया। बीस के दशक तक युरोप के आर्थिक चिंतन पर माँग और आपूर्ति का विश्लेषण छा चुका था। स्राफ़ा ने इस धार में बहने से इनकार किया और अल्फ्रेड मार्शल द्वारा किये गये आपूर्ति के विश्लेषण की खामियों की शिनाख्त करने के बाद उन्होंने आपूर्ति की एक अधिक समुचित थियरी विकसित करने की शुरुआत की जो अधिशेष के क्लासिकल विचार पर आधारित थी। मार्शल की आलोचना करने वाले स्राफ़ा के लेख इसी दशक में इतालवी और अंग्रेज़ी पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे।

मार्शल का कहना था कि एक फ़र्म का सप्लाई कर्व उद्योग की दूसरी फ़र्मों के सप्लाई कर्व से स्वतंत्र होता है। इस तरह किसी उद्योग का सप्लाई कर्व सभी फ़र्मों के सप्लाई कर्वों को जोड़ देने से प्राप्त हो सकता है। अगर कॉफी का मग बनाने वाले उद्योग में सौ फ़र्में सक्रिय हैं और उनमें से पचास एक डॉलर प्रति मग की बिक्री दर के आधार पर एक हज़ार मग बनाना चाहती हैं, और अन्य पचास उसी दर पर दो हज़ार मग बनाती हैं तो उद्योग का कुल उत्पादन 150,000 कॉफी मग हुआ। अलग-अलग दामों को आधार बना कर कॉफी मगों की आपूर्ति के बारे में इसी तरह की गणनाएँ की जा सकती हैं। स्राफ़ा का तर्क था कि एक फ़र्म में उत्पादन के हालात और उससे प्रभावित होने वाला उसका सप्लाई कर्व लाज़मी तौर पर सभी फ़र्मों को प्रभावित करता है। अगर एक फ़र्म कॉफी मगों का उत्पादन बढ़ाने का फ़ैसला करती है तो उसे ज़्यादा सामग्री की ज़रूरत पड़ेगी जिससे सामग्री के दाम बढ़ जाएँगे। अगर इसके कारण मगों की लागत बढ़ गयी तो सभी फ़र्मों का मुनाफ़ा गिरेगा। नतीजे के तौर पर दूसरी फ़र्में कम मग बनाना पसंद करेंगी। फ़र्मों और उनके उत्पादन की यह परस्पर निर्भरता मार्शल द्वारा प्रदर्शित सप्लाई कर्व को निरर्थक कर देती है।

स्राफ़ा ने यह मानने से भी इनकार कर दिया कि कारखाना उत्पादन *हासमान आय* के उसूल के तहत होता है,



पियरो साफ़ा (1898-1983)

और दलील दी कि ज्यादातर उत्पादन वर्धमान आय की अवस्था के तहत सम्पन्न होता है। हासमान आय का सिद्धांत किसी एक उद्योग पर अलग से लागू किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह उन सभी उद्योगों को प्रभावित करेगा जिनमें उस जिंस की उत्पादन के लिए जरूरत होगी। साफ़ा ने नतीजा यह निकाला कि दरअसल बाज़ार में आदर्श प्रतियोगिता का मॉडल चलता ही नहीं है। बजाय इसके परस्पर निर्भरता और मोनोपॉली (एकाधिकार) और ओलिगोपॉली (सीमित प्रतियोगिता) की मौजूदगी का मॉडल अपनाया जाना चाहिए। आगे चल कर साफ़ा द्वारा की गयी आलोचना के आधार पर जोआन रॉबिंसन ने इजारेदारी होड़ का मॉडल विकसित किया।

अर्थशास्त्र के इतिहास में केम्ब्रिज विवाद के नाम से विख्यात बहस में साफ़ा ने दावा किया कि मूल्य का पारम्परिक सिद्धांत दरअसल वृत्ताकार है, इसलिए इस सिलसिले में एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन करना चाहिए। इस मक़सद को हल करने के लिए साफ़ा ने रिकार्डों के अर्थशास्त्र का सहारा लेने का फ़ैसला किया और अधिशेष की क्लासिकल समझ को आधार बनाया। क्लासिकल समझ के मुताबिक उत्पादन की प्रकृति वृत्ताकार होती है अर्थात् वस्तुओं का प्रयोग वस्तुओं के उत्पादन में होता है और जितनी वस्तुओं से शुरुआत की गयी थी उससे ज्यादा का उत्पादन होने की सूरत में अधिशेष पैदा होता है। साफ़ा ने इस मॉडल की सुसंगति पर जोर देते हुए दिखाया कि इसके जरिये सापेक्षिक दामों अथवा मूल्य की व्याख्या की जा सकती है। साथ ही मज़दूरी और मुनाफ़े के बीच

आय के वितरण का निर्धारण भी किया जा सकता है।

साफ़ा ने अपने मॉडल को कई तरह के उत्पादनों पर लागू करके यह दिखाने में कामयाबी हासिल की कि उत्पादन की प्रौद्योगिकी ही आखिर में सापेक्षिक दामों को निर्धारित करती है।

साफ़ा ने परम्परागत आर्थिक चिंतन से निकले हुए मानकों की सफल आलोचना की और मूल्य का एक भिन्न सिद्धांत विकसित करने का प्रयास भी किया। इस मामले में लीक से हट कर सोचने के लिए अर्थशास्त्र की दुनिया में उनका लोहा भी माना जाता है। लेकिन साफ़ा की ही भाँति पारम्परिक चिंतन के आलोचक अधिकतर अर्थशास्त्रियों ने साफ़ा के मॉडल पर चलना स्वीकार नहीं किया। नियो-क्लासिकल थियरी के प्रभाव के कारण नियो-रिकार्डियन अर्थशास्त्र बहुत आगे तक नहीं जा सका।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रॉबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेष संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. निकोलस काल्दोर (1985), 'पियरो साफ़ा 1898-1983', *प्रोसीडिंग्स ऑफ़ द ब्रिटिश एकेडमी*, 71 (1985),
2. ज्याँ-पियरे पोतियर, *पियरो साफ़ा : अनओर्थोडोक्स इकॉनॉमिस्ट (1898-1983)*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
3. अलेसांद्रो रॉकाग्लिया (1978), *साफ़ा ऐंड द थियरी ऑफ़ प्राइसिज़*, विली, न्यूयॉर्क.
4. अलेसांद्रो रॉकाग्लिया (1981), 'पियरो साफ़ाज़ कंट्रीब्यूशन टु पॉलिटिकल इकॉनॉमी', संकलित : जे.आर. शेकलेटन और जी. लोकसली (सम्पा.), *ट्वेल्फ़ कंटेंम्पेरी इकॉनॉमिस्ट्स*, विली, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

पी.एस. वारियर

(P.S. Wariar)

आज सारी दुनिया में भारतीय आयुर्वेद को सम्पूर्ण और सर्वांगीण स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त माना जाता है और इस आयुर्वेदिक पद्धति में केरल-आयुर्वेद ने अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। लाखों की संख्या में लोग स्वास्थ्य लाभ या उपचार हेतु केरल स्थित आयुर्वेदिक चिकित्सालयों में जाते हैं। यही आयुर्वेद अंग्रेजी शासन के दौरान भारत में विलुप्त होने की कगार पर था और यह मान लिया गया था कि एलोपैथी ही एकमात्र वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति है। अंग्रेज शासकों की मान्यता थी कि भारत में प्रचलित आयुर्वेदिक व यूनानी चिकित्सा पद्धतियाँ पश्चिमी चिकित्सा की तुलना में दोगम दर्जे की हैं। इसी तर्क के आधार पर एलोपैथी को शासकीय संरक्षण प्रदान किया। भारत में अपने प्रारम्भिक दिनों में एलोपैथी केवल युरोपियन समुदाय के लिए उपलब्ध थी लेकिन बाद में स्थानीय लोगों के लिए भी उसकी सुविधा प्रदान की गयी। वैसे भी भारत की अधिकतर गरीब व ग्रामीण जनता के लिए यह पश्चिमी चिकित्सा पहुँच से बहुत दूर ही रही है। भारतीय पारम्परिक चिकित्सा के प्रति अंग्रेजी शासन की दुर्भावना का सबसे बड़ा प्रमाण 1912 का मुम्बई मेडिकल एक्ट था जिसके अंतर्गत सभी चिकित्सकों को अपना पेशा करने के लिए पंजीयन अनिवार्य करके आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सकों को इस पंजीयन के लिए अयोग्य करार दिया गया। भारत का नवशिक्षित वर्ग भी सारे पारम्परिक भारतीय ज्ञान और चिकित्सा पद्धति को अवैज्ञानिक एवं निरर्थक ही मानता था। इसके साथ ही भारतीय आयुर्वेद भी अपनी विसंगतियों जैसे जातिवाद, रूढ़िवाद, अव्यवस्थित-अलिखित ज्ञान, अनिश्चित औषधि निर्माण के कारण एलोपैथी के सम्मुख पोंगापंथी, ढोंगी और पाखण्डी ही दिखता था। यह भारतीय आयुर्वेद का सबसे अंधकारमय दौर था। लेकिन इसी समय में केरल में एक अत्यंत दृढ़ संकल्पी वैद्य पी.एस. वारियर (1869-1944) ने इस प्राचीन चिकित्सा पद्धति के पुनर्जागरण का अभियान चलाया। उन्होंने आयुर्वेद की शिक्षा और औषधि निर्माण को आधुनिक, सेकुलर और वैज्ञानिक रूप दिया। आज केरल का सबसे बड़ा ब्रांड केरल-आयुर्वेद इन्हीं वैद्य पी.एस. वारियर की ही विरासत है।

केरल के कालीकट शहर के निकट कोट्टक्कल कस्बे में 16 मार्च, 1869 को एक प्रतिष्ठित परिवार में पन्नियिन्पल्ली संकुन्नी वारियर का जन्म हुआ। इस परिवार के सदस्यों की चित्रकारी, संगीत व संस्कृत साहित्य में बहुत रुचि थी। संकुन्नी वारियर की माँ स्वयं भी संस्कृत तथा शास्त्रीय संगीत में पारंगत थीं। वारियर परिवार ने अपनी



पी.एस. वारियर (1869-1944)

प्रतिष्ठा आयुर्वेदिक चिकित्सकों के रूप में अर्जित की थी। अपने घर के कलात्मक, धार्मिक और चिकित्सकीय वातावरण ने बालक संकुन्नी वारियर के मन पर स्थायी प्रभाव डाला। वारियर ने अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वानों से संस्कृत सीखी, कोनथ अचुत्य वारियर से आयुर्वेद की आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की और बाद में पारम्परिक गुरुकुल पद्धति में चार साल तक उस समय के प्रसिद्ध अष्टवैद्य कुट्टनचेरि वासुदेवनमूस के पास रहकर आयुर्वेद की उच्च शिक्षा प्राप्त की।

वारियर ने 20 वर्ष के आयु में अपनी आयुर्वेद की शिक्षा पूर्ण करके जब कोट्टक्कल में अपना चिकित्सालय आरम्भ किया तो उन्होंने अनुभव किया कि भारत में पश्चिमी चिकित्सा पद्धति बहुत तेजी से लोकप्रिय होती जा रही थी। जिज्ञासु होने के नाते वारियर इस नयी चिकित्सा प्रणाली के बारे में सीखने-जानने को बहुत उत्सुक थे किन्तु अंग्रेजी भाषा की अज्ञानता वारियर के लिए बहुत बड़ी बाधा थी। वारियर ने अपनी साधनों से निजी तौर पर अंग्रेजी सीखना शुरू किया और जल्दी ही इस भाषा में पारंगत हो गये। पश्चिमी चिकित्सा से उनका व्यक्तिगत साक्षात्कार तब हुआ जब अपनी आँखों की एक तकलीफ के लिए वारियर को एक सरकारी अस्पताल के सहायक सर्जन डॉ. वी. वर्गीज से परामर्श करने का अवसर मिला। उपचार पूरा होने पर डॉ. वी. वर्गीज ने वारियर को पश्चिमी चिकित्सा सिखाने की पेशकश की जिसे वारियर ने पूरी कृतज्ञता से स्वीकार किया और अगले तीन साल तक अस्पताल में प्रशिक्षण प्राप्त किया। अपने प्रशिक्षण में वारियर ने रोग के लक्षणों व निदान के तरीके, मरीजों को पश्चिमी दवाओं की खुराक व वितरण के तरीके, संज्ञाहरण (अनेस्थेसिया) देने की विधि और मामूली शल्य क्रिया जैसी विद्याएँ सीखीं। समकालीन वैद्यों से अलग हट कर एलोपैथी चिकित्सा पद्धति का भी अध्ययन करके वारियर ने अपने ज्ञान में स्वदेशी और पश्चिमी प्रणालियों को

समा लिया, बावजूद इसके कि उनकी मुख्य दक्षता आयुर्वेद में थी। लेकिन पश्चिमी चिकित्सा-ज्ञान, विशेष रूप से शल्य चिकित्सा, शरीर-रचना विज्ञान और शरीर-विज्ञान ने उनके दृष्टिकोण को बहुत प्रभावित किया।

एक वैद्य के रूप में वारियर ने देखा कि उनके द्वारा तजवीज़ की गयी आयुर्वेदिक औषधियों का शुद्ध तथा उचित अनुपात में मिलना असम्भव था। उन्होंने समझ लिया कि उपचार और औषधियों के मानकीकरण के बगैर आयुर्वेद पद्धति बिलकुल नष्ट हो जाएगी। उन्हें लगा कि एलोपैथी दवाएँ जब नियत खुराक और टिकाऊ पैकिंग में मिल रही हैं और एलोपैथिक पद्धति उपचार की एक निश्चित प्रक्रिया अपना रही हो तो आयुर्वेद को भी अपने उपचार व औषधियों में पारदर्शिता अपनानी होगी। इसी के बाद वारियर ने आयुर्वेद के मानकीकरण के लिए सबसे पहले 1902 में कोट्टक्कल में औषधि निर्माण हेतु आर्य वैद्यशाला की स्थापना की जहाँ उनकी देखरेख में प्रामाणिक आयुर्वेदिक ग्रंथों के आधार पर दवाएँ बनायी जाने लगीं। अंग्रेज़ी दवाओं की भाँति ही पहली बार आर्य वैद्यशाला ने आयुर्वेदिक औषधियों को मानक खुराक व पैकिंग में लम्बे समय तक उपयोगी रहने योग्य बनाया। आयुर्वेदिक औषधियों ने निर्माण के क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन था।

1907 में वारियर ने आयुर्वेद वैद्य समाजम की स्थापना की। इसके पीछे वारियर का उद्देश्य एलोपैथी और आयुर्वेद में सामंजस्य तलाशना था। एक विद्वान चिकित्सक के रूप में वारियर जानते थे कि आयुर्वेद को एलोपैथी के कुछ नवीनतम तरीकों को अपनाना होगा। एक आयुर्वेद चिकित्सक के रूप में वारियर अन्य वैद्यों को बेहतर प्रशिक्षण देना चाहते थे। वारियर ने आयुर्वेद वैद्य समाजम में ट्रावनकोर, कोचीन तथा मालाबार के आयुर्वेदिक चिकित्सकों को जोड़ा था। इसके 50 साल बाद इन्हीं क्षेत्रों का विलय कर आधुनिक केरल राज्य की रचना हुई। देखा जाए तो वारियर ने एक सम्पूर्ण केरल राज्य की कल्पना अपने समय के बहुत पहले कर ली थी। पी.एस. वारियर ने आयुर्वेद के प्रचलित ज्ञान के संहिताकरण और प्रसार के लिए आयुर्वेदिक दवाओं के उपयोग, खुराक और अन्य जानकारी को सूचीबद्ध स्वरूप में प्रकाशित किया ताकि कोई भी सामान्य व्यक्ति चिकित्सक के पर्चे के बिना दवाओं का प्रयोग करने में सक्षम हो सके। आम लोगों को आयुर्वेद से परिचित करने के लिए उन्होंने मलयालम में *चिकित्सा समग्रहम्* नामक एक पुस्तक भी लिखी। इसी प्रकार वारियर ने अष्टांग हृदयम नामक पुस्तक का मलयालम संस्करण प्रकाशित किया तथा अपने चचेरे भाई पी.वी. कृष्णा वारियर के साथ मिलकर आयुर्वेद के इतिहास पर मलयालम में एक पुस्तक तैयार की।

1917 में वारियर ने आयुर्वेद की प्रामाणिक शिक्षा के लिए आयुर्वेद पाठशाला की स्थापना की ताकि इस पारम्परिक शिक्षा को आधुनिक, सेकुलर तथा वैज्ञानिक बनाया जा सके। यह अपने समय का एक बड़ा क्रांतिकारी क्रदम था क्योंकि इस आयुर्वेद पाठशाला में धर्म, जाति, वर्ण भेद के बिना छात्रों को प्रवेश मिलना शुरू हुआ। कई विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी दी गयी। वारियर ने इस आयुर्वेद पाठशाला की स्थापना का केवल व्यय ही नहीं उठाया बल्कि इसमें चिकित्सा विज्ञान के नवीनतम विषयों को स्वयं पढ़ाने का काम भी किया। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के ऐनाटोमी तथा फ़िज़ियोलॉजी जैसे विषयों को आयुर्वेद पाठशाला में पढ़ाने के लिए उन्होंने *अष्टांग शरीरम्* तथा *बृहत् शरीरम्* नामक दो पुस्तकों की रचना भी की। आज यह आयुर्वेद पाठशाला वैद्यरत्नम पी.एस. वारियर शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय के नाम से कालीकट विश्वविद्यालय के साथ अंगीकृत है।

आयुर्वेद में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार हेतु वारियर ने धन्वन्तरी नामक एक आयुर्वेद जर्नल का सम्पादन किया। उन्होंने आयुर्वेद को केवल व्यवसाय नहीं माना। उनका उद्देश्य इस गौरवपूर्ण ज्ञान, विद्या, शास्त्र को विलुप्त होने से बचाना और इस विलक्षण आयुर्विज्ञान का जीर्णोद्धार करना था। 1924 में उन्होंने एक धर्मार्थ चिकित्सालय की स्थापना की। इस आयुर्वेद चिकित्सालय में उन्होंने एलोपैथिक उपचार की व्यवस्था भी रखी थी। 1932 में भारत सरकार ने पी.एस. वारियर को वैद्यरत्नम की उपाधि से विभूषित किया। वारियर को आयुर्वेद औषधियों में प्रयुक्त विभिन्न जड़ी-बूटियों की शुद्धता के लिए उन्हें स्वयं उपजाने की व्यवस्था की। आज वैद्यशाला के बागों में करीब एक हजार प्रकार की दुर्लभ जड़ी-बूटियाँ उगायी जाती हैं।

आयुर्वेद किसी एक रोग का नहीं बल्कि रोगी का सर्वांगीण उपचार करता है। इसीलिए आयुर्वेद में इतने सारे नियम, संयम, आहार, विचार, ध्यान, धारणा पर जोर दिया जाता है। एक उत्कृष्ट वैद्य होने के नाते 1932 में वारियर ने आर्य वैद्यशाला के प्रांगण में एक भव्य मंदिर का निर्माण किया जिससे रोगी अपनी शारीरिक पीड़ा और मानसिक उद्वेलन से ऊपर उठ सके। उस समय की सारी सामाजिक रूढ़ियों को नकारते हुए इस मंदिर में हर धर्म, जाति, वर्ण के व्यक्ति को प्रवेश की स्वतन्त्रता थी। वारियर स्वयं संस्कृत के बड़े ज्ञाता थे। उन्हें साहित्य, कविता, नाटक तथा नृत्य में गहरी रुचि थी। 1909 में वारियर ने परम सिवा विलासम नाट्य मण्डली की स्थापना की। 1939 में इस नाट्य मण्डली को पी.एस.वी. नाट्य संघम में परिवर्तित कर दिया गया जो आज केरल का एक प्रमुख कथकली समूह है। 1933 में ही उन्होंने अपनी अपनी सारी दौलत परिवार और कुटुम्ब को देने के बजाय

आर्य वैद्यशाला को प्रदान कर दी। 1944 में पी.एस. वारियर का निधन हुआ।

देखें : अब्दुल हमीद, आर.के. तलवार, इला भट्ट, एलाट्टुवलापिल श्रीधरन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, कमला देवी चट्टोपाध्याय, गिजुभाई बधेका, देवकी जैन, धोंडो केशव कर्वे, नीरा देसाई, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1, 2 और 3, विक्रम साराभाई, वी.के.आर.वी. राव, विद्याबेन शाह, संस्था, संस्थान और संस्थानीकरण।

संदर्भ

1. गीता कृष्णकुट्टी (2001), *अ लाइफ ऑफ हीलिंग : ए बायोग्राफी ऑफ वैद्यरत्नम पी.एस. वारियर*, वाइकिंग (इण्डिया), नयी दिल्ली.
2. के.वी. नायर (1954), *अ बायोग्राफी ऑफ वैद्यरत्नम पी. एस. वारियर*, केरल आयुर्वेद्यशाला, कोट्टक्कल.
3. के.एन. पानिककर (1992), 'इंडिजेनस मेडिसिन ऐंड कल्चरल हेजेमनी : अ स्टडी ऑफ रेवाऐटिलाइजेशन मूवमेंट इन केरलम', *स्टडीज़ इन हिस्ट्री*, खण्ड 8, अंक 2.

—रवि दत्त वाजपेयी

पुराण

(Puran)

वेदों और उपनिषदों की तरह ही भारतीय दर्शन में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों की ही तरह पुराण भारतीय संस्कृति की एक प्रतिनिधि धारा हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र में पुराण का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में भी पुराण की चर्चा है। ऋग्वेद में अनेक कथाओं के संकेत मिलते हैं, जो उस जमाने में सम्भवतः लोक में प्रचलित रहे होंगे। पुराणों के लिए भी वेदों की तरह विशेषज्ञ होते होंगे क्योंकि वेदों में उनके लिए पुराणवित शब्द आता है। कुछ विद्वानों को वेदों में आये 'पुराण' शब्द से आज के 18 पुराणों का आशय निकालने पर शंका है। शब्द के रूप में पुराण का अर्थ है पुरानी कथाओं या आख्यायिकाओं का संग्रह। बहुधा ये कथाएँ और गाथाएँ धार्मिक व सामाजिक भूमिका का आधार रखती हैं। बेहद प्राचीन काल से परम्परागत सम्पदा के रूप में ये सुरक्षित रही हैं। पुराकाल से इन ग्रंथों पर लोक-श्रद्धा रही है। जैन एवं बौद्ध धर्म के अनुयायियों में भी पुराणों के नाम से प्रसिद्ध कई ग्रंथ मिलते हैं, और उन ग्रंथों पर उनकी भी ऐसी ही श्रद्धा है। पुराणों में अपने जमाने के राजनीतिक, सामाजिक, कूटनीतिक और गृहस्थ जीवन के विभिन्न पक्षों पर विचार हुआ है। उन्होंने कृषि, वाणिज्य, राजधर्म, नृत्य, वाद्य, संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला, वृक्षारोपण, वाप-कूप

तड़ाग की प्रतिष्ठा, उद्यान की सजावट, भवन, दुर्ग तथा मार्गों का निर्माण आदि जीवनोपयोगी विविध विषयों को बहुत ही प्रमुखता से जगह दी तथा उनमें इस तरह की अच्छी-खासी सामग्री उपलब्ध है। पुराणों की परिभाषा के अनुसार सृष्टि का विज्ञान (सर्ग), सृष्टि का विस्तार और प्रलय (प्रतिसर्ग), सृष्टि की आदि वंशावली, मन्वंतर (यानी किस-किस मनु का अधिकार कब तक रहा, उस काल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन तथा इतिहास के प्रमुख राजवंशों के राजाओं का विवरण) इन सामग्रियों का क्रम से या बिना ही क्रम से वर्णन मिलता हो उन्हें पुराण कहा जाता है। महापुराणों के लिए इन पाँच लक्षणों का होना आवश्यक है। किंतु कई पुराणों में सभी लक्षण एक साथ नहीं भी पाये जाते हैं फिर भी प्रत्येक में इनमें से कुछ न कुछ लक्षण तो मिल ही जाते हैं।

पुराणों ने भारतीय साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन को गहराया से प्रभावित किया है। तीर्थों व व्रत प्रसंगों पर, जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह समारोहों, देहावसान आदि अवसरों पर पुराणों का पाठ एक सामान्य सी बात है। महाकाव्य, नाटक, कथाएँ और आख्यायिकाओं पर उनका प्रभाव देखा जा सकता है। भास, कालिदास, भवभूति, बाण भट्ट, दण्डी, श्री हर्ष, भारवि, माघ आदि कवियों की रचनाओं पर पुराणों शैली का गहरा असर दिखता है। यही नहीं भारतीय भाषाओं के अनेक कवियों ने पुराणों से प्रभाव ग्रहण किया। इसके सबसे बड़े उदाहरण तुलसीदास हैं। पुराणों में मूलकथा के कई वाचक होते हैं। *रामचरितमानस* में राम कथा शिव पार्वती से, काकभुशुंडि गरुड़ से और तुलसीदास भक्तों से कह रहे हैं। *रामचरितमानस* की इस पुराण शैली की वजह से कुछ लोग इसे पुराण-काव्य मानते हैं। पुराणों में इतिहास सामग्री भी काफ़ी भरी पड़ी है जो इतिहास दिग्दर्शन के लिए बहुत उपयोगी है। कालक्रम के अनुसार व्यासों और सूरतों ने उनकी मूलकथाओं में काफ़ी छेड़-छाड़ की हैं जिसकी वजह से उनमें अतिशयोक्तियाँ और विसंगतियाँ भी भरी पड़ी हैं। मतमतांतरों के विभिन्न पूर्वग्रह भी दिखते हैं। इसलिए उनके अध्ययन के लिए विवेक-दृष्टि अनिवार्य हो जाती है।

महाभारत की तरह पुराणों का वेदांतीकरण भी हुआ। उनके आदि रूप में वेदांत बिल्कुल न रहा हो, यह बात नहीं है। पर वेदांत के एक विशेष रूप का उसमें प्रवेश कराया गया। यह रूप उपनिषदों की तरह ब्रह्म और प्रकृति को परस्पर सम्बद्ध न मान कर अलग करता था और प्रकृति को ब्रह्म से परे बताता था। *महाभारत* की तरह पुराणों का वैष्णवीकरण भी हुआ। *महाभारत* में तो वैष्णवीकरण की यह प्रक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है। कृष्ण का एक रूप वह है जहाँ वे ईश्वर नहीं हैं। दूसरा वह है जहाँ वे ईश्वर के अवतार हैं। नाराशंसी काव्य की तरह पुराणों में वीरों के चरित्र का

वर्णन किया गया है और यह बहुत सम्भव है कि आगे चलकर इस वर्णन में अवतारों की कथा जोड़ी गयी हो। राजवंशों का इतिहास लिखने की परम्परा और लौकिक घटनाओं का विवरण देने की परम्परा पुराणों में बराबर बनी रही। यही इनकी मूल विशेषता लगती है। इसी के अनुरूप इनमें भूमण्डल और भारत का, नदियों, पर्वतों, जनपदों आदि का विवरण देने की प्रवृत्ति है। इस तरह की ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री पुराणों में बिखरी पड़ी है। पुराण अपनी अति-कल्पना के लिए बदनाम भी हैं। हजारों साल तक जीवित रहना, हजारों पुत्र उत्पन्न करना, हजारों साल तक तपस्या करना, ऐसी असम्भव घटनाओं का वृत्तांत भी पुराणों में है। इस यथार्थ विरोधी पौराणिकता का प्रवेश भी पुराणों में कराया गया। इतिहास-तत्त्व कम होता गया और अतिरंजित, अतिमानवीय घटनाओं की बाढ़ आ गयी। इससे पुराणों का मूल चरित्र ही बदल गया।

दार्शनिक स्तर पर पुराण बहुत जगह ऋग्वेद के ज्यादा करीब हैं। ब्रह्म को प्रकृति से अलग न मान कर संन्यास और वैराग्य की जगह कर्ममय जीवन बिताते हुए वे आनंदपूर्वक संसार में रहने का उपदेश करते हैं। विष्णु पुराण ब्रह्म को प्रकृति से पृथक मानता है और भौतिक विश्व से उसका तादात्म्य स्थापित करते हुए इसी धारणा के अनुरूप ब्रह्म को सांसारिक भागों की प्राप्ति में सहायक बताता है। ब्रह्म के बारे में विचार है कि मनुष्य को आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के रूप में दिखाई देने वाले तत्त्व ब्रह्म हैं। प्रकृति सत्व, रज और तम तीनों गुणों से सृजित है। इन तीनों का संयोग ब्रह्म में है और इस ब्रह्म की विशेषता है कि वह पुरुष को भोग प्रदान करने में कुशल है। सफल जीवन के लिए न तो वैराग्य और संन्यास की जरूरत है और न ही इंद्रियों के दमन की आवश्यकता है। जीवन का यह यथार्थवादी दर्शन भक्ति से जुड़ कर वैदिक कर्मकाण्ड का विकल्प बनता है। प्रकृति को ब्रह्ममय बताकर स्वर्ग और नरक की अवधारणा से मुक्त करता है। इस तरह अतिशयोक्तियों और विसंगतियों के बावजूद पुराणों का दार्शनिक पक्ष समाजोन्मुख है।

पुराणों में वैष्णव, शैव और शाक्त के सुंदर समन्वय का प्रयास हुआ है। स्पष्ट कहा गया कि शिव से विरोध रखने वाले वैष्णव की तथा विष्णु के निंदक शैव या शाक्त की घोर दुर्गति होती है। वेदों और ईश्वर की सत्ता के कट्टर आलोचक बौद्ध और जैन धर्म के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव को भी पुराणों में ईश्वर के अवतारों में शामिल कर लिया गया है।

विभिन्न स्रोतों से महापुराणों की संख्या सामान्यतः इस क्रम में 18 मानी जाती है : ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव या वायु, श्रीमद्भगवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कंद, वाहन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। इन अठारहों महापुराणों की कुल श्लोक संख्या 3,95,100 है।

मान्यता है कि कृष्णद्वैपायन ने 28वीं बार पुराणों का सम्पादन करने के बाद 18 उपपुराणों की रचना की, हालाँकि इनमें से कई या तो अप्राप्य हैं या फिर खण्डित हैं : भागवत, माहेश्वर, ब्रह्मांड, आदित्य, पराशर, सौर, नंदकेश्वर, सांब, कालिका, वरुण, उषनस्, मानव, कापिल, दुर्वासस, शिवधर्म, वृहन्नारदीय, नारसिंह और सनत्कुमार। इनके अतिरिक्त महाभारत के खिल पर्व की गणना हरिवंश पुराण के नाम से होती है। इनके बाद 18 औपुराण या अतिपुराण भी माने गये हैं, जो दुष्प्राप्य और खण्डित हैं : कार्तव, ऋजु, आदि, मुद्गल, पशुपति, गणेश, सूर्य, परमानंद, बृहद्धर्म, महाभागवत, देवी, कल्कि, भार्गव, वाशिष्ठ, कौर्म, गर्ग, चंडी और लक्ष्मी। इनमें इतिहास, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र की सामग्री की प्रचुरता है।

पुराण-शैली के आधार पर ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में जैनों और बौद्धों ने भी पुराण ग्रंथों की रचना की। जैनों के 24 तीर्थंकरों के नाम पर 24 पुराण रचे गये ये सभी संस्कृत भाषा में हैं। नेपाली बौद्धों में नवधर्म के नाम से विख्यात नौ पुराणों का प्रचलन है। इनमें पुरानी कथाओं, इतिहास, जीवनचरित और व्रत आदि की प्रमुखता है।

पुराणों की रचना बहुधा सरल संस्कृत के गेय छंदों में हुई है। कुछ पुराणों में भागवत की भाँति पद्य व गद्य की उत्कृष्ट रचना-शैली भी मिलती है, पर अधिक मात्रा में नहीं। सर्वसाधारण में अधिकाधिक लोकप्रिय हो सके, इसी उद्देश्य से इनमें पुनरुक्तियों की चिंता न कर प्रत्येक विषय को सुंदर ढंग से रखा गया है। इनकी कथाओं का आरम्भ प्रायः मनोवैज्ञानिक ढंग से होता है, और कहीं बहुत थोड़े में, तो कहीं बहुत विस्तार के साथ किसी-न-किसी आदर्श या उद्देश्य की स्थापना में उनकी समाप्ति होती है। बहुत सारी कथाओं में असम्भव और अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनाएँ भी की गयीं हैं, किंतु अनेक कथाओं की रोचकता का निर्वाह कुशलतापूर्वक किया गया है।

कई पुराणों में कुछ कथाएँ विविध रूपों में प्रस्तुत की गयी हैं। वंशावली का वर्णन भी कहीं-कहीं भिन्न है। यही नहीं, सैकड़ों ऐसी भी कथाएँ हैं जो महाभारत में भी हैं। कुछ ऐसी भी कथाओं का वर्णन पुराणों में आया है, जिनका मूल वेदों में पाया जाता है। कहीं उनमें समानता है, तो कहीं कुछ अंतर है। पुराणों में माहात्म्य-साहित्य की बहुलता है। तीर्थों, व्रतों, दानों आदि के माहात्म्य के साथ पुराणों की फलश्रुति का भी माहात्म्य बताया गया है। लोक-रुचि जगाने के विचार से ही शायद ऐसा किया गया है, किंतु सूतों का हाथ भी इसके मूल में देखने में आता है।

अनेक भारतीय ग्रंथों की तरह ही पुराणों के रचनाकाल का निर्धारण करना कठिन है। पुराणों का रचना-काल निर्धारण करना कठिन काम है। इसी तरह इनकी सामग्री की मौलिकता

की पहचान करना भी मुश्किल है, क्योंकि उनमें बहुत बाद तक परिवर्तन होते रहे। इसलिए पुराणों की मौलिक और बाद की सामग्री में अंतर कर पाना मुश्किल है। इसी की वजह से पुराणों के काल-निर्धारण में भी दिक्कतें आती हैं। यह अलग बात है कि इन मुश्किलों के बावजूद काल-निर्धारण के प्रयास हुए हैं। समझा जाता है कि भागवत, वाराह और विष्णु पुराण 12वीं शताब्दी, ब्रह्मपुराण 14वीं शताब्दी, पद्मपुराण 16वीं तथा 16वीं, और नारदीयपुराण 16वीं या 17वीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। परंतु अल बरुनी की 1031 ईस्वी की भारत संबंधी किताब में 18 महापुराणों एवं 18 उपपुराण के नाम शामिल होने से इस मत का खण्डन हो जाता है। महाभारत में भी सभी अठारह महापुराणों के पढ़ने व सुनने का महातम्य बताया गया है और महाभारत की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व मानी जाती है। इससे साबित है कि पुराणों का अस्तित्व भारतीय समाज में पहले से रहा है। पाठांतर तथा उनमें नयी कथाएँ जुड़ती रही हैं। भविष्य पुराण में सम्राट अकबर और महारानी विक्टोरिया के वर्णन से इस बात को और भी बल मिलता है, किंतु इतने भर से भविष्य पुराण के अस्तित्व व उसके आधुनिक होने का विचार मान्य नहीं हो जाता। भविष्य पुराण का नाम 'आपस्तंब धर्मसूत्र' में भी आया है, जिसका रचना-काल 300 वर्ष ईसापूर्व है। बाकी चीजें बाद में किसी ने जोड़ दी होंगी।

पुराणों को पढ़ने पर उनकी प्रतिष्ठा भली-भाँति प्रतिपादित होती है। अध्ययन के लिहाज से भी वेदों के साथ पुराण भी उपनिषद् काल में पढ़े जाते थे। वेदों के समान ही उन्हें महत्त्व प्राप्त था। नारद ने अपने विद्या-परिचय के दौरान इतिहास-पुराणरूप पाँचवें वेद की बात स्वीकारी है तथा उपनिषदों में वेदों के साथ ही पुराणों को पाँचवाँ वेद कहा गया है। ऋग्वेद में पुराने के अर्थ में पुराण शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। पुराण अपने मूल रूप में विशेषण हैं। प्राचीन समय से जिस साहित्य का संबंध रहा वह पुराण कहलाने लगा। आगे चल कर वह संज्ञा में बदल गया। आदि पर्व में महाभारत को भी पुराण और पाँचवाँ वेद भी कहा गया है। छांदोग्य उपनिषद् में वेदों के साथ ही पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। तात्पर्य यह कि पुराने जमाने में वेदों के समान ही पुराणों को लोकप्रियता और महत्त्व हासिल था।

पुराण पढ़ते हुए उपनिषदों का शंकर द्वारा किया गया भाष्य पढ़ने का आभास होता है। जैसे भागवत के आरम्भ में माया के कारण मिथ्या संसार सत्य प्रतीत होता है परंतु स्वयं परमात्मा इस माया से परे है, वैसे ही विष्णु पुराण में पराशर परमात्मा के लिए कहते हैं, 'जो विश्व के अधिष्ठान हैं, अति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं, प्राणियों में स्थित पुरुषोत्तम और अविनाशी है, जो परमार्थतः (वास्तव में) अति निर्मल ज्ञान-स्वरूप हैं, किंतु अज्ञानवश नाना पदार्थ से प्रतीत होते हैं... जो

पर (प्रकृति) से भी पर, परमश्रेष्ठ अंतरात्मा में स्थित परमात्मा रूप, वर्ण, नाम और विशेषण आदि से रहित है; जिसमें जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश इन विकारों का अभाव है, जिसको सर्वदा केवल है, इतना ही कह सकते हैं ... वही नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय तथा एक रूप होने तथा हेय गुणों के अभाव के कारण निर्मल परब्रह्म है। वही इन सब व्यक्त (कार्य) अव्यक्त (कारण) जगत के रूप से, तथा (इसके साक्षी) पुरुष और (महाकारण) काल के रूप से स्थित है। हे द्विज! परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष (महाकारण) और व्यक्त (महदादि) उसके अन्य रूप हैं तथा (सबको क्षोभित करने वाला होने से) काल उसका परम रूप है। इस प्रकार जो प्रधान पुरुष, व्यक्त और काल— इन चारों से परे है तथा जिसे पण्डित जन भी पाते हैं, वही भगवान विष्णु का विशुद्ध परमपद है।'

संसार को मिथ्या कहने वाली प्रवृत्ति पुराणों की मुख्य धारा नहीं है परंतु वह भी पुराणों में हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वह शंकर के प्रभाव से ही उत्पन्न हुई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। क्षीणधारा के रूप में वह गीता में है और उसका पूरा प्रवाह ब्रह्मसूत्रों में दिखाई देता है। संसार को मिथ्या कहने वाली विचारधारा के जन्मदाता शंकर नहीं थे परंतु वह इसके पोषक अवश्य थे। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने उसे अपने प्रचार से व्यापक रूप दिया। महाभारत की तरह पुराणों का वेदांतीकरण हुआ। उनके आदि रूप में वेदांत बिल्कुल न रहा हो, यह बात नहीं है। वेदांत के एक विशेष रूप का उनमें प्रवेश कराया गया है। यह रूप उपनिषदों की तरह ब्रह्म को और ब्रह्म को प्रकृति से परे बताता था।

पुराणों ने ब्रह्म को प्रकृति में व्याप्त माना। यह एक अपने युग के मुताबिक क्रांतिकारी दार्शनिक विचार था क्योंकि स्वर्ग और नरक की जगह लौकिकता में विश्वास क्रायम करने का संदेश था। किंतु व्यास और सूतों ने अपने मन मुताबिक अनेक चामत्कारिक परिवर्तन किये; जिसकी वजह से पुराण कर्मकाण्ड से मुक्त नहीं हो पाये। अतः सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल पाये और आज हमारे सामने अपने कर्मकाण्ड रूप में उपस्थित हैं।

देखें : आर्यभट्ट और आर्यभटीय, उपनिषद्, कपिल, अर्थशास्त्र और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, द्रविड़ संस्कृति, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और योगसूत्र, पाणिनि और अष्टाध्यायी, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, भगवद्गीता, भरत और नाट्यशास्त्र, मुकुंद लाठ, भागवत पुराण, महाभारत, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और कामसूत्र, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. रामप्रताप शास्त्री, 'पुराण', वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
2. रामविलास शर्मा (2010), *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश*, भाग एक, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

पुरुषत्व

(Masculinity)

नारीवाद की दूसरी लहर के प्रभाव में जिन नये अनुशासनों का विकास हुआ है उनमें पुरुष-अध्ययन या मैस्कुलिनिटी-स्टडीज़ का विशेष स्थान है। साठ के दशक में आये नारीवादी उछाल की रोशनी में समाजशास्त्रियों की समझ में आया कि उन्हें एक जेंडरीकृत अस्तित्व के रूप में पुरुष का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि पुरुष को केवल एक खास तरह की जैविकी के आधार पर सेक्सुअल भिन्नता का वाहक नहीं माना जा सकता। पुरुष-अध्ययन के सर्वाधिक ख्याति प्राप्त विद्वान बॉब कॉनेल ने अपने शोधों के ज़रिये इस बात पर जोर दिया है कि पुरुषत्व को सिर्फ जैविक पुरुष के साथ जोड़ा जाना असंगत है। शारीरिक आचार-व्यवहार के ज़रिये पौरुष उन लोगों में भी प्रतिबिम्बित होता है जो शरीर से पुरुष नहीं हैं। स्त्रियों और हिजड़ों में भी पौरुष देखा जा सकता है। इसलिए पुरुषत्व को एक ऐसी अवधारणा के रूप में ग्रहण करना चाहिए जो जेंडर व्यवहार को तय करती है। अपनी रचना *जेंडर एंड पावर* में कॉनेल ने दिखाया है कि पुरुष अगर बेहतर सत्ता, संसाधनों और सामाजिक दर्जे का स्वामी है, तो इसके पीछे एक प्रबल वर्चस्व की भूमिका है जिसका ऐतिहासिक रूप से सामाजिक पुनरुत्पादन होता रहा है। कॉनेल ने अपनी थीसिस साबित करने के लिए यह भी दिखाया कि पुरुष होने का लाभ यानी पितृसत्तात्मक डिविडेड सभी श्रेणियों के पुरुषों को समान रूप से नहीं मिलता। अश्वेत पुरुष और समलैंगिक पुरुष इससे उस तरह लाभान्वित नहीं हो पाते जिस तरह इतरलैंगिक यानी हेटरोसेक्सुअल पुरुष होते हैं। कॉनेल का यह सिद्धांत मल्टीपल मेस्कुलिनिटीज़ (एकाधिक पुरुषत्व) के नाम से जाना जाता है। जाहिर है कि वे पुरुष-समाज को एकात्म रचना के तौर पर देखने के बजाय विभेदित संरचना के तौर पर ग्रहण करते हैं।

अकादमीय दृष्टि से पुरुष-अध्ययन एक नया अनुशासन ज़रूर है, लेकिन पुरुषों के जागरूक समूहों द्वारा

मर्दानगी या पुरुषत्व की अभिव्यक्तियों पर आलोचनात्मक नज़रिये से सोचने की परम्परा कुछ पुरानी है। सत्तर के दशक से ही अमेरिका और ब्रिटेन में पुरुषों के इन समूहों की गतिविधियाँ शुरू हो गयी थीं। खास तौर से नारीवाद और आम तौर से स्त्रियों को सकारात्मक नज़र से देखने वाले ये समूह मानते थे कि हर पुरुष में उत्पीड़क बनने का अंदेशा छिपा हुआ है। अगर पुरुषत्व का विचार उत्पीड़क होने से जुड़ा हुआ है, तो क्यों न पुरुषत्व से मुक्ति की कोशिश की जाए। ठीक उसी तरह जैसे स्त्रियाँ पितृसत्ता से छुटकारे के लिए संघर्ष कर रही हैं, पुरुषों को भी उत्पीड़नकारी मर्दानगी की जकड़ से निकलने के लिए जद्दोजहद करनी चाहिए। जिस समय जागरूक पुरुष-समूह इस तरह की गतिविधियाँ कर रहे थे, उसी समय कुछ नारीवादी विदुषियों, जैसे शीला राउबॉथम ने नये पुरुष की रचना का विचार प्रस्तुत किया। राउबॉथम का सूत्रीकरण था कि अगर नयी स्त्री की रचना करनी है तो उस परियोजना की सफलता नये पुरुष की रचना की शर्त पर निर्भर है। इस लिहाज़ से पुरुष-अध्ययन का एक दूसरा पहलू नये पुरुष की रचना से जुड़ा हुआ है।

पुरुष-अध्ययन जिस पुरुष को अपना केंद्र बनाता है, वह वस्तुतः सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहारों और सांस्कृतिक निरूपणों का एक समुच्चय है। इसका बहुवाचिक प्रयोग भी विभिन्न सांस्कृतिक परिदृश्यों में पुरुषों के संबंध में निर्मित ऐतिहासिक आख्यानों को दर्शाता है जिसके कारण एक ही समाज में रहने वाले पुरुषों के बीच भी पुरुषत्व का भाव उसके जातीय, वर्गीय तथा नस्लीय संदर्भों के कारण भिन्न-भिन्न होता है।

पुरुषत्व की नारीवादी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह ऐतिहासिक रूप से स्त्री का अन्यीकरण करता रहा है। नारीवाद की समस्त धाराओं ने पुरुषत्व के संबंध में अपनी प्रस्थापनाएँ पेश की हैं और 1980 से ही इस विषय पर चिंतन-मनन हो रहा है। नारीवादियों के अनुसार पौरुष के साथ एक प्रकार का सत्ता-संबंध जुड़ा हुआ है जो न सिर्फ स्त्री एवं पुरुष के बीच, बल्कि दो पुरुषों के बीच भी कार्य करता है। वे इसे जैविक निर्धारणवाद के चश्मे से देखने के बजाय सामाजिक संदर्भों में देखते हैं जिसके तहत विभिन्न सत्ता संस्थानों, विचारधाराओं एवं संस्कृतियों में जेंडर की निर्मित के दौरान पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व जैसी अवधारणाओं का जन्म होता है। सिमोन द बोउवार ने अपनी प्रसिद्ध कृति *द सेकेंड सेक्स* में लिखा है कि स्त्री पैदा नहीं होती है, बना दी जाती है। सिमोन के तर्क स्पष्ट करते हैं कि हमारे सामाजिक पदानुक्रम में निर्धारित जेंडर-विभेद के मुताबिक पुरुष सदैव 'स्व' तथा स्त्री 'अन्य' के रूप में अवस्थित है। सिमोन ने इस जेंडर-विभेद की वैचारिक जड़ों को मानवशास्त्र, मनोविश्लेषण तथा चिकित्सा-जगत में हो रहे अनुसंधानों के

भीतर भी तलाशा। सिमोन मानती हैं कि स्त्रीत्व को कमतर रूप में परिभाषित किया गया है। इसलिए सभ्यता हमेशा मर्दाना/पौरुषपूर्ण रही है और स्त्रियों को हमेशा ही बाहरी/अन्य के तौर पर देखा गया है।

इसमें कोई शक नहीं कि सिमोन का यह सूत्रीकरण नारीवाद द्वारा की गयी पुरुषत्व की आलोचना का सार है। लेकिन इसके बावजूद नारीवादियों में पुरुषत्व को परिभाषित करने के मामले में कुछ मतभेद भी हैं। उदाहरणस्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के अनुसार पौरुष या मर्दानगी हारमोन या क्रोमोसोम की तरह मनोवैज्ञानिक कारकों का परिणाम है। गोल्डबर्ग ने 1979 में स्नायु-तंत्र की हारमोन प्रणाली के साथ अंतरक्रिया के माध्यम से पुरुषत्व का जैविकीय आधार तलाशने का प्रयास किया। लेकिन इस प्रकार के जैविक निर्धारणवाद से अंततः उन आग्रहों को ही बल मिला जो पुरुषों को प्राकृतिक रूप से प्राप्त पौरुष के पुनरुत्पादन की तरफ ले जाते हैं। ऐसे विद्वानों की भी एक परम्परा है जो मानते हैं कि आधुनिक समाज में पुरुषत्व को सर्वाधिक नुकसान में रहना पड़ा है। ये लोग नारीवाद पर आरोप लगाते हैं कि उसके दबाव में मर्दानगी काफ़ी-कुछ मुलायम क्रिस्म की हो गयी है। समाज के हित में इस नुकसान की भरपाई करने के लिए पुराने क्रिस्म के कठोर पौरुषपूर्ण व्यक्ति का जीर्णोद्धार किया जाना चाहिए ताकि पुरुष-दृष्टि से आदर्श समाज-निर्माण करते हुए उसी तरह की परम्पराएँ और रीति-रिवाज फिर से बहाल किये जा सकें।

पुरुषत्व को जैविक नज़रिये से देखने के रवैये के खिलाफ़ कॉनेल ने जेंडर की तार्किकता के मद्देनज़र समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण का सहारा लिया और एकाधिक पुरुषत्व के सूत्रीकरण पर पहुँचे। कॉनेल के अनुसार पुरुषत्व के प्रचलित आदर्श के साथ समाज में कुछ ही पुरुष जीवन गुज़ार पाते हैं, परन्तु इसका लाभ अधिकतर पुरुषों को मिलता है। इस तरह पुरुषों को कॉनेल ने दूसरी श्रेणी का पुरुषत्व करार दिया है। उन्होंने पुरुषों का एक पदानुक्रम बनाया है जिसमें सबसे नीचे की श्रेणी अधीन-पुरुषत्व की है जिसमें सबसे ज़्यादा अधीनस्थता समलैंगिक पुरुषों के हिस्से में आयी है। कॉनेल के अनुसार जेंडर के पदानुक्रम में स्त्रीत्व का दर्जा सबसे नीचे होता है। हालाँकि इसके भी कई रूप हैं, जैसे आज्ञाकारी स्त्रीत्व, प्रतिरोधी स्त्रीत्व, स्त्री-समलैंगिकता परन्तु अपने हर रूप में यह हमेशा पुरुषत्व के अधीन ही होती है।

कॉनेल ने पश्चिमी समाजों में हुए परिवर्तनों के हवाले से पुरुषत्व की अवधारणा के विकास की व्याख्या की। उन्होंने बताया कि बीसवीं सदी में ब्रिटेन में उद्योगीकरण के फलस्वरूप हुए सामाजिक परिवर्तनों के कारण जेंडर की श्रेणीबद्धता का अवमूल्यन हुआ। इससे वर्चस्वशाली पौरुष

का भी क्षय हुआ। अपने प्रभाव में आयी इस गिरावट से डर कर पुरुषत्व की राजनीति के तहत पुरुष को सर्वाधिक महत्वपूर्ण और जेंडर संबंधों में पुरुष को श्रेष्ठ साबित करने की लामबंदी शुरू हुई। कॉनेल ने पुरुषत्व की राजनीति के मुख्य रूपों, जिसमें पुरुषत्व-चिकित्सा भी शामिल थी, की पहचान करने का प्रयास किया।

कॉनेल जैसे चिंतकों के प्रयासों से पुरुषत्व के विभिन्न रूपों पर गौर करने की ज़मीन तैयार हुई है। उनके एकाधिक पुरुषत्वों के सूत्रीकरण को आपत्तियों का सामना भी करना पड़ा है। कुछ आलोचकों ने इस अवधारणा के अस्पष्ट, असमंजसपूर्ण तथा विरोधाभासी पहलुओं को रेखांकित करते हुए प्रश्न उठाया है कि यदि पुरुषत्व की परिभाषा में इतना वैविध्य और तरलता है तब प्रामाणिक तौर पर पुरुषत्व की पहचान कैसे सम्भव है? ये आलोचक मानते हैं कि पुरुषत्व कोई विशेषता या व्यक्तिगत व्यवहार नहीं है, बल्कि इसे एक विचारधारा की तरह समझा जाना ज़रूरी है जो यह तय करती है कि आदर्श पुरुष कैसा होना चाहिए।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरै, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. रॉबर्ट डब्ल्यू. कॉनेल (1995), *मैस्कुलिनिटीज़*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. एस. माइकल किमेल, जेफ़ हीर्न और रॉबर्ट डब्ल्यू. कॉनेल (सम्पा.) (2004), *हैंडबुक ऑफ़ मेन ऐंड मैस्कुलिनिटीज़*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, इलिनॉय.
3. जॉन मैकइनेस (1998), *द ऐंड ऑफ़ मैस्कुलिनिटीज़*, ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, बकिंगम.

— सुप्रिया पाठक

पूर्व-मीमांसा दर्शन

(Philosophy of Poorva-Mimansa)

मीमांसा का तात्पर्य है पूजित विचार या पूजित जिज्ञासा। शुरुआत में इस पद का प्रयोग वैदिक-कर्मकाण्ड संबंधी जिज्ञासा के संदर्भ होता था। फिर श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करके उनमें एक-वाक्यता स्थापित करने के लिए किये गये विचार-विमर्श को मीमांसा कहा गया। और आगे चल कर किसी भी विषय के समीक्षात्मक विवेचन के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा तथा जिज्ञासा, मीमांसा व समीक्षा परस्पर पर्यायवाची समझे जाने लगे। लेकिन एक दर्शन के रूप में मीमांसा का संबंध कर्मकाण्ड तथा वेद की व्याख्या से है। यह वेद के मंत्र-ब्राह्मण रूपी पूर्वभाग या कर्मकाण्ड पर आधारित है। अतः इसे पूर्व-मीमांसा, कर्म-मीमांसा या धर्म-मीमांसा कहते हैं। वेदांत वेद के उत्तर भाग अर्थात् उपनिषद्-भाग या ज्ञानकाण्ड पर आधारित है, अतः इसे उत्तर-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा या ब्रह्म-मीमांसा कहते हैं। पूर्व-मीमांसा के लिए मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा के लिए वेदांत शब्द प्रचलन में हैं। रामानुजाचार्य *मीमांसासूत्र* और *वेदांतसूत्र* को एक ही शास्त्र के पूर्व तथा उत्तर खण्डों के रूप में स्वीकार्य बताते हैं। शंकराचार्य के पूर्वकालिक आचार्यों की एक लम्बी परम्परा रही है जो मीमांसा एवं वेदांत को एक ही शास्त्र मानती थी और कर्मज्ञान समुच्चय का प्रतिपादन करती थी। मण्डन मिश्र सम्भवतः इस परम्परा के अंतिम आचार्य थे। आठवीं शताब्दी में मीमांसा-दर्शन दो परम्पराओं में विभक्त मिलता है। पहली परम्परा प्रभाकर की कुमारिल भट्ट की है, जिसे भट्ट मत कहा जाता है। दूसरी परम्परा प्रभाकर की है। उसे गुरु मत भी कहा जाता है। तीसरी परम्परा के रूप में मुरारी मिश्र का उल्लेख मिलता है, पर उनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

मीमांसक स्वर्ग के अस्तित्व को मानते थे। *मीमांसासूत्र* के रचयिता आचार्य जैमिनि वैदिक यज्ञों को न्यायसंगत मानते थे और उनके लिए यज्ञ स्वर्ग प्राप्ति का एक साधन मात्र थे। स्वर्ग पर आस्था आवश्यक मानने वाले इन चिंतकों ने भौतिक जगत के सुख-दुःख से छुटकारा पाना नहीं बल्कि स्वर्ग की प्राप्ति को ही मोक्ष माना। उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता का पूरी तरह समर्थन किया। मीमांसा के पहले यज्ञ अग्नि, वायु, वरुण और इंद्र जैसे देवताओं को प्रसन्न करने के साधन थे। पूरी जनता को यज्ञ का अधिकार था। मीमांसा के समय में यज्ञ शूद्रों के लिए वर्जित कर दिया गया। मीमांसकों ने ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को स्वीकार किया तथा दास-प्रथा को न्यायसंगत ठहराया। यह भी कहा जाता है कि मीमांसा

अनीश्वरवादी दर्शन है तथा इसके अनुयायियों ने वैदिक देवी-देवताओं का भी मजाक उड़ाया है। लेकिन अपनी विषय-वस्तु के लिहाज से यह मूलतः आदर्शवादी है। इसका अनीश्वरवादी पक्ष आगे चल कर समाप्त हो गया तथा अंधविश्वास और कर्मकाण्ड का पर्याय बन गया।

मीमांसा का लक्ष्य वैदिक कर्मकाण्ड का संगत व्याख्यान करना रहा है। यह कार्य स्वयं ब्राह्मण-ग्रंथों ने प्रारम्भ किया और श्रौत सूत्रों ने आगे बढ़ाया। मीमांसा ने इसके निष्पादन में पूर्ण योगदान दिया। यदि मीमांसा यहीं तक सीमित रहती तो वह वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या-मात्र रह जाती और उसे भारतीय दर्शनों में मान्य स्थान नहीं मिलता। मोक्ष को परम पुरुषार्थ मान कर मीमांसा ने वैदिक कर्मकाण्ड को दार्शनिक आधार प्रदान किया। प्राचीन काल में न्याय शब्द का प्रयोग पूर्व-मीमांसा के लिए किया जाता था। मीमांसा ने ज्ञान-मीमांसा तथा प्रमाण-मीमांसा के प्रसंग में न्याय-दर्शन के साथ संबंध जोड़ा। उसके सिद्धांतों को एक हद तक स्वीकार किया तथा कुछ हद तक उसका खण्डन भी किया। आचार्य जैमिनि के *मीमांसासूत्र* को पूर्व-मीमांसा का आदि ग्रंथ माना जरूर जाता है लेकिन जैमिनि पूर्व-मीमांसा के प्रवर्तक नहीं हैं। उन्होंने अपने से पहले के कई मीमांसा-आचार्यों की चर्चा की है जिन के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। बोधायन, उपवर्ष, भवदास और सुंदर पाण्डेय *मीमांसासूत्र* समर्थ भाष्यकार हैं।

जैमिनि-रचित *मीमांसासूत्र* में बारह अध्याय तथा तीन हजार सूत्र हैं जिनमें बताया गया है कि क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए। इसमें मुख्यतः धर्म की चर्चा है तथा धर्म-जिज्ञासा से ही यह शुरू होता है। आचार्य जैमिनि ने धर्म को वेद आधारित माना है। उन्होंने कर्म के लिए आदेश को ही धर्म क्रार देते हुए बताया है कि इसके फल की प्राप्ति अगले जीवन में होती है। जैमिनि मानते हैं फल किसी दाता पर निर्भर नहीं है बल्कि कर्म के अनुरूप स्वयं प्राप्त होता है। कुछ ऐसे ऐच्छिक कर्म होते हैं, जो यश के लिए किये जाते हैं तथा कुछ निषिद्ध कर्म होते हैं जिन्हें करना मनुष्य के लिए हानिकारक होता है। ये तीन प्रकार के आदेश या निषेध किसी व्यक्ति या ईश्वर के न हो कर वेद द्वारा निर्धारित हैं। मीमांसकों ने वेद और ब्राह्मणों को विशेष महत्त्व दिया है। उनकी मान्यता थी कि कर्म ही मानव जीवन का आधार है। कर्म के बिना मनुष्य कभी अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता तथा इसके बिना ज्ञान निरुद्देश्य है। आदिकालीन वैदिक युग में यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे। मीमांसकों ने उन्हें पुनरुज्जीवित करके नये अर्थ दिये। इसके बाद यज्ञ अब केवल देवताओं को प्रसन्न करने के लिए या केवल आत्मा की शुद्धि के लिए नहीं बल्कि इसलिए किये जाने लगे कि वे वेदों और ब्राह्मणों द्वारा निर्देशित हैं।

जैमिनि ने वेदों को रहस्यमय पवित्रता से परिपूर्ण शाश्वत और स्वयं-भू माना। वे मनुष्य-रचित न होकर अपौरुषेय तथा नित्य हैं। इसलिए पुरुषकृत दोषों से रहित हैं। इनकी रचना वेद-प्रकाश ऋषियों ने की है। जैमिनि के अनुसार वेदों का परम सत्य शब्द के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। स्वर ने ही शब्दों का रूप धारण किया है। अतः वेदों के शब्दों और स्वरों दोनों का ही पूरी तरह से अध्ययन करना और उनमें अंतर्निहित विचार पूरी तरह समझना आवश्यक है। मीमांसा के सिद्धांतकारों ने कहा कि वेदों पर उनकी आस्था अंधविश्वास पर न होकर उनकी वैधता और प्रामाणिकता पर आधारित है। उन्होंने इसके लिए तर्क का सहारा लिया। लेकिन इस संदर्भ में जैमिनि का 'नित्य शब्द सिद्धांत' गहरे रहस्यवाद का शिकार हो गया।

जैमिनि का कहना था कि शब्द ठीक-ठीक वही ध्वनियाँ और नाद नहीं हैं, जिन्हें हम सुनते हैं। वक्ता जो बोलता है और श्रोता जो सुनता है, वह केवल शब्दों की ध्वनि होती है। शब्द वास्तव में अक्षरों से रचे जाते हैं, जो स्थिर और शाश्वत है। ध्वनि शब्दों को स्पष्ट करती है। जैमिनि इस बात से तनिक भी विचलित नहीं थे कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग समय में अक्षरों का अलग-अलग प्रकार से उच्चारण किया जाता है। उनका कहना था कि वह परिवर्तन केवल उच्चारण और व्याख्या में होता है, लेकिन शब्द वास्तव में ज्यों के त्यों शाश्वत रहते हैं। प्रकाश की किरण केवल उस वस्तु को प्रकाशित करती है जिस पर वह गिरती है, उसे वह रचती नहीं है। इसी प्रकार शब्दोच्चारण केवल वेदों की ध्वनि को व्यंजित करते हैं, वेदों की सृष्टि नहीं करते। इस प्रकार वेदों के शब्द दैवी हैं, शाश्वत हैं अतः पथ-प्रदर्शन करने वाली शक्ति के रूप में किसी भी त्रुटि से रहित हैं।

लेकिन शब्दों के रूप में वेदों के शाश्वत रूप का समर्थन करते हुए जैमिनि ने इस बात को मानने से इनकार किया कि किसी समान-शाश्वत आत्मा ने इन शब्दों को रचा अथवा उनका उच्चारण किया होगा। शब्द स्वयं में पूर्ण और आत्मनिर्भर होता है, उसे किसी अन्य स्रोत द्वारा अर्थ अथवा प्रामाणिकता की आवश्यकता नहीं होती। जैमिनि के इन विचारों के संबंध में स्तचेर्बाटस्की की टिप्पणी है कि इस विसंगत विचार का, जिसे सभी रूढ़िवादी और गैर-रूढ़िवादी प्रणालियों ने अपने आक्षेपों और आक्रमणों का निशाना बनाया, मीमांसकों ने बड़ी ही दृढ़ात्मक सूक्ष्मता वाले तर्कों और उक्तियों से समर्थन किया। सम्भवतः इस समर्थन में ही उनकी समस्त वैचारिक प्रतिभा खर्च हो गयी, क्योंकि अन्य सभी समस्याओं पर उन्होंने अत्यंत निश्चयात्मक रूप से यथार्थवादी, तत्त्ववाद विरोधी, नकारात्मक स्थिति अपनायी।

मैक्समुलर के अनुसार जैमिनि ने ईश्वर का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि वह आक्रमणों से ईश्वर को बचाना

चाहते थे। संसार में जो अन्याय व्याप्त दिखाई देता है उसके लिए जैमिनि ईश्वर को जिम्मेदार नहीं ठहराना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने प्रत्येक चीज को कार्य-प्रभाव की परिधि में सीमित कर दिया और इस जगत में व्याप्त असमानताओं को अच्छे और बुरे कार्यों का स्वाभाविक परिणाम बतलाया। यह निश्चय ही अनीश्वरवाद नहीं था; दरअसल यह ईश्वर को क्रूरता अथवा अनावश्यक पक्षपात के उन आरोपों से, जो उस पर प्रायः लगाये जाते रहे हैं, मुक्त करने का प्रयत्न था। मीमांसकों को यदि नास्तिक कहा जाता था, तो इसका अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं था कि ईश्वर के क्रिया-कलापों को वे अपने ढंग से न्याय संगत सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे।

मीमांसकों के अनुसार कर्म के नियमों के आधार पर संसार की उत्पत्ति हुई है। मीमांसक द्रव्यों के शाश्वत स्वरूप पर विश्वास करते हैं। ईश्वर के बिना जगत के विकास एवं पदार्थों से उसके उद्भव के सवाल पर मीमांसकों का कहना है कि प्रत्येक प्रभाव का एक कारण होता है। प्रत्येक कर्म का अपना फल होता है। प्रत्येक वस्तु में एक अंतर्निहित शक्ति होती है। यह शक्ति ही फल अथवा प्रभाव को जन्म देती है। यदि इस शक्ति को नष्ट कर दिया जाए तो प्रभाव कार्यान्वित नहीं होता। बीज में एक अक्षय शक्ति रहती है जिसके फलस्वरूप बीज से अंकुर निकलता है। यदि इस शक्ति को नष्ट कर दिया जाए तो उसमें से अंकुर नहीं फूटता। जैमिनि इस रहस्यमयी अदृश्य शक्ति को अपूर्व कहते हैं। किसी कर्म का फल अपूर्व द्वारा ही प्राप्त होता है।

मीमांसा दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके उसे शाश्वत मानता है। उसके अनुसार आत्मा पदार्थ से अलग और कर्म से स्वतंत्र नहीं है। शरीरस्थ आत्मा के होने पर चैतन्य की उत्पत्ति होती है। ज्ञानेंद्रियों के किसी विषय के साथ संयोग होने पर चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मुक्त आत्मा विदेह तथा चेतनाविहीन होती है। लेकिन उसमें चैतन्य की शक्ति रहती है। आत्मा को जिन कष्टों और पीड़ाओं का अनुभव होता है, उनका कारण यह भौतिक शरीर है। इंद्रियों तथा अन्य अंगों के माध्यम से आत्मा बाह्य जगत से संबंध स्थापित करती है। और बाह्य जगत ही सभी व्यक्तियों के जीवंत अनुभवों का आधार है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन बाह्य जगत से मनुष्य के संबंधों की व्याख्या करता है। वह बाह्य जगत को यथार्थ मानता है।

आत्मा के शरीरयुक्त होने पर उसे कई प्रकार के ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं। प्रभाकर ने मीमांसा के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के अतिरिक्त एक पाँचवाँ प्रमाण अर्थापत्ति को माना। उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द की व्याख्या न्याय दर्शन के अनुरूप ही मानी। उपमान प्रमाण के बारे में न्याय दर्शन से थोड़ा-सा हट कर उन्होंने कहा कि यह उक्ति प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होती है। यदि कोई

मनुष्य जीवित है और घर पर नहीं है तो अर्थापति द्वारा जाना जा सकता है कि वह कहीं अन्यत्र है। इसके अलावा दो और प्रमाण सम्भव और अभाव या अनुपलब्ध माने गये हैं।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, द्रविड़ संस्कृति, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
2. चंद्रधर शर्मा (1991), भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली.
3. सर्वपल्ली राधाकृष्ण (2012), *भारतीय दर्शन*, दो खण्ड, राजपाल एंड संस, दिल्ली.
3. के. दामोदरन (2001), *भारतीय चिंतन परम्परा*, अनुवाद : जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय और धीरेंद्र मोहन दत्त, *भारतीय दर्शन*, अनु. : हरिमोहन झा और नित्यानंद मिश्र, पुस्तक भंडार, पटना.

— अजय कुमार पाण्डेय

पेटेंट

(Patent)

पेटेंट बौद्धिक सम्पदा अधिकारों का एक अत्यंत महत्वपूर्ण आयाम है। सदियों से हुकूमतें पेटेंट के लाइसेंस देती रही हैं। किसी ज़माने में अनुपलब्ध जिंसों के आयात के लिए शासन पेटेंट का लाइसेंस देता था, पर आजकल आविष्कारों को प्रोत्साहन देने के लिए पेटेंटों का इस्तेमाल होता है। पेटेंट के जरिये ऐसे क्षेत्रों में आविष्कार की प्रवृत्तियों को होने वाले नुकसानों को रोका जा सकता है जहाँ किसी आविष्कार की नक़ल करने में बहुत कम लागत आती है। दूसरे, पेटेंट के जरिये आविष्कार की सूचना देने वाले उस सूचना पर अपने अधिकार से वंचित नहीं हो पाते, भले ही अनगिनत लोग उस सूचना का इस्तेमाल करते रहें। व्यवहार में पेटेंट प्रणाली

पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के तहत प्रचलित मुक्त बाज़ार का अपवाद है। इसीलिए कुछ ऐसी प्रतिसंतुलनकारी नीतियाँ अपनाया ज़रूरी होता है जिनसे पेटेंटों के बावजूद समाज को प्रौद्योगिकीय विकास का लाभ मिलते रहने की गारंटी की जा सके। पेटेंटधारी को अगर सीमित अवधि के लिए स्वामित्व दिया जाता है, तो जनता को भी उसके बारे में जानने का अधिकार रहता है। पेटेंट प्रणाली के कारण ट्रेड सीक्रेट के नाम पर नयी प्रौद्योगिकियों को छिपाना अब निजी कम्पनियों के लिए मुमकिन नहीं रह गया है।

पेटेंट देने की पहली शर्त यह होती है कि आविष्कार में नवीनता होनी चाहिए। आविष्कार स्वतः प्रकट होने वाला न हो कर उसे करने में अध्यवसाय और परिश्रम दिखना चाहिए। उसके औद्योगिक इस्तेमाल की सम्भावनाएँ स्पष्ट होनी चाहिए। किसी नयी चीज़ की रचना के साथ आविष्कार का क्षण जुड़ा रहना ज़रूरी है। यानी, उस क्षण के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आने वाली रचना के बारे में पहले से किसी को पता नहीं होना चाहिए। देखा जाए तो आविष्कार की यह क्षण सुनिश्चित करने का कोई आम नियम अभी तक नहीं बन पाया है, हालाँकि प्रस्तावित सब्सटेंटिव लॉ ट्रीटी में यह प्रावधान भी है कि पेटेंट-पात्रता के लिए आवेदक को आविष्कार का पूरा ब्योरा दाखिल करना होगा। आविष्कार की औद्योगिक उपयोगिता और उसकी व्यावहारिकता एक ऐसी कसौटी है जो अमूर्त विचारों, सिद्धांतों और सौंदर्यशास्त्रीय रचनाओं को अलग करके पेटेंट-पात्रता के दायरे से निकाल देती है।

यहाँ खोज और आविष्कार का अंतर भी अहम है। अमेरिकी कांग्रेस ने इसे 1930 में ही स्पष्ट कर दिया था। इसके अनुसार किसी भी खनिज या वनस्पति की खोज की जा सकती है, पर उसे पूरी तरह से प्रकृति की रचना समझा जाएगा। लेकिन कलम लगाने या कृषि की अन्य तकनीकों को मदद से किया गया किसी वनस्पति का आविष्कार प्रकृति की रचना नहीं है। प्रकृति उसका पुनरुत्पादन या उसकी आवृत्ति नहीं कर सकती। ऐसी वनस्पति को पेटेंट किया जा सकता है, क्योंकि उसमें नवीनता है, उसके पीछे मानवीय प्रयास है और उसका पैदावार बढ़ाने में उपयोग भी किया जा सकता है। इसी तरह सार्वजनिक दायरे में पहले से मौजूद ज्ञान के रूपों, जैसे पारम्परिक ज्ञान, का पेटेंट देने की भी मनाही है। चूँकि पेटेंटों के साथ जुड़ी हुई यह शर्त पारम्परिक ज्ञान और सार्वजनिक दायरे की परिभाषा स्पष्ट नहीं करती इसलिए होता यह है कि आविष्कार करने की प्रक्रिया में ज्ञान के पहले से मौजूद रूपों का इस्तेमाल होता रहता है जिससे उसकी नवीनता संदिग्ध हो जाती है। इस समस्या का कोई इलाज नहीं खोजा जा सका है, बावजूद इसके कि किसी आविष्कार से पहले उस क्षेत्र में उपलब्ध ज्ञान की लिखित घोषणा की जाती

है। पारम्परिक समुदायों के पास वाचिक परम्परा के रूप में संचित ज्ञान की लिखित जानकारी अक्सर उपलब्ध नहीं होती, इसलिए आविष्कारों में इस पूर्व-संचित ज्ञान के प्रयोग को विनियमित करना तकरीबन नामुमकिन हो जाता है।

1994 में हुए ट्रिप्स समझौते (बौद्धिक सम्पदा संरक्षण के अधिकारों से संबंधित संधि) में कुछ ऐसे प्रावधान भी हैं जिनके तहत सारी शर्तें पूरी होने के बाद भी पेटेंट देने से इनकार किया जा सकता है। मसलन, अगर किसी आविष्कार के औद्योगिक इस्तेमाल से मानवीय, पशु और वनस्पति जगत को नुकसान पहुँच रहा है या पर्यावरण को क्षति पहुँच रही है तो पेटेंट नहीं दिया जाएगा। ट्रिप्स समझौते से पहले कुछ जगहों पर किसी उत्पाद के मैनुफैक्चरिंग की प्रक्रिया और बने-बनाये उत्पादों के पेटेंट में फ़र्क़ किया जाता रहा है। औषधि निर्माण के क्षेत्र में दवा बनाने की प्रक्रिया तो पेटेंट की जाती थी, पर दवा नहीं ताकि स्वास्थ्य रक्षा के लिए दवा अधिक से अधिक लोगों को उपलब्ध हो सके। अगर ऐसा न होता तो पिछले तीन दशकों से भारत का स्वदेशी दवा उद्योग आज की तरह विकसित न हो पाता। लेकिन, ट्रिप्स के बाद यह फ़र्क़ करना मुमकिन नहीं रह गया है। अब प्रौद्योगिकी के सभी क्षेत्रों में निर्माण की प्रक्रिया और उत्पाद, दोनों का पेटेंट किया जा रहा है।

पेटेंधारि की अनुमति के बिना उसके आविष्कार का प्रयोग करके औद्योगिक निर्माण और विपणन नहीं किया जा सकता। औषधि क्षेत्र और ट्रांसजेनिक ऑर्गेनिज्म के संदर्भ में यह अधिकार निःशर्त नहीं है। पहली बात तो यह है कि इस अधिकार की एक समय-सीमा (ट्रिप्स के तहत मोटे तौर पर बीस साल) रहती है। सामाजिक प्रासंगिकता के लिहाज़ से अलग-अलग समय सीमाओं को भी मान्यता दी गयी है। उदाहरण के लिए 1970 के पेटेंट एक्ट के तहत खाद्य अथवा औषधि के लिए सात साल के पेटेंट अधिकारों का ही प्रावधान है। पेटेंधारि खुद तय कर सकता है कि वह अपने आविष्कार का औद्योगिक दोहन खुद कर सकता है या दूसरे को यह इजाज़त देगा। लाइसेंसधारी तय कर सकता है कि वह लाइसेंस के दायरे में आने वाले सभी देशों औद्योगिक निर्माण करेगा या संरक्षित उत्पादों का आयात करवायेगा।

पेटेंधारि के ये अधिकार किसी भी तरह से परम या बिना शर्त नहीं होते। किसी देश में ऐसा क़ानून हो सकता है जो किसी विशेष आविष्कार का औद्योगिक इस्तेमाल रोकता हो। पेटेंधारि के लिए विभिन्न देशों के क़ानूनों के तहत काम करना लाज़मी है। राज्य के क़ानून उसे मजबूर कर सकते हैं कि वह कुछ समय के बाद दूसरे मैनुफैक्चरर्स को उत्पाद बनाने की इजाज़त दे ताकि संबंधित बाज़ार की माँग पूरी हो सके। मेडिकल पेटेंटों के मामले में यह शर्त जनस्वास्थ्य की संरक्षा के लिहाज़ से बहुत फ़ायदेमंद साबित हुई है।

पेटेंट प्रणाली के आर्थिक फ़ायदे लम्बे अरसे से विवादास्पद रहे हैं। विकासशील देशों में ही नहीं, धनी देशों में भी उनकी उपयोगिता और सामाजिक भूमिका पर बहस चलती रही है। चूँकि पेटेंट मुक्त बाज़ार प्रतियोगिता के अपवाद के रूप में अस्तित्व में आये थे, इसलिए यह सवाल पूछा जाना लाज़मी है कि उनसे व्यापक समाज को क्या फ़ायदा हो रहा है। विवाद का कारण यह है कि पेटेंट से कुछ लोगों को फ़ायदा होता है और कुछ को नुकसान। बड़ी कम्पनियों के लिए पेटेंट बहुत लाभकारी साबित हुए हैं, ख़ासकर औषधि क्षेत्र में। पर यह दावा विवादास्पद है कि इससे नये आविष्कारों को प्रोत्साहन मिला है। पेटेंट प्रणाली का प्रयोग करने वाली छोटी कम्पनियाँ नहीं मानती हैं कि उनके कारण उन्हें नये आविष्कारों के लिए जानकारी मिलेगी। आर्थिक रूप से कमज़ोर देशों के लिए भी पेटेंट प्रणाली विवादास्पद रही है। कड़े पेटेंट क़ानून इन देशों में स्थानीय स्तर पर नये आविष्कारों को प्रोत्साहन देने में नाकाम रहे हैं। वहाँ पेटेंट कराने के ज्यादातर आवेदन विदेशियों की तरफ़ से ही आते हैं। एक बात यह भी है कि पेटेंटिड प्रौद्योगिकी ग़रीब देशों के लिए ग़ैर-ज़रूरी भी हो सकती है।

दूसरे, यह भी विवाद का विषय है कि पेटेंटों के कारण ग़रीब देशों को उनकी ज़रूरत के मुताबिक़ प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण हो पाता है। व्यावहारिक तौर पर यह हस्तांतरण अभी उम्मीद से कम ही हुआ है। दरअसल, पेटेंट प्रणाली अमीर देशों के बीच प्रौद्योगिकी हस्तांतरण के लिए ही फ़ायदेमंद साबित हुई है। 1920 से 1970 के बीच अमीर देशों का पेटेंटों में हिस्सा केवल नब्बे से घट कर अस्सी फ़ीसदी ही हो पाया था। 1970 तक केवल छह फ़ीसदी पेटेंट ही विकासशील देशों के पास थे, जिनका अस्सी फ़ीसदी स्वामित्व विदेशियों के हाथ में था। विकासशील देशों द्वारा दिये गये पेटेंटों में से नब्बे फ़ीसदी का प्रौद्योगिकीय इस्तेमाल विदेशियों द्वारा उन देशों में किया ही नहीं गया। जाहिर है कि पेटेंटों का प्रयोग प्रौद्योगिकी के प्रसार के बजाय उसे रोकने के लिए किया गया। 1974 में अंकटाड द्वारा किये गये एक अध्ययन में इस स्थिति को सुधारने की अपील की गयी थी, पर आज भी कोई ख़ास सुधार नहीं हो पाया है। हालत यह है कि 1999 में प्रति दस लाख लोगों में धनी देशों में 273, मध्यम दर्जे के विकसित देशों में सात, ब्राज़ील में तीन, चीन में दो और भारत में एक पेटेंट लाइसेंस दिया गया। यह इसके बावजूद है कि भारत, ब्राज़ील और चीन बड़े-बड़े विकासशील देश हैं और उनमें बौद्धिक सम्पदा अधिकारों का लाभ उठाने की क्षमता है।

भारत सरकार ने तो महसूस कर लिया है कि बौद्धिक सम्पदा अधिकार अंगीकार करने के बावजूद कुछ विशेष उपाय अपनाने होंगे ताकि उसके हितों को नुकसान न पहुँच सके।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट कानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोजगारी, भूमण्डलीकरण और गरीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. न्यूनो पेरस द कारवैल्हो (2002), *द ट्रिप्स रिज़ीम ऑफ़ पेटेंट राइट्स*, क्वल्यूवेर लाँ इंटरनेशनल, लंदन.
2. डब्ल्यू.आर. कोर्निश (2003), *इंटलेक्चुल प्रापर्टी : पेटेंट्स, कॉपीराइट्स, ट्रेड मार्क्स, एंड एलाइड राइट्स*, स्वीट एंड मैक्सवेल, पाँचवाँ संस्करण लंदन.
3. जॉन एच. बार्टन (2003), *न्यूट्रीशन एंड टेक्नॉलॉजी ट्रांसफर पॉलिसीज़*, यूएनसीटीएडी/आईसीटीएसडी, ड्राफ्ट पेपर, जिनेवा.
4. फिलिप कुलेट (2008), *बौद्धिक सम्पदा संरक्षण और टिकाऊ विकास*, आलेख : अभय कुमार दुबे, इंस्टीट्यूट फॉर डेमोक्रेसी एंड सस्टेनिबिलिटी, वाणी, नयी दिल्ली.

पेटी बूज्वा

(Petites Bourgeois)

पेटी बूज्वा फ्रांसीसी भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है बुर्ज के लोग। फ्रांस में बुर्ज शब्द का प्रयोग उस नगर के लिए किया जाता था जहाँ लोग एक चहारदीवार में घिरे रह कर अपना काम करते थे। इन कामगारों में शिल्पकारों, दस्तकारों और छोटे व्यापारियों की बहुतायत होती थी। ख़ास बात है कि इस समूह में न तो किसान शामिल होते थे और न ही ज़मींदार। ये कामगार और छोटे व्यापारी मज़दूरों और मालिकों के बीच एक ऐसी धुरी का काम करते थे जो वस्तुओं के उत्पादन और निर्माण की भूमिका अदा करती थी। इस पद को राजनीतिक दर्शन और अर्थशास्त्र में कार्ल मार्क्स ने प्रचलित किया। उन्होंने अपनी दो रचनाओं सोशलज्म : यूटोपियन एंड साइंटिफिक और थियरी ऑफ़ सरप्लस वैल्यू में इस फ्रेंच शब्द का प्रयोग ब्रिटिश मध्यवर्ग के संदर्भ में किया। उनकी निगाह में पेटी बूज्वा एक वर्ग के रूप में पूँजीपति वर्ग (बूज्वाज़ी) और मज़दूर वर्ग के बीच की सामाजिक संरचना थी। मार्क्स की स्पष्ट मान्यता थी कि मध्यवर्ग यानी पेटी बूज्वा का बढ़ता हुआ आकार पूँजीवाद के

विकास का महत्वपूर्ण पहलू होता है।

सामाजिक संरचना पेटी बूज्वा में समाज के ऐसे लोग शामिल हैं जिनका सामाजिक स्तर न तो बहुत बड़ा है और न ही छोटा। एक तरह से निम्न मध्य-वर्ग से लेकर मध्य वर्ग तक राजनीतिक अर्थशास्त्र के हिसाब से इस श्रेणी में आता है। वह प्रायः छोटी दुकानों में काम करता है अथवा सरकारी कार्यालयों में लिपिक वर्ग अथवा छोटे- बाबुओं के रूप में कार्य करता है। पेटी बूज्वा पूँजीपतियों के लिए मज़दूरों से भिन्न काम तो करता है, पर वह मालिक की हैसियत नहीं प्राप्त कर पाता। उसकी हैसियत एक मातहत कर्मचारी की ही रहती है। मार्क्स ने समाज में सारी समस्याओं का जड़ इसी मध्यवर्ग को माना है जो मेहनत तो काफ़ी करता है लेकिन इतनी पूँजी नहीं कमा पाता कि उससे वह अपना कुछ नया काम कर सके। इसलिए वह ज़्यादा मेहनत करने के बावजूद वाजिब मेहनताना न मिलने के कारण अंदर-ही अंदर कुदृता रहता है और एक दिन खुद समस्या का कारण बन जाता है। कार्ल मार्क्स ने यह भी भविष्यवाणी की थी कि आने वाला समय मध्यवर्ग का होगा।

एक वर्ग के रूप में पेटी बूज्वा की संरचना ग्यारहवीं सदी तक बनने लगी थी। मध्य और पश्चिम के नगरों को वाणिज्य का केंद्र समझा जाने लगा था। इन नगरों के माध्यम से एक संगठित अर्थव्यवस्था की शुरुआत होने लगी थी। इन नगरों में रहने वाले लोगों ने अपने हितों की रक्षा के लिए एक संगठन बनाना शुरू कर दिया। इस तरह विभिन्न व्यवसायियों के बीच इनकी एक मण्डली बन गयी। इन मण्डलियों का बनना स्वाभाविक न होकर इनका मक़सद सामंतवादी जमींदारों के जुल्मों से बचने और उनसे टकराव टालने का था। होता यह था कि उस समय के सामंतवादी ज़मींदार शिल्पकारों, दस्तकारों और व्यापारियों से किराये और लगान के लिए किये गये क्ररार से अधिक की वसूली करते थे। मध्य-युग के अंत तक यानी सोलहवीं सदी के आख़िर तक पश्चिमी युरोप में वर्ग के सदस्यों को सामंतवादी ताक़तों से बचने और अपने सामाजिक और राजनीतिक हितों के लिए राष्ट्रीय राजतंत्र यानी तत्कालीन राजा और रानी की शरण में रहना पड़ता था। इसलिए वे राजा द्वारा बसायी गयी बस्तियों के बीच ही रहना उचित समझते थे जो प्रायः शहर के बीचो-बीच होती थीं। इस तरह के उदाहरण हमें भारतीय राजतंत्र में भी देखने को मिलते हैं। भारत के लगभग सभी राजतंत्रों में राजाओं द्वारा बनाये गये क़िलों के आस-पास ऐसे लोगों की बस्तियाँ हमें देखने को मिल जाएँगी। चाहे लुहार हो, सुनार हो, जुलाहा हो, शिल्पकार हो अथवा मोची, ये सभी राजाओं के क़िलों के पास रहने में ही अपनी भलाई समझते थे। यह बात हिंदू राजाओं के शासन में ख़ास तौर पर देखने को मिलती है।

इंदौर, ग्वालियर, रीवा, बड़ोदरा आदि राजाओं का इतिहास इसका साक्षी रहा है। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के अंत तक इंग्लैण्ड और हालैण्ड का पेटी बूज्वा वित्तीय लेन-देन करने की हैसियत तक पहुँच गया था।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अथवा कहें तो औद्योगिक क्रांति (1750-1850) तक आते-आते बूज्वा वर्ग की हालत में काफ़ी सुधार हो चुका था। व्यावसायिक और आर्थिक गतिविधियों में शामिल होने के साथ-साथ इस वर्ग का आकार भी बढ़ चुका था। इसमें दो प्रकार के लोग शामिल थे। पहला, उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला बूज्वा वर्ग (जिसमें उद्योगपति, बैंकर, नौकरशाह आदि शामिल थे); और दूसरा निम्न-मध्यम और मध्यम वर्ग वाले लोग जिनमें शिल्पकार, दस्तकार, छोटे-मोटे व्यापारी, सरकारी कार्यालयों में बाबू और चपरासी की नौकरी करने वाले लोग शामिल थे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक दूसरा विकास-क्रम यह हुआ कि पूँजीपतियों (यानी बूज्वा वर्ग) की ताक़त काफ़ी बढ़ गयी। इन लोगों ने उच्च वर्ग के रूप में न सिर्फ़ अपना एक अलग समूह बना लिया, अपितु वे पूँजी के बल पर सत्ता में भी भागीदारी करने लगे। बूज्वा वर्ग ने अपनी पूँजी का निवेश तकनीकपरक उद्योगों में करना शुरू कर दिया जहाँ मुनाफ़ा बहुत ज़्यादा था और लागत कम। परिणामस्वरूप वह समाज के अन्य लोगों से बहुत आगे निकल गया। लेकिन जो लोग इन पूँजीपतियों की फ़ैक्टरियों और कारख़ानों में शारीरिक श्रम से भिन्न काम करते थे, उन्हें बहुत कम वेतन मिलता था। जनसंख्या के आधार पर इन लोगों का समूह पूँजीपतियों के समूह से बहुत बड़ा था। यही वर्ग आगे चलकर पेटी बूज्वा के नाम से जाना जाने लगा। यह वर्ग हमेशा से अपने आप को ठगा हुआ महसूस करता है। चाहे वह सामंतवादियों का समय रहा हो, उदारतावादियों का अथवा पूँजीपतियों का—इनकी हालत एक कामगार और मज़दूर से थोड़ी ही अच्छी रही। इसीलिए ये लोग समय-समय पर पूँजीपति वर्ग के खिलाफ़ सड़कों पर उतरते रहे। उनकी इस प्रवृत्ति ने इन्हें समय-समय पर परिवर्तनकारी राजनीति का वाहक भी बनाया।

कार्ल मार्क्स ने बूज्वा और पेटी बूज्वा में अंतर साफ़ करते हुए कहा है कि आज समाज में दो वर्ग हैं और दोनों उद्योगीकरण की देन हैं। एक ऐसे लोगों का वर्ग है जो मालिक है, जिसके पास उनका अपना व्यवसाय है और जो वस्तुओं, उत्पादों और सेवाओं को बेचने और ख़रीदने के नाम पर पूँजी का संचय करता है। दूसरी तरफ़ पेटी बूज्वा नाम का वह विशाल वर्ग है जो इनके यहाँ कम करता है लेकिन जिसे अपने श्रम के बदले सही क़ीमत नहीं मिल पाती। मार्क्स मानते हैं कि मध्य काल तक यानी उद्योगीकरण के पहले तक बूज्वा वर्ग की संरचना में यह विभाजन देखने को नहीं मिलता। उस समय इस वर्ग के लोग स्व-रोज़गार करते थे,

छोटे व्यवसायी थे, उद्यमी और बैंकर के रूप में काम करते थे। लेकिन वे किसी के गुलाम नहीं थे। परंतु औद्योगिक पूँजीवाद ने समाज को दो वर्गों में बाँट दिया। एक बूज्वा और दूसरा पेटी बूज्वा। बूज्वा वर्ग पेटी बूज्वा का हमेशा शोषण करता रहेगा। मार्क्स ने इसे औद्योगिक मध्य-वर्ग का नाम भी।

उल्लेखनीय है कि मार्क्स और एंगेल्स ने मध्य वर्ग के विभिन्न हिस्सों का कोई वर्गीकरण पेश नहीं किया है। वे पुराने मध्यवर्ग यानी छोटे उत्पादकों, कारीगरों और किसानों को नये मध्यवर्ग यानी लिपिकों, सुपरवाइज़रों, तकनीकी कर्मचारियों, अध्यापकों और सरकारी अधिकारियों के बीच फ़र्क़ भी नहीं करते। बाद के मार्क्सवादी विद्वानों ने पेटी बूज्वा के राजनीतिक रुझानों पर ग़ौर किया। ख़ास तौर से उन्होंने फ़्रांसीसीवाद के उभार के सिलसिले में पेटी बूज्वा की भूमिका का विश्लेषण किया। मार्क्स आम तौर पर मानते थे कि पेटी बूज्वा समाज के परम्परानिष्ठ हिस्से की नुमाइंदगी करता है। वह जब मज़दूर आंदोलन में भी शामिल होता है तो उसका एजेंडा सुधार का होता है। बीस और तीस के दशक में मार्क्सवादियों ने पेटी बूज्वा को फ़्रांसीसीवाद के मुख्य सामाजिक आधार के रूप में देखा। लेकिन दूसरी तरफ़ विकसित पूँजीवादी समाजों में पेटी बूज्वा मध्यवर्गीय रैडिकलिज़्म का वाहक बन कर भी उभरा।

एडुअर्ड बर्न्सटीन ने पेटी बूज्वा की अपनी समझ के आधार पर ही मार्क्सवाद के क्रांति-सिद्धांत में अपना बहुचर्चित संशोधन पेश किया था। बर्न्सटीन का तर्क था कि वर्ग ध्रुवीकरण के तहत मध्यवर्ग विलुप्त नहीं होगा। बाद में पचास के दशक में कार्ल रेनर ने दिखाया कि सेवा-क्षेत्र में सक्रिय पेटी बूज्वा का आकार तो बढ़ता ही चला जा रहा है जिससे पूँजीवादी समाज की संरचना में बुनियादी परिवर्तन हो गये हैं। सत्तर के दशक में निकोस पौलंज़ा ने उत्पादक और अनुत्पादक श्रम में अंतर करके इस विमर्श को नया मोड़ दिया। उनका कहना था कि उत्पादक श्रम वह है जो प्रत्यक्ष भौतिक उत्पादन करके सरप्लस वैल्यू पैदा करता है। दूसरी तरफ़ मानसिक श्रम करने वाले लोग हैं। बाद के विद्वानों ने नतीजा निकाला कि पूँजीवादी समाजों में मज़दूर वर्ग का आकार छोटा हो जाएगा तथा मध्यवर्ग का आकार बढ़ता जाएगा। इससे भविष्य के मज़दूर वर्गीय आंदोलन को राजनीतिक समस्याओं का सामना करना होगा।

कुछ दूसरे मार्क्सवादी विद्वानों ने इसका एकदम उल्टा नतीजा निकाला है। उनका कहना है कि दफ़्तरी काम के मशीनीकरण के कारण मध्यवर्ग का सर्वहाराकरण होता चला जाएगा। साथ में तकनीशियनों, इंजीनियरों और पेशेवर कर्मचारियों का एक नया मज़दूर वर्ग उभरेगा। इसमें रैडिकल सम्भावनाएँ होंगी। कुछ ग़ैर-मार्क्सवादी विद्वानों ने मज़दूर वर्ग के बूज्वाकरण की थीसिस का प्रतिपादन किया है। मारक्यूज़

जैसे कुछ मार्क्सवादी चिंतकों ने भी इसमें अपना स्वर मिलाया है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. निकोस पूलांत्साज़ (1975), *क्लासिज़ इन कंटेम्परेरी कैपिटलिज़्म*, न्यू लेफ़्ट, लंदन, 1975
2. एरिक ओलिन राइट (1978), *क्लास, क्राइसिस ऐंड द स्टेट*, न्यू लेफ़्ट, न्यूयॉर्क.
3. मार्टिन निकोलस (1967), 'प्रोलेतेरियत ऐंड मिडिल क्लास इन मार्क्स', *स्टडीज़ ऑन द लेफ़्ट*, 7.

पॉल सेमुअलसन

(Paul Samuelson)

अर्थशास्त्रीय व्याख्याओं में गणितीय विधियों को स्थापित करने वाले पॉल सेमुअलसन (1915-2009) ने अपने अनुसंधान और अवलोकनों से बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस अनुशासन के विमर्श को गहराया से प्रभावित किया। उन्होंने समष्टिगत अर्थशास्त्र (मैक्रोइकॉनॉमिक्स) और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में खास तौर से नाम कमाया। सेमुअलसन ने बताया कि घरेलू अर्थव्यवस्थाएँ किस तरह से काम करती हैं, दूसरे देशों से व्यापार का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है और आर्थिक नीतियों को आर्थिक प्रदर्शन सुधारने के लिए कैसे इस्तेमाल किया जा सकता है। अपनी इन्हीं खूबियों के लिए सेमुअलसन को आर्थिक विज्ञान में अपने ज़माने के दो-तीन सबसे महत्वपूर्ण महारथियों में से एक माना जाता है। एक

पेशेवर अर्थशास्त्री के रूप में सेमुअलसन ने आर्थिक विचारों को गणित की भाषा में व्यक्त करना पसंद किया। उनका दावा था कि गणित के बिना अर्थशास्त्र को न तो व्यवस्थित क्रम दिया जा सकता है और न ही स्पष्टता प्रदान की जा सकती है। इस लिहाज़ से वे अल्फ्रेड मार्शल के इस कथन के विपरीत खड़े हुए थे कि आर्थिक गद्य में गणितीय समीकरणों को लाना उसकी बर्बादी है। सेमुअलसन को लगता था कि गणितीय निरूपण के ज़रिये आर्थिक मॉडलों और उनके तर्कों की प्रकृति ही नहीं, आर्थिक सिद्धांतों की वैधता भी अधिक प्रमाणित हो सकती है। सेमुअलसन के प्रभाव के कारण ही स्नातक स्तर पर अर्थशास्त्र की शिक्षा में रैखिक बीजगणित के साथ-साथ अवकलन और समाकलन गणित का इस्तेमाल बढ़ता गया है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि सेमुअलसन गणित को एक अर्थशास्त्रीय औज़ार से अधिक महत्त्व देते थे। इसलिए जहाँ ज़रूरत नहीं थी, वहाँ उन्होंने गणित के प्रयोग से हमेशा परहेज़ किया और अर्थशास्त्र पर अपने युग की सबसे लोकप्रिय पाठ्यपुस्तक लिखने में कामयाबी हासिल की। उन्होंने इस अनुशासन के लगभग हर क्षेत्र पर लेखन किया।

गैरी, इण्डियाना में जन्मे पॉल सेमुअलसन की प्राथमिक शिक्षा शिकागो में हुई और शिकागो विश्वविद्यालय में ही उन्होंने गणित और अर्थशास्त्र की पढ़ाई की। शुरू में ही उन्हें लग गया कि गणित का इस्तेमाल अर्थशास्त्र पर रैडिकल प्रभाव डाल सकता है। उन्होंने अपनी पीएचडी हार्वर्ड से की। उनकी थीसिस को समकालीन अर्थशास्त्र की गणितीय बुनियाद रखने वाला माना जाता है। उनके पेशेवर करियर का ज्यादातर हिस्सा मेसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नॉलॉजी (एमआईटी) में गुज़रा। 1970 में उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अवधि अर्थशास्त्र की दुनिया में सेमुअलसन और मिल्टन फ्रीडमैन के बीच की उस बहस से जानी जाती है जिसके केंद्र में पद्धति का प्रश्न था। फ्रीडमैन की मान्यता थी कि पूर्वधारणा सही है या ग़लत, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। फ़र्क़ इससे पड़ता है कि उसके आधार पर बनी थियरी या की गयी भविष्यवाणियाँ सही साबित होती हैं या नहीं। इसके जवाब में सेमुअलसन का कहना था कि पूर्वधारणा का त्रुटिपूर्ण होना किसी विज्ञान के लिए ख़ूबी की बात नहीं हो सकती। उन्होंने पूर्वधारणा और भविष्यवाणी के बीच फ़र्क़ करने के तौर-तरीकों को अस्पष्ट और मनमाना करार दिया। किसी भी पूर्वधारणा को किसी दूसरे दृष्टि-बिंदु से हक़ीक़त से परे या भ्रांत करार दिया जा सकता है। सेमुअलसन ने ज़ोर दे कर कहा कि तर्कशास्त्र के उसूल के मुताबिक़ सच्ची पूर्वधारणा के आधार पर सच्चे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, लेकिन भ्रांत पूर्वधारणाएँ दोनों



पॉल सेमुअलसन (1915-1915)

तरह के नतीजे दे सकती हैं। अगर हमें अर्थशास्त्र में सही और सटीक नतीजे चाहिए तो हमारी पूर्वधारणाएँ भी दुरुस्त होनी चाहिए।

फ्रीडमैन अगर आदर्श प्रतियोगिता के समर्थक और सरकारी हस्तक्षेप के विरोधी थे, तो सेमुअलसन कीसियन अर्थशास्त्र की सिफारिशों के मुताबिक आर्थिक प्रदर्शन सुधारने के लिए राज्य की अधिकाधिक पहलकदमियों के पक्ष में थे। सेमुअलसन ने पचास साल में 388 निबंध लिखे जो *क्लेक्टिड साइंटिफिक पेपर्स* (1966-77) में संकलित हैं।

उपभोक्ताओं द्वारा किये जाने वाले उपभोग संबंधी चयन को समझने के संबंध में सेमुअलसन की व्याख्याएँ अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इसके मुताबिक उपभोक्ता के व्यय का पता लगा कर उसके आधार पर उसकी प्राथमिकताओं का पता लगाया जा सकता है। फिर इन आँकड़ों का इस्तेमाल करके उपभोक्ता व्यवहार की कई पूर्वधारणाओं की परीक्षा की जा सकती है। मसलन, आर्थिक सिद्धांत कहता है कि उपभोक्ता का व्यवहार सुसंगत और सकर्मक होता है। अगर एक उपभोक्ता के पास एक से दामों वाली तीन चीजों के खरीदने का विकल्प है, तो वह कौन सी चीज खरीदेगा। सेमुअलसन का खयाल था कि उपभोक्ता की प्राथमिकताओं की कसौटी पर इस सिद्धांत को कसा जाए

और फिर भी यह ठीक निकले तो इसे वैध माना जा सकता है। उनका कहना था कि इस तरह के सिद्धांतों को जाँचने के लिए प्रयोग किये जाने चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में सेमुअलसन ने मुक्त व्यापार और संरक्षित व्यापार के अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले असर का अध्ययन किया। उन्होंने दिखाया कि भले ही लोगों और पूँजी का सारी दुनिया में मुक्त आवागमन मुश्किल हो, मुक्त व्यापार के फायदे विभिन्न देशों के उत्पादन को समान पहुँचेंगे। विश्लेषण की लम्बी कवायद के जरिये सेमुअलसन ने साबित किया कि अगर आलू के चिप्स हाथ से बनते हैं और अमेरिका में मजदूरी फ्रांस से ज्यादा है तो भी अंत में मुक्त बाजार के कारण फ्रांसीसी मजदूर और अमेरिकी मजदूर को मिलने वाला मेहनताना बराबर बैठेगा। यानी मजदूरी कम देने के कारण फ्रांस ज्यादा चिप्स बनायेगा, अमेरिका को निर्यात करेगा जो वहाँ के बाजार में बेचे जाएँगे, इस बढ़ी हुई माँग से फ्रांस में चिप्स बनाने वालों को ज्यादा दाम मिलेंगे और फ्रांसीसी मजदूरों का वेतन बेहतर हो जाएगा। उधर अमेरिका में फ्रांसीसी चिप्स के मुकाबले टिकने के लिए अमेरिका को अपने चिप्स सस्ते करने पड़ेंगे जिससे वहाँ के मजदूरों की बढ़ी हुई मजदूरी घटेगी। सेमुअलसन का यह विश्लेषण एक प्रमेय (फ़ैक्टर प्राइस इक्विलिब्रियम थिओरम) के रूप में सामने आया जिसकी अहमियत तेज़ी से ग्लोबल होती हुई आर्थिक प्रणाली के संदर्भ में नहीं नकारी जा सकती।

इसी तरह सेमुअलसन-स्टोल्पर प्रमेय के माध्यम से किसी आयातित माल पर लगाये गये शुल्कों के प्रभाव की जाँच की जाती है। स्टोल्पर के साथ बनायी गयी इस प्रमेय के जरिये सेमुअलसन ने दिखाया कि विदेशी माल के साथ प्रतियोगिता करने के लिए लगाये गये शुल्क से उत्पादन सामग्री के जरिये होने वाली आमदनी तो बढ़ जाती है, पर बाकी सब की आमदनी घटती है। मसलन, विदेशी कारों पर अगर शुल्क लगाया जाता है तो घरेलू कारों की माँग बढ़ेगी और नतीजे के तौर पर उनके दाम भी बढ़ जाएँगे। इससे उत्पादक को फायदा होगा, कार बनाने वाली सामग्री बेचने वालों को लाभ होगा, पर कार खरीदने वाले कुल मिला कर नुकसान में रहेंगे।

सेमुअलसन ने ही कीस के सिद्धांतों का अमेरिकी आर्थिक जगत, अर्थशास्त्र के छात्रों और आम लोगों से परिचय कराया। राष्ट्रपति जॉन एफ. कैनेडी और लिंडन बी. जॉनसन के आर्थिक सलाहकार के रूप में उन्होंने डेमोक्रेटिक प्रशासन को बेरोजगारी घटाने के लिए अर्थव्यवस्था में मुद्रा सप्लाई बढ़ाने और सरकारी खर्चा बढ़ाने के महत्व को समझाया। सेमुअलसन ने गालब्रेथ की तरह मौद्रिक नीति को पूरी तरह से खारिज नहीं किया, बल्कि फ्रीडमैन और गालब्रेथ के बीच

का मुकाम चुना। उनका कहना था कि इन दोनों तर्कों को अर्थव्यवस्था के स्थिरीकरण के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुनार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजनशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोपीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. जॉर्ज फ्रीवेल (सम्पा.) (1982), *सेमुअलसन ऐंड नियोजनशास्त्र* *इकॉनॉमिक्स*, क्लुवर-निजहॉफ़, बोस्टन, मेसाचुसेट्स.
2. ई. कैरी ब्राउन और रॉबर्ट एम. सोलो (सम्पा.) (1983), *पॉल सेमुअलसन ऐंड मॉडर्न इकॉनॉमिक थियरी*, मैकग्रा हिल, न्यूयॉर्क.
3. *द क्लेक्टड साइंटिफिक पेपर्स ऑफ़ पॉल सेमुअलसन* (1966-67), पाँच खण्ड, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. एड्रियन कैंडी, (1981) 'पॉल सेमुअलसन ऐंड साइंटिफिक अवेकनिंग ऑफ़ इकॉनॉमिक्स', जे.आर. शेकिल्टन और गारेथ लॉक्सली (सम्पा.), *ट्वेल्फ़ कंटेम्परेरी इकॉमिस्ट्स*, विली, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

प्रगति

(Progress)

शाब्दिक रूप से प्रगति का मतलब है आगे की तरफ़ गति करना। अग्रगति की यह अवधारणा सभ्यता की शुरुआत से ही मनुष्य के साथ है। इस विचार के इतिहासकार रॉबर्ट निस्बेट ने इसका उद्गम प्राचीन ईसाई विचारों में तलाशा है, लेकिन उसे मानवीय इतिहास की मुख्य चालक शक्ति बनाने का श्रेय युरोपीय ज्ञानोदय काल में विकसित हुए बुद्धिवादी और वैज्ञानिक विचारों को जाता है। इसी के बाद से पश्चिमी बौद्धिक परम्परा ने 'इतिहास के बढ़ते क्रमों' की संकल्पना को अपना बुनियादी तत्त्व बना लिया। उदारतावादी चिंतकों ने मानना शुरू कर दिया कि मानवता दरिद्रता, अज्ञान और अंधविश्वास की बेड़ियों को तोड़ती हुई निरंतर प्रगति के पथ पर चली जा रही है। व्यक्ति और समाज के हर पहलू को तर्कबुद्धि की कसौटियों पर कसना, किसी भी क्रिस्म के मिथक, रहस्यवाद, लोकोत्तर ज्ञान या वस्तुनिष्ठता की अवहेलना करने वाले रुझानों को प्रगति-विरोधी होने के नाते मानव-विरोधी करार दिया जाने लगा। यह दावा किया गया कि मनुष्य का प्रारम्भ सभ्यता के निचले स्तर से ऊँचे स्तर की तरफ़ यात्रा करना ही है। इमैनुएल कांट ने प्रगति के सिद्धांत का सूत्रीकरण सांस्कृतिक और व्यक्तिगत धरातल पर उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी आत्म-चेतना के रूप में किया। कांट मानते थे कि मनुष्य 'प्रकृति की प्रच्छन्न योजना' के मुताबिक अनिवार्यतः प्रगति करता चला जाएगा। इस आग्रह ने इतिहास लेखन पर भी अपना बोलबाला स्थापित कर लिया और उन्नीसवीं सदी के मध्य में इसी तर्ज पर ब्रिटेन का इतिहास कुछ इस तरह लिखा गया कि जैसे वह नैतिक, बौद्धिक और भौतिक विकास का एक सिलसिला भर हो। प्रगति के विचार ने युरोपीय मानस में ज़बरदस्त आशावाद का संचार किया। समाजवादी समाज और पूँजीवादी समाज की संकल्पनाओं में मूलतः प्रगति की धारणा ही है। उन्नीसवीं सदी में जैविक क्रम-विकास के सिद्धांत ने इस विचार को प्रकृति के अनिवार्य नियम का प्रभामण्डल प्रदान कर दिया और प्रगति की अभिव्यक्तियाँ आम तौर पर 'ग्रोथ' और 'इवोल्यूशन' जैसी जीववैज्ञानिक शब्दावली में की जाने लगीं।

दार्शनिक रूप से देखा जाए तो ज्ञानोदय और उसके तुरंत प्रभाव के दौर ने प्रगति के विचार को स्थापित करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। यही वह वक्र था जब गुजरे हुए समय के बरक्स समकालीनता की गुणात्मक नवीनता पूरी तरह से स्थापित हुई। इसे दो बातों ने सम्भव बनाया : ईसाइयत के बदले हुए मिजाज ने। ईसाइयत अब क्रियामत का

इंतजार करने के मूड में नहीं थी (अर्थात् ईसाई तत्त्व-ज्ञान भविष्य को सम्भव मानने लगा), और वैज्ञानिक प्रगति के आधार पर पैदा हुई नयी चेतना ने (जिसके ज़रिये भविष्य-रचना संकल्पित की गयी)। इस तरह जिसे 'नवीन' कहा जा रहा था, उसे अब भविष्य (जो ख़ाली था, कोरी स्लेट था) में निरंतर और सीमाहीन ढंग से प्रक्षेपित किया जा सकता था। इस बिंदु पर आ कर आधुनिकता की ऐतिहासिक समय-चेतना निर्मित होनी शुरू हुई। यह दो घटकों से मिल कर बनी थी : काल की ईसाई अवधारणा की स्वीकारोक्ति कि समय का क्राफ़िला कभी उल्टे पाँव नहीं लौटता, और चिरंतनता की ईसाई अवधारणा का नकार।

सम्पूर्ण मानवता प्रगति की तरफ़ ही जाएगी, यह धारणा ईसाइयत के धर्मप्रचारवादी उत्साह के माध्यम से भी पुष्ट हुई। इसके मुताबिक़ ईसाइयत के दायरे में सारी मानवता का समावेश किया जा सकता है, और तब उसे सार्वभौम रूप से एक ही दिशा में चलाया जा सकेगा। ज्ञानोदय के दौर में यह रवैया सेकुलरीकृत हो गया और धर्म की जगह विज्ञान ने ले ली। विज्ञान जैसे ही सार्वभौम प्रगति की चालक शक्ति बना, मनुष्य को सम्पूर्ण और त्रुटिहीन बनाने का प्रत्यक्षतावादी आग्रह जोर पकड़ने लगा। इस संक्रमण का मुख्य लक्षण यह विचार था कि मानवीय कष्टों की जिम्मेदारी दैवी प्रारब्ध पर नहीं डाली जा सकती। उनका कारण तो मानवीय अज्ञान है जिसका इलाज विज्ञान के पास है।

इसमें कोई शक नहीं कि वैज्ञानिक क्रांति और बुद्धिवाद का विकास युरोपीय चिंतन को धार्मिक सिद्धांतों और जड़सूत्रों से आज़ाद करके देश-दुनिया के बारे में वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त करने की तरफ़ ले गया। यह विश्वास सर्वोपरि हो गया कि मानवीय हस्तक्षेप के माध्यम से उन बाधाओं को दूर किया जा सकता है जो इनसान के आगे बढ़ने के रास्ते में अड़ी हुई हैं। ख़ामियाँ रेखांकित की जा सकती हैं, उनके समाधान खोजे जा सकते हैं और प्रकृति से मानवीय योजना के अनुसार काम लिया जा सकता है। प्रगति के विचार का मुख्य संदेश यह था कि अतीत की गिरफ़्त में रहने के बजाय उसकी कामयाबियों और नाकामियों से सबक सीख कर आगे बढ़ते चले जाना चाहिए। प्रगति के सिद्धांत ने हर नयी पीढ़ी को एक कार्यक्रम थमाया कि उसे पिछली पीढ़ी द्वारा संचित ज्ञान में वृद्धि करनी है। प्रगति के अपरिहार्य होने के आग्रह के तहत आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के लिए होने वाली उथल-पुथल को 'आधुनिकीकरण' का नाम दिया गया। जिन समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेज़ रफ़्तार से चली (पश्चिमी समाजों में), उन्हें उन 'पारम्परिक' समाजों के मुकाबले बेहतर और विकसित माना गया जो आधुनिक प्रगति की मान्यताओं के मुताबिक़ चलने में सफल नहीं हो पाए। इस

लिहाज से युरोपीय समाज एशियायी, अफ़्रीकी और लातीनी अमेरिकी समाजों से आगे बढ़े हुए क्रार दे दिये गये।

चूँकि प्रगति वस्तुनिष्ठ और ज्ञेय है, इसलिए उसे नापा भी जा सकता है। मात्रात्मक आकलन करने के लिए वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय आधार पर हुए विकास, उत्पादन, समृद्धि, उद्योगीकरण और शहरीकरण को प्रगति के घटकों के रूप में आँका जाने लगा। हर समाज और सरकार के लिए ज़रूरी समझा गया कि उन्हें ये घटक हासिल करने ही हैं। अगर अर्थव्यवस्था और प्रशासन में क्रमिक सुधार करने से ये उपलब्धियाँ हो सकती हैं तो ठीक है, वरना क्रांतिकारी उथल-पुथल के ज़रिये इन्हें प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। समाज की उत्पादकता, उसके आधार पर बनने वाली जिंसाँ की बाज़ार में बिक्री और फिर उस बिक्री के आधार एक ख़ास जीवन-स्तर की प्राप्ति का बार-बार चलने वाला चक्र प्रगति के चक्र के रूप में रूढ़ हो गया। प्रगति के इन अर्थों के परिणामस्वरूप उद्योगीकरण और शहरीकरण राजनीतिक अर्थों में यही आधुनिकीकरण पश्चिमी समाजों में उदित संवैधानिक शासन की संरचनाओं का पर्याय माना गया। संवैधानिक शासन के सर्वश्रेष्ठ रूप की तरह धीरे-धीरे उदारतावादी-लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित होती चली गयी। चूँकि पश्चिम के पास ये सभी घटक प्रचुर मात्रा में मौजूद थे, इसलिए उसने सारी दुनिया को प्रगति के पथ पर ले जाने वाले हरावल की आत्म-छवि ग्रहण कर ली।

प्रगति के विचार के पैरोकारों के बीच अक्सर एक आपसी बहस चलती रहती है कि आख़िर इतिहास किस तरह गति करता है। प्रगति के सबसे कट्टर समर्थक मानते हैं कि इतिहास सीधी रेखा में अपने पीछे अतीत को छोड़ता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है। प्रगति के दूसरे क्रिस्म के समर्थकों का दावा है कि इतिहास की गति सर्पिलाकार होती है। तीसरा विचार यह है कि इतिहास चक्रीय गति करता है। चक्रीय को ही इतिहास की सही गति समझने वाले खुद को ग़ैर-पश्चिम प्रज्ञा का प्रतिनिधि कहते हैं। यह अलग बात है कि चक्रीय गति के व्याख्याकार पश्चिम में भी मौजूद हैं और उनकी मान्यता है कि प्रत्येक समाज प्रगति और अवनति के उतार-चढ़ाव से अनिवार्यतः गुज़रता रहता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा,

स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. एंड्रू हेवुड (2004), 'ट्रेडिशन, प्रोग्रेस ऐंड यूटोपिया', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
2. आर. निस्बेट (1980), *हिस्ट्री ऑफ द आइडिया ऑफ प्रोग्रेस*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क, 1980
3. जे.बी. बरी (1920/1956), *द आइडिया ऑफ प्रोग्रेस*, डोवर, न्यूयॉर्क.
4. एल. लॉडेन (1977), *प्रोग्रेस ऐंड इट्स प्रॉब्लम्स*, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, सीए.

— अभय कुमार दुबे

प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य

(Progress: Critical Perspectives)

प्रगति के विचार का इतिहास लिखने वालों का दावा है कि पिछले तीन हज़ार साल के दौरान युरोप को इससे ज़्यादा किसी और ख़याल ने प्रभावित नहीं किया। लेकिन सिक्के का दूसरा पहलू यह है कि पहले युरोपीय मानस और फिर दुनिया में सोच-विचार के अधिकतर दायरों पर हावी हो जाने के बावजूद इस विचार की सत्ता को बार-बार प्रश्नांकित किया गया है। उन्नीसवीं सदी के स्वच्छंदतावादी चिंतकों का दावा था कि प्रगति के हाथों मनुष्य की स्थिति अपने आप बेहतर नहीं होती और कभी-कभी तो उसके कारण वह बदतर हो जाती है। इसी सदी के उत्तरार्ध में फ्रेड्रिख नीत्शे प्रगति के विचार के कड़े आलोचक के रूप में उभरे। उन्होंने उसकी जगह 'जो है उसी की चिरंतन पुनरावृत्ति' का विचार पेश किया। इसी परम्परा में जर्मन इतिहासकार ओसवाल्ड स्पेंगलर ने इतिहास के चक्रीय सिद्धांत को अपनाया। 1920 में प्रकाशित अपनी रचना *डिक्लाइन ऑफ वेस्ट* में स्पेंगलर ने आधुनिकतावादियों के अंध-आशावाद को चुनौती दी। प्रथम विश्व-युद्ध के विनाश और सर्वसत्तावाद के उभार का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय विकास लोकतंत्र और नैतिक प्रगति की गारंटी नहीं करते। 1932 में अंग्रेज़ भौतिकशास्त्री मोंटेग्यू डेविड एडर ने कहा कि प्रगति के ज़रिये सभ्यता के बढ़ते क्रदमों का जो दावा किया जा रहा है उसकी असलियत कुछ और है। दरअसल, मनुष्य पहले के मुकाबले अधिक दुखी है और उसके पर्यावरण की बुरी तरह से क्षति हो रही है।

ब्रिटिश इतिहासकार जे.बी. बरी ने प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ही दलील दी थी कि प्रगति का विचार अपने अंत को प्राप्त कर चुका है। बरी का मतलब यह था कि फ्रांसिस बेकन ने प्रकृति को मनुष्य के नियंत्रण में लाने की जो वैज्ञानिक तजवीज़ की थी, उसके आधार पर अब भरोसेमंद सामाजिक प्रगति की और अधिक गारंटी नहीं की जा सकती। दरअसल, विश्व-युद्ध के दौरान विज्ञान चालित फ़ौजी विनाश ने विज्ञान और प्रगति के रिश्ते को समस्याग्रस्त कर दिया था। इस मुक़ाम पर प्रगति के विचार को फिर से स्थापित करने की भूमिका दो तरह के समाज वैज्ञानिकों ने निभायी। एक तरफ़ डार्विन की थियरी से प्रभावित विद्वानों ने प्रगति को जैविक क्रम-विकास के ताज़े चरण के रूप में पेश किया। दूसरी तरफ़ तर्कसंगत-प्रत्यक्षवाद के पैरोकारों ने कहा कि भले ही सामाजिक प्रगति प्रेक्षणीय और प्रदर्शनीय न हो, पर वैज्ञानिक प्रगति अवश्य है।

डार्विन के सिद्धांतों के इस्तेमाल का नतीजा यह निकला कि प्रगति के सिलसिले को लाखों-लाख वर्षों के दौरान हुए क्रम-विकास से जोड़ दिया गया। इसके कारण उसकी तत्कालीन विफलताएँ और हानियाँ मामूली लगने लगीं। दूसरे प्रयास के परिणामस्वरूप सत्रहवीं सदी की वैज्ञानिक क्रांति को रिनैसैन्सैन्स वैज्ञानिक क्रांति से अलग करके एक प्रगति के क्राफ़िले के हरावल की तरह स्थापित कर दिया गया।

बीसवीं सदी की शुरुआत में हुए इस जीर्णोद्धार का मतलब यह नहीं था कि प्रगति के विचार को मिलने वाली चुनौतियाँ कमज़ोर पड़ गयी थीं। सवाल लगातार पूछे जाते रहे और परिणामों को सामाजिक और मानवीय कसौटियों पर कसा जाता रहा। आलोचकों ने एक परिकल्पना पेश की कि अगर अरस्तू आज के ज़माने में होते तो पिछले ढाई हज़ार साल में होने वाली वैज्ञानिक प्रगति का आकलन किस प्रकार करते? जवाब यह निकला कि अरस्तू परिणामों की चिंता किये बिना अंतहीन उत्पादन और उपभोग के आदर्श की किसी क्रीमत पर सराहना नहीं करते। हाँ, वे यह ज़रूर मानते कि विज्ञान ने यथार्थ का अधिक विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने की क्षमताएँ विकसित करने में सफलता अवश्य प्राप्त की है। लेकिन साथ में वे यह सवाल भी पूछते कि आखिर विज्ञान प्रदत्त शक्तियों का इस्तेमाल करके किन चीज़ों का ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है और उसके पीछे का मक़सद क्या है?

समाजशास्त्री पी.ए. सोरोकिन के अनुसार प्राचीन काल के चीनी, बेबीलोनियन, हिंदू, यूनानी, रोमन और अधिकतर मध्ययुगीन सिद्धांत रैखिक प्रगति के मौजूदा सिद्धांत के मुकाबले सामाजिक प्रगति की तालबद्ध, चक्रीय या किसी निश्चित रुझान से बँधी न रहने वाली गति के पैरोकार थे। सोरोकिन को यकीन है कि इतिहास की गति की यह समझ

हकीकत के ज्यादा नज़दीक है। जाहिर है कि प्रगति का विचार सार्वभौम होने का दावा जरूर करता है, पर उसकी पश्चिम-केंद्रीयता उसे ग़ैर-पश्चिमी अनुभव के संदर्भ में समस्याग्रस्त कर देती है। राजनीतिक और सामाजिक प्रगति को केवल पश्चिमी आईने में देखे जाने की प्रवृत्ति के कारण ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों और परम्पराओं की बुनियाद पर खड़े प्रगति के अलग तरह के मॉडलों की उपेक्षा हो जाती है।

आलोचकों का कहना है कि दुनिया इतनी बड़ी और विविध है कि केवल तार्किकता के माध्यम से उसे समझने की कोशिश कभी पूरी तरह कामयाब नहीं हो सकती। चूँकि प्रगति का विचार तर्कबुद्धि को श्रेष्ठ और सभी समस्याओं के हल मानने के साथ बँधा हुआ है इसलिए वह भी जीवन और जगत के सभी पहलुओं को अपने दायरे में नहीं समेट सकता। यही कारण है प्रगति के विचार पर आधारित उदारतावाद और समाजवाद जैसी विचार-प्रणालियाँ समग्र यथार्थ की व्याख्या करने की कोशिश में अंततः उसे विकृत कर देती हैं।

प्रगति के विचार को बीसवीं सदी में सबसे बड़ी चुनौती उत्तर-आधुनिक चिंतकों ने दी है। वे इस विचार को उन 'महा-आख्यानों' की श्रेणी में रखते हैं जिनके बोलबाले के तहत छोटे आख्यान छटपटाते रह जाते हैं। पहले एडोर्नो और होर्खाइमर ने और फिर बाउमेन और ल्योतार्द जैसे विचारकों ने बीसवीं सदी में मानवता के साथ हुई भीषण ज्यादतियों की ज़िम्मेदारी प्रगति के विचार पर डाली है। इस सिलसिले में उन्होंने नाज़ियों के तहत आश्वित्ज़ में हुए यहूदी संहार, स्तालिनवाद के नेतृत्व में हुई गुलाग की परिघटना और आणविक हथियारों की होड़ के उदाहरण दिये हैं। उन्होंने तर्कबुद्धि और मनुष्य की अच्छाइयों की जीत की भविष्यवाणी करने वाली ज्ञानोदय की परम्परा को आड़े हाथों लेते हुए कहा है कि जो तर्कसंगत की श्रेणी में नहीं आता, जो स्पष्ट न हो कर विभ्रमात्मक और प्रगतिशील न हो कर प्रतिगामी लगता है, उसे खारिज करने के कारण ही मनुष्यता को इन बर्बरताओं से गुज़रना पड़ा है। उत्तर-आधुनिक चिंतकों ने विज्ञान की वस्तु-पूजा सरीखी सराहना की आलोचना करते हुए कहा है कि विज्ञान को ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च स्रोत मानने का नतीजा वैचारिक जकड़बंदी, विविधता के सामान्यीकरण और विशेषज्ञ-संस्कृति के विरोधियों की आवाज़ बंद करने में निकला है।

पर्यावरणवादियों ने प्रगति के विचार की विस्तृत आलोचना पेश की है। नियो-लुड्डाइट लेखक किर्कपैट्रिक सेल ने अपनी रचना 'फ़ाइव फ़ेसिज़ ऑफ़ मिथ' में विश्लेषण किया है कि किस प्रकार प्रगति के फलितार्थों के कारण मनुष्यता अवश्यम्भावी पर्यावरणीय विनाश के कगार तक पहुँच चुकी है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रगति, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. ज़िगमंड बाउमेन (1989), *मॉडर्निटी ऐंड द होलोकास्ट*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. एम. होर्खाइमर और टी.डब्ल्यू. एडोर्नो (1972), *डॉयलेक्टिक ऑफ़ इनलाइटेनमेंट*, एलेन लेन, लंदन.
3. एंड्रू हेवुड (2004), 'ट्रेडिशन, प्रोग्रेस ऐंड यूटोपिया', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
4. एल. लॉडेन (1977), *प्रोग्रेस ऐंड इट्स प्रॉब्लम्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, सीए.

— अभय कुमार दुबे

प्रगतिवाद

(Progressivism)

हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी आंदोलन ने कविता को अशरीरी, अमांसल और अयथार्थ लोक से मुक्ति दिलाई और 'लघुता पर साहित्यिक दृष्टिपात' की परम्परा स्थापित की। मार्क्सवाद के साहित्यिक रूप के तहत विकसित इस आंदोलन के कारण हिंदी साहित्य लोक-संवेदना और लोक-भूमि पर दृढ़ता से पैर जमा सका। प्रगतिवाद ने दमनकारी-साम्राज्यवादी-सामंतवादी-कलावादी मूल्यों का प्रतिरोध किया। प्रगतिवाद के तहत साम्राज्यवाद का खण्डन करते हुए राजनीतिक जागरूकता पर बल दिया गया। प्रगतिवाद ने मेहनतकशों के श्रम का आदर, शोषण-अन्याय का चित्रण और प्रतिकार, क्रांतिकारी रोमांटिसिज़्म, सामाजिक उपयोगिता के प्रश्न, लघुमानववाद और व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद का विरोध, व्यक्तिवाद-अहंवाद-नस्लवाद का नकार, वस्तु की महत्ता पर बल, धर्म और ईश्वर में अविश्वास, यौनवादी-रीतिवादी साहित्य का तिरस्कार, मानवतावाद का समर्थन, इतिहास के

प्रति सजगता, बुद्धिवाद-विवेकवादी आधुनिकता का ग्रहण, रूढ़िवाद-यथातथ्यवाद का खण्डन, भौतिकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा, लोक-साहित्य की ओर उन्मुखता, कविता के साधारणीकरण और सम्प्रेषण व्यापार के प्रति सजगता, शिल्पगत चमत्कारों से दूरी, काव्यभाषा की सजगता, लोक-छंदों का आदर, कविता की स्वाभावोक्ति कला की प्रशंसा जैसी प्रवृत्तियों को प्रमुखता दिलाई। प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ केवल हिंदी तक ही सीमित नहीं रहीं। इसमें शुरू से ही उर्दू के साहित्यकार भी बड़े पैमाने जुड़े रहे। अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकार भी प्रगतिवाद की प्रेरणाओं से अछूते नहीं रहे। न केवल उनकी सृजनशीलता में इससे नये मोड़ आये बल्कि वे प्रगतिवादी मुहिम के साथ सांगठनिक रूप से भी जुड़े। प्रगतिवाद के प्रभाव के तहत ही 1943 में मुम्बई में जन नाट्य संघ (इप्टा) की स्थापना की स्थापना हुई। संघ की नाटक मण्डलियों ने सारे देश में घूम-घूम कर उपरोक्त विषय-वस्तुओं को केंद्रस्थ करने वाले नाटक खेले। आज़ादी के बाद फ़िल्म और थियेटर की अधिकतर बड़ी हस्तियाँ इप्टा से जुड़ी हुई थीं।

विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि 1935 में पेरिस में ई.एम. फ़ॉर्स्टर के सभापतित्व में हुए अधिवेशन से अनुप्रेरित होकर मुल्कराज आनंद, सज्जाद ज़हिर आदि ने प्रेमचंद के सभापतित्व में 1936 में एक अधिवेशन लखनऊ में आयोजित किया। भारत के प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन की शुरुआत यहीं से हुई। इस अधिवेशन में दिया गया प्रेमचंद का भाषण आज भी प्रगतिवाद का केंद्रीय वक्तव्य बना हुआ है। 1938 में कोलकाता अधिवेशन में रवींद्रनाथ ठाकुर को सभापतित्व प्रदान किया गया। वे स्वयं तो उपस्थित नहीं हो सके पर उनका भाषण पढ़ा गया जिसका प्रेरक प्रभाव पड़ा। इसी वर्ष सुमित्रानंदन पंत के सम्पादकत्व में *रूपाभ* पत्रिका में प्रगतिशील साहित्य का घोषणापत्र प्रकाशित हुआ। दिलचस्प बात यह थी कि प्रेमचंद और रवींद्रनाथ दोनों ही न तो कम्युनिस्ट थे और न ही भौतिकवादी दर्शन के पूरी तरह समर्थक। वे भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति समर्पित होने के साथ-साथ पददलित, शोषित, वंचित जनता के उन्नयन और साहित्य में नये विचारों के पक्षपाती थे। इसीलिए उन्होंने अपनी दृष्टि के खुलेपन के कारण प्रगतिवाद का समर्थन किया। भगवत शरण उपाध्याय ने 'प्रगति के ऐरावत' को 'रविठाकुर-प्रेमचंद की राह' कहा। लेकिन जैसे-जैसे प्रगतिशील आंदोलन में मार्क्सवादी विचारधारा और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ रिश्तों के सवाल को लेकर बहसें बढ़ीं, रचनाकारों के बीच मतभेद भी बढ़ते गये 1942 और 1953 में दिल्ली, 1947 और 1952 में इलाहाबाद और 1949 में लखनऊ प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन-केंद्र बने। साहित्य से जुड़ी तमाम समस्याओं पर वैचारिक युद्ध हुआ। इन दो दशकों में भारी सांस्कृतिक-राजनीतिक गहमागहमी रही। अनेक घोषणापत्र सामने आये

जिनके अध्ययन से प्रगतिशील आंदोलन की वैचारिक जद्दोजहद का पता लगता है।

प्रगतिवाद के हिंदी साहित्य पर प्रभाव को छायावाद और राष्ट्रवाद के साथ उसकी अन्योन्यक्रिया के माध्यम से भी समझा जा सकता है। दरअसल, हिंदी-साहित्य में प्रगतिवाद का प्रवेश इतनी तीव्र गति से हुआ कि छायावाद की वाचकी-सूक्ष्मता और आध्यात्मिकता चकित रह गयी। मध्ययुगीन परलोकोन्मुखी दृष्टि के स्थान पर छायावाद लोकोन्मुखी वैयक्तिक चेतना को प्रकृति के सहचरत्व में प्रस्तुत करने में लगा हुआ था, पर प्रगतिवाद ने छायावाद के आदर्शवाद को उखाड़ कर साहित्य को ठोस राजनीति के धरातल पर खड़ा कर दिया। छायावाद के प्रसिद्ध आलोचक नगेंद्र ने कहा कि, 'प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से पैदा नहीं हुआ, वह उसके यौवन का गला घोटकर ही उठ खड़ा हुआ।' इस स्थापना पर विवाद हुआ। कहा गया कि प्रगतिवाद तो छायावाद का ही विस्तार है। उसकी जड़ें हमारे देश में हैं। वह सीधी-सपाट भाषा में मज़दूर-किसान के शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाते हुए सामंतवाद-पूँजीवाद का खुला विरोध कर रहा है। द्वंद्वत्मक भौतिकवाद पर आधारित जनवादी लोकोन्मुखी प्रगतिशीलता के आधार पर प्रेमचंद की 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' प्रगतिवादी व्याख्या की गयी। छायावाद के दो प्रमुख हस्ताक्षर पंत और निराला प्रगतिवाद की ओर झुके। पंत तो थोड़े दिन तक प्रगतिवाद की हवा खा कर अरविंदवाद में चले गये, लेकिन निराला इस क्षेत्र में देर तक डटे रहे।

प्रगतिवाद के उदय और प्रसार के साथ एक प्रश्न यह भी जुड़ा हुआ है कि क्या गहरे संरचनापरक अर्थ में वह साहित्य का आंदोलन था? क्या वह सृजन-प्रक्रिया में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन करता है? दरअसल, प्रगतिवाद भाषा में कहने के ढंग को बदलता है और कृत्रिमता को प्रश्रय नहीं देता। रामविलास शर्मा ने प्रगतिवाद को भारतीय संस्कृति की शक्तिशाली विरासत में स्थापित करने का बौद्धिक उद्यम किया। प्रगतिवाद के प्रमुख व्याख्याता शिवदान चौहान ने 'हिंदी कविता का विकास' प्रदर्शित करते हुए उसे सहज-सौम्य रूप देने का प्रयास किया। 1955 में *काव्यधारा* शीर्षक एक पुस्तिका में उन्होंने कहा कि, 'उत्तर छायावाद-युग के अनेक तरुण कवि प्रगतिवाद प्रेरित नये जीवनादर्श और जन-मंगल के उत्साहित भरे गीत गाते हुए सामने आये। इनमें नरेंद्र शर्मा तो थे ही, शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव आदि प्रमुख थे। छायावादी ढर्रे के अनेक तरुण कवियों— शम्भुनाथ सिंह, विद्यावती 'कोकिल' आदि में प्रगतिवाद की अनुगूँज सुनायी दी। गाँधीवादी कवियों सोहनलाल द्विवेदी आदि ने नये विषयों पर कविताएँ लिखीं। यहाँ तक की प्रयोगवादी चेतना से आक्रांत कवि गिरिजा कुमार माथुर, गजानन माधव मुक्तिबोध,

नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा आदि भी प्रगतिशील काव्य धारा के प्रवाह में रहे। इस समय में प्रगतिवाद का इतना जोर रहा कि युगांतर उपस्थित हो गया। किंतु नये तरुण-प्रगतिशील कवि भारतीय जनमानस से गहरे जुड़ नहीं पाये। इनकी कविता किसान-मजदूर की 'सहानुभूति' बनकर रह गयी। इनमें किसी नये काव्यादर्श का विकास नहीं हो सका। ये कवि अपनी दलगत राजनीति के दलदल में फँसते गये। फलतः कविता राजनीति के संकीर्ण पथों पर भटक गयी। उसमें अनुभूति का खुलापन मारा गया। और बहुत से पाठक इस कविता से चिढ़ने लगे। लोग कविता सुनने से ही कतराने लगे, क्योंकि यह कविता नये रागों के विपरीत पड़ती थी, उसमें हृदय-संवेदना का अभाव होता गया।'

प्रगतिवादी धारा की एक प्रमुख आलोचना यय है कि उन्होंने लेनिन से प्रभावित होकर साहित्य को दलीय आधार पर प्रचार का अंग तो बनाया लेकिन वे लेनिन जैसी व्यापक और उदार दृष्टि अपने में समाहित नहीं कर सके। राजनीतिक और वैचारिक दलबंदी से निकलने वाली संकीर्णता ने कई बार प्रगतिवादियों भारतीयता की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के खिलाफ खड़ा कर दिया। वे भारतीय परम्पराओं, मिथकों, लोक-विश्वासों, आस्थाओं, देवी-देवताओं से जुड़े लोक-मानस को ठीक से समझे बगैर उसका मजाक उड़ाने में लगे रहे। इस अभियान में प्रगतिवाद के सांस्कृतिक सिपहसालार शिवदान सिंह चौहान की भूमिका प्रमुख रही।

प्रगतिवाद के बारे में एक व्याख्या यह भी है कि हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद का उदय राष्ट्रीय काव्यधारा के भीतर से हुआ। माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे कवियों के भीतर से प्रगतिवाद फूटा। यह व्याख्या प्रगतिवादी अवधि पर कई कोणों से विचार करने की ज़रूरत पेश करती है। छायावाद के दो प्रबल प्रतिनिधियों निराला और पंत ने *कुकुरमुत्ता* और *ग्राम्या* के माध्यम से नयी वैचारिक भूमि तैयार की। पंत ने *युगकवि* में नूतन युग की माँग के अनुरूप प्रगतिवादी सिद्धांतों का विवेचन किया। यह अपने ही ढंग की प्रगतिवादी कलाकृति है। 1940 से 1954 तक प्रगतिवादी कविता की धूम रही। इस बीच जो प्रगतिवादियों के साहित्य में रूसी समाजवाद और राज्य के जयगान भी गाये गये और फ़ासिस्ट विरोधी नारे भी गूँजे। स्तालिनवाद की लड़ाई पर लिखी गयी रांगेय राघव की कृति *अजेय खँडहर* और शिवमंगल सुमन की *मास्को अभी दूर है* ऐसी ही रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में एक नयी विश्वचेतना का जन्म हुआ और एक नया जागरण देखने को मिला।

प्रगतिवाद पर शिवकुमार मिश्र ने *नया हिंदी काव्य*, विजय शंकर ने *हिंदी काव्य में प्रगतिवाद*, उमेश मिश्र ने *प्रगतिवादी काव्य* शीर्षक से अनुसंधान कार्य किया। अपने-

अपने ढंग से नंद दुलारे वाजपेयी, प्रकाशचंद्र गुप्त, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान आदि ने भी प्रगतिवादी परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया। *हंस*, *रूपाभ*, *नया साहित्य*, *काव्यधारा* और *कृति* जैसी पत्रिकाओं ने ऐसा तमाम साहित्य प्रकाशित किया जो प्रगतिवाद के दायरे में माना जाता है। इस दौर के कुछ उल्लेखनीय काव्य-संग्रह इस प्रकार हैं : निराला का *नये पत्ते* और *कुकुरमुत्ता*, पंत का *ग्राम्या*, रामेश्वर शुक्ल अंचल का *करील*, नरेंद्र शर्मा का *रक्त चंदन* और *अग्निशस्य*, गिरिजा कुमार माथुर का *धूप के धान*, नागार्जुन का *युगधारा* और *संतरी पंखों वाली*, रांगेय राघव का *अजेय खँडहर* और *पिघलते पत्थर*, त्रिलोचन का *धरती*, केदारनाथ अग्रवाल का *युग की गंगा*, *लोक और आलोक*, *फूल नहीं रंग बोलते हैं*, शिवमंगल सिंह सुमन का *प्रलय सृजन* और *विश्वास बढ़ता ही गया*। शमशेर बहादुर सिंह यूँ तो प्रगतिवादी दल में थे लेकिन उनमें प्रयोगवाद के संस्कार अधिक सक्रिय रहे। शील का संकलन *अँगड़ाई* इस क्षेत्र की एक उपलब्धि है। इसी प्रवाह में मुक्तिबोध आये। उन्होंने *भूरी भूरी खाक धूल* और *चाँद का मुँह टेढ़ा है* से प्रगतिशील काव्य को ऊँचाई पर पहुँचाया। लम्बी कविताओं का एक दौर चला जिसमें मुक्तिबोध की लम्बी कविता *अँधेरे में* आधुनिक भारत के अंतर्विरोधों का दहकता हुआ दस्तावेज़ बनकर सामने आयी। नेहरू-युग का राजनीतिक मोहभंग मुक्तिबोध की इस काव्यात्मकता में निथुर-निचुड़ कर आया।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफ़ीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. नामवर सिंह (1954), *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ*, किताब महल, प्रयाग.
2. प्रेमनारायण शुक्ल (1960), *हिंदी साहित्य के विविधवाद*, पद्मजा प्रकाशन, कानपुर.
3. रांगेय राघव (1964), *प्रगतिशील हिंदी के मानदण्ड*, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा.

4. गजानन माधव मुक्तिबोध (1964), *नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध*, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर.
5. केदारनाथ सिंह (1971), *आधुनिक हिंदी कविता में बिम्बविधान*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.
6. कृष्णदत्त पालीवाल (2002), *हिंदी आलोचना के नये वैचारिक सरोकार*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

प्रजनन-प्रौद्योगिकी

(Reproduction Technology)

नारीवाद मातृत्व को स्त्री-जीवन का केंद्रीय आयाम मानने वाली सामाजिक-सांस्कृतिक धारणा के साथ शुरू से ही बहस चलाता रहा है। इसका मुख्य मुद्दा है अपनी प्रजनन-क्षमता पर स्त्री का नियंत्रण, प्रजनन-नियंत्रण प्रौद्योगिकी की उपलब्धता और उस तक पहुँच। रैडिकल नारीवादियों ने यह प्रश्न विशेष रूप से उठाया है। सत्तर के दशक में सुलामिथ फ़ायरस्टोन ने प्रजनन-प्रौद्योगिकी को स्त्री-मुक्ति की सम्भावना के रूप में देखते हुए विश्लेषण किया कि स्त्री-पुरुष के बीच असमानता की जड़ें उनकी जैविकीय भिन्नता में निहित हैं। गर्भधारण, गर्भ-वहन, जन्म देने तथा बच्चे को स्तनपान कराने की भूमिका स्त्री को हमेशा उसके जैविकीय कार्यों से जोड़े रखती है। इसी वजह से उसे पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी प्रक्रिया में जेंडर आधारित विभेदों का विकास होता है जिसे समाप्त करने की अनिवार्य शर्त है कि प्राकृतिक प्रजनन की जगह कृत्रिम प्रौद्योगिकी प्रचलित की जाए। प्राकृतिक प्रजनन से जुड़ी सभी प्रक्रियाएँ स्त्री-शरीर को दुर्बल बनाती हैं। उनसे स्त्री-शरीर मुक्त करने की ज़रूरत है। एक रणनीति के तहत भ्रूण को 'कृत्रिम गर्भ' में विकसित करने की प्रक्रिया को अपनाना होगा। फ़ायरस्टोन ने नतीजा निकाला कि ऐसे प्रौद्योगिकीय उपादानों से ही स्त्री अपनी देह और प्रजनन-क्षमता पर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर पायेगी।

प्रजनन-प्रौद्योगिकी का तात्पर्य ऐसे चिकित्सकीय ज्ञान और उसके प्रयोगों से है जिसका संबंध मानवीय प्रजनन तथा उसकी यौनिकता से है। प्रजनन की पुरानी प्रौद्योगिकी का उद्देश्य गर्भनिरोध या गर्भपात के माध्यम से मानवीय प्रजनन पर नियंत्रण करना था। दूसरे क्रिस्म की प्रजनन-प्रौद्योगिकी का ताल्लुक चिकित्सकीय प्रयोगों द्वारा बच्चे के जन्म की प्रक्रिया से है। गर्भाधान की प्रौद्योगिकी एक तीसरी तकनीक है जिसका उद्देश्य बाँझपन से मुक्ति, कृत्रिम वीर्य-रोपण,

किराये की कोख में गर्भाधान यानी सरोगेसी, अण्डाणुओं के निषेचन और इन-विट्रो निषेचन को बढ़ावा देना है। प्रजनन की एक अन्य प्रौद्योगिकी का संबंध भ्रूण के स्वास्थ्य और उसके आनुवंशिक गुणों में आवश्यकतानुसार फेरबदल करना है। इस प्रौद्योगिकी में अल्ट्रासाउण्ड, गर्भाशय की जाँच तथा आनुवंशिक छानबीन के माध्यम से भ्रूण के सामान्य चरित्र का निर्धारण किया जाता है। पाँचवें क्रिस्म की प्रजनन प्रौद्योगिकी उम्र बढ़ने के बावजूद शरीर की प्रजनन क्षमता बनाये रखने का काम करती है। रजोनिवृत्ति के बाद भी स्त्री के शरीर में हारमोन-प्रतिस्थापन चिकित्सा तथा वियाग्रा जैसी दवाओं के माध्यम से पुरुषों की यौन-क्षमता बढ़ाने की तरकीबें इसकी मिसाल हैं।

फ़ायरस्टोन का विमर्श प्रजनन-प्रौद्योगिकी के रूप में स्त्री-मुक्ति की आशाओं से लबालब था। लेकिन बाद में कई नारीवादियों ने उनके विचार पर संशय व्यक्त किया। इस बात पर तो नारीवादियों में सर्वसम्मति थी कि प्रजनन-नियंत्रण की प्रौद्योगिकी ने स्त्रियों को व्यापक तौर पर लाभाञ्चित किया है, बावजूद इसके अभी भी इन संसाधनों तक सभी स्त्रियों की समान पहुँच सुनिश्चित नहीं हो पायी है। पर इस मतैक्य के साथ कुछ चिंताएँ भी जुड़ी हुई थीं जिनका संबंध इस प्रौद्योगिकी में निहित के स्वास्थ्यगत जोखिमों, गर्भनिरोधकों के हानिकारक दुष्परिणामों एवं अविकसित देशों की स्त्रियों पर किये जा रहे गर्भनिरोध या बंध्याकरण के लिए सुइयों के प्रयोग से था। नारीवादियों ने कुछ प्रौद्योगिकियों की विशेष आलोचना की है। खासतौर पर बच्चे के जन्म का प्रबंधन करने वाली प्रौद्योगिकी की। गर्भनिरोध की तकनीकों, आनुवंशिक गुणों की भ्रूण में छानबीन, इन-विट्रो निषेचन तथा हारमोन प्रतिस्थापन चिकित्सा पद्धति विशेष रूप से नारीवादी आलोचना के केंद्र में है।

वस्तुतः प्रजनन-प्रौद्योगिकी के प्रश्न पर नारीवादी धाराओं में काफ़ी मतभेद हैं। इस सिलसिले में प्रजनन-प्रौद्योगिकी पर लगाये गये सवालिया निशान गौर करने क्राबिल हैं। क्या इस प्रौद्योगिकी ने स्त्रियों की स्वायत्तता में बढ़ोतरी की है? भारत की महिलाओं पर इसका क्या प्रभाव पड़ा है? किस क्रीमत पर यह स्वायत्तता प्राप्त की गयी है? स्वास्थ्य-कर्मियों के कुछ समूहों ने इस प्रौद्योगिकी को अत्यंत लाभकारी करार देने वाले मिथक को मानने से इनकार कर दिया है। कुछ देशों में परिवार नियोजन कार्यक्रम के दौरान निरोधक दवाओं के भयानक दुष्परिणामों की तरफ ध्यान खींचते हुए उन्होंने दिखाया कि इस पूरी प्रक्रिया में स्त्री-स्वास्थ्य तथा प्रजनन अधिकारों की लगातार अनदेखी हुई है। राज-सत्ता का उद्देश्य स्त्री का गर्भनिरोध नहीं, बल्कि जनसंख्या नियंत्रण है। इसी तरह रैडिकल नारीवादियों के एक हिस्से ने प्रजनन-प्रौद्योगिकी को सिरे से खारिज करते हुए

तर्क दिया है कि यह एक पितृसत्तात्मक प्रौद्योगिकी है जिसने स्त्री-शरीर पर नियंत्रण के माध्यम से प्रजनन-प्रक्रिया को स्त्री से छीन कर चिकित्सा उद्योग को सौंप दिया है। यह उद्योग स्त्री-शरीर के अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है।

एक खास तरह की प्रौद्योगिकी में स्त्री के अंडाणु तथा पुरुष के शुक्राणु का संयोग गर्भ के बाहर प्रयोगशालाओं में सम्पन्न कराने के लिए हार्मोनल दवाओं का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद शल्य-क्रिया के माध्यम से किसी एक निषेचित अण्डे का चुनाव किया जाता है। निषेचन की प्रक्रिया को परख-नली में सम्पन्न कराने के उपरांत उसे स्त्री शरीर में प्रतिस्थापित किया जाता है। एक अंतर्राष्ट्रीय नारीवादी समूह फ़ेमिनिस्ट इंटरनैशनल नेटवर्क ऑफ़ रज़िस्टेंस टू रिप्रोडक्टिव ऐंड जेनेटिक इंजीनियरिंग ने विट्रो-निषेचन प्रौद्योगिकी का पुरजोर विरोध किया है। इस समूह के लेखकों तथा कार्यकर्ताओं का मानना है कि विज्ञान ने इस पुरुषवादी प्रौद्योगिकी के माध्यम से स्त्री का कार्य, जिसे सिर्फ़ वही कर सकती थी, छीन कर पुरुषों के हाथ में दे दिया है। इस प्रौद्योगिकी की ईजाद उन गिनी-चुनी महिलाओं के प्रजनन में सहायक भूमिका अदा करने हेतु किया गया था जो बच्चे पैदा कर पाने में असमर्थ थीं। लेकिन अब इसे मानव-प्रजनन के प्राथमिक विकल्प के रूप में देखा जाने लगा है। आलोचकों का मानना है कि विट्रो-निषेचन जैसी प्रौद्योगिकी ने स्त्री की प्रजनन-क्षमता को पुरुष-नियंत्रण में ला दिया है। यह पुरुषों में पैदा हुई गर्भाशय-ईर्ष्या का परिचायक है। इस प्रौद्योगिकी-हस्तक्षेप ने स्त्री-शरीर को विज्ञान की एक पितृसत्तात्मक रणनीति के तहत एक ऐसी विशेषता से दूर कर दिया है जिसके कारण वे न सिर्फ़ मर्दों से भिन्न ही नहीं, बल्कि श्रेष्ठ भी थीं।

फ़ायरस्टोन द्वारा प्रजनन-प्रौद्योगिकी के संदर्भ में दिये गये तर्कों पर नारीवादियों ने तरह-तरह से विचार किया है। नारीवाद का आरोप रहा है कि सत्ता के साथ चिकित्सा और विज्ञान के पितृसत्तात्मक हितों के आपसी गठजोड़ ने स्त्रियों की स्वायत्तता और उनकी ज्ञान-परम्परा को सदैव कमतर करके आँका है। नारीवादी समूहों ने प्रजनन-प्रौद्योगिकी को सामाजिक सत्ता-संबंधों के व्यापक ढाँचे के भीतर विश्लेषित करने का प्रयास किया। वॉकमैन ने उन व्यापक संदर्भों की तरफ़ ध्यान दिलाने का प्रयास किया जो विकास की दिशा तय करते हुए इस प्रौद्योगिकी की उपलब्धता तथा उसके उपयोग को भी निर्धारित करते हैं। उन्होंने दवा बनाने वाली कम्पनियों के व्यावसायिक हितों की चर्चा करते हुए बताया कि किस प्रकार इन कम्पनियों ने गर्भनिरोधक दवाओं के ज़रिये भरपूर लाभ कमाया। उसी प्रकार रॉबर्ट ने उस पुरुषवादी वर्चस्व को रेखांकित किया जो इन प्रजनन-प्रौद्योगिकी की उपलब्धता और उसके प्रयोग को नियंत्रित करती है। इस क्रम में

चिकित्सा, व्यवसाय, क़ानून, राज्य एवं धार्मिक विचारधाराएँ तो अपनी भूमिकाएँ निभाती ही हैं, साथ ही स्त्री-पुरुष रिश्ते भी महत्वपूर्ण हैं जिनके ज़रिये इस पुरुष-प्रधान समाज में इतरलैंगिकता को प्रकृति की देन बताने का मिथक बनाये रखते हैं।

इन आलोचनाओं के बरक्स प्रजनन-प्रौद्योगिकी कई तरह के तर्कों के आधार पर स्वयं को जायज़ भी ठहराती है कि इसके कारण अब स्त्रियों को 'चुनाव' का अधिकार तथा 'स्वायत्तता' प्राप्त है। कई नारीवादियों ने इस वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय प्रक्रिया को स्वागत-योग्य करार देते हुए कहा है कि यह प्रौद्योगिकी मूल्य-निरपेक्ष है। इसका अच्छा-बुरा होना इस्तेमाल करने वालों पर निर्भर करता है। इन नारीवादियों ने इस प्रौद्योगिकी को न सिर्फ़ स्त्री के प्रजनन-अधिकार तथा खुद निर्णय लेने की क्षमता के रूप में देखा है, बल्कि इस बात पैरवी भी की कि इसका प्रयोग सभी स्त्रियों को करना चाहिए। यह दृष्टिकोण अधिकतर उदारतावादी तथा लेस्बियन समूहों का है। वे इस प्रौद्योगिकी पर सवाल खड़े करने के बजाय उस तक सभी स्त्रियों की पहुँच और उसके वितरण को लेकर चिंतित हैं। प्रजनन-प्रौद्योगिकी की इस पैरोकारी के विपरीत उत्तर-संरचनावादी लेखक तथा बुद्धिजीवी प्रजनन-प्रौद्योगिकी के सभी स्त्रियों पर समान प्रभाव की धारणा के खिलाफ़ हैं।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरै, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. शुलामिथ फ़ायरस्टोन (1979), *द डायलैक्टिक ऑफ़ सेक्स : द केस फ़ॉर फ़ेमिनिस्ट रेवोल्यूशन*, द वुमन प्रेस, लंदन.
2. ज्योत्सना अग्निहोत्री गुप्ता (2000), *न्यू रिप्रोडक्टिव टेक्नॉलॉजी : वुमंस हेल्थ ऐंड ऑटोनेमी*, सेज, नयी दिल्ली.
3. एम. स्टेनवर्थ (सम्पा.) (1987), *रिप्रोडक्टिव टेक्नॉलॉजीज़*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. डी. स्टाइनबर्ग, (1997) *बॉडीज़ इन ग्लास : जेनेटिक्स, यूजेनिक्स ऐंड एम्ब्राओ एथिक्स*, मंचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मंचेस्टर.

प्रतिनिधित्व

(Representation)

कहने के लिए प्रतिनिधित्व का मतलब है जो वास्तव में उपस्थित नहीं है (व्यक्ति, समूह, संगठन या कोई क्षेत्र) उसकी किसी अन्य के माध्यम से उपस्थिति दर्ज होना। प्रतिनिधित्व का वाहक व्यक्ति भी हो सकता है और झण्डे जैसी कोई अमूर्त चीज भी प्रतिनिधित्व कर सकती है। लेकिन आधुनिक प्रतिनिधित्वमूलक सरकार के संदर्भ में इसका मतलब होता है किसी निर्वाचित विधायक या सांसद के माध्यम से मतदाताओं या नागरिकों के किसी समूह या क्षेत्र की नुमाइंदगी करते हुए उनकी हित-रक्षा की ज़िम्मेदारी उठाना। प्रतिनिधि का काम किसी राय या मत को किसी सभा में पहुँचाने भर का नहीं होता। इस लिहाज़ से वह दूत से अलग है, क्योंकि वह उस राय या एजेंडे के निर्माण में नेतृत्वकारी भूमिका भी निभाता है। प्रतिनिधित्व का विचार इस आग्रह पर आधारित है कि सभी सार्वजनिक संबंध प्रतिनिधित्व-आधारित ही होते हैं। पहले यह माना जाता था कि शासन वही अच्छा है जिसमें लोग शासन प्रक्रिया पर सीधे नियंत्रण कर सकें। यह विचार केवल छोटे-छोटे नगर-राज्यों की स्थिति में ही व्यावहारिक था। दूसरे, सरकारों का अध्ययन यह भी बताता है कि शासन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रक्रियाओं का मिश्रण होता है। चूँकि प्रतिनिधित्व इस तरह का कारगर मिश्रण मुहैया करा सकता है, इसलिए सत्रहवीं सदी के बाद से दुनिया में प्रत्यक्ष-नियंत्रण के बजाय प्रतिनिधित्व के माध्यम से नियंत्रण का ही बोलबाला होता चला गया है। प्रातिनिधिक लोकतंत्र एक सर्वाधिक वांछित व्यवस्था मानी जाती है, पर प्रतिनिधित्व करवाने वालों की आकांक्षाएँ और माँगें अक्सर उनके प्रतिनिधियों के सामाजिक-आर्थिक उद्गम, नीतियों और राजनीति के अंतर्विरोध में चली जाती हैं। यही कारण है कि इस विचार की कामयाबी के बावजूद इसके साथ समाज-वैज्ञानिक बहसों का एक पूरा ऐतिहासिक सिलसिला मौजूद है।

प्रतिनिधित्व के विचार पर आपत्ति करने वालों में रूसो का नाम प्रमुख है। उनका कहना था कि प्रातिनिधिक संस्थाएँ पूरे समुदाय के नाम पर केवल कुछ लोगों की इच्छा का पालन ही करती हैं। मतदाता केवल चुनते समय ही स्वतंत्र होते हैं। जैसे ही वे निर्वाचित व्यक्ति के हाथों में अपनी नुमाइंदगी सौंपते हैं वैसे ही उन्हें मजबूरन एक विजातीय इच्छा के अधीन हो जाना पड़ता है। रूसो के मुताबिक स्व-शासन में सीधी भागीदारी एक आत्यंतिक रूप से मूल्यवान आग्रह है। केवल राजनीतिक रूप से सक्रिय और अपना प्रतिनिधित्व सीधे अपने हाथ में रखने वाले लोग ही स्वतंत्र माने जा सकते

हैं। प्रतिनिधि या प्रातिनिधिक संस्थाओं के हाथों में अधिकार जाते ही सक्रिय नागरिकता की सम्भावनाएँ कमज़ोर होने लगती हैं।

रूसो के विपरीत थॉमस हॉब्स का खयाल था कि प्रत्येक प्रभावी सरकार प्रतिनिधित्व पर ही टिकी होती है। यद्यपि समय और दायरे के लिहाज़ से प्रतिनिधित्व की सीमा तय की जा सकती है, पर सामाजिक समझौते के तहत लोगों द्वारा सम्प्रभु में अपने अधिकार आरोपित कर देने के बाद वह उनका असीमित प्रतिनिधि हो जाता है। इसके बाद सम्प्रभु जो भी करेगा, वह अधिकारपूर्वक और लोगों के लिए बाध्यकारी होगा। हॉब्स के विपरीत कुछ सिद्धांतकारों का विचार है कि प्रतिनिधि को कभी न कभी उन लोगों के सामने जवाबदेही करनी ही पड़ती है जिनकी नुमाइंदगी वह कर रहा है। इसलिए उसे शुरू में दिया गया अधिकार नहीं अंत में माँगा गया जवाब ही प्रतिनिधित्व को परिभाषित करता है। प्रतिनिधि के कंधों पर दायित्व होते हैं, और उसे अपना प्रतिनिधि बनाने वालों के पास विशेष अधिकार और शक्तियाँ होती हैं।

प्रतिनिधित्व की शुरुआत और खात्मे से अलग उसके बारे में तीसरा महत्वपूर्ण विचार एडमण्ड बर्क का है। इससे प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया पर रोशनी पड़ती है। बर्क मानते हैं कि प्रतिनिधि उन लोगों से स्वायत्त होता है जिनका वह प्रतिनिधित्व कर रहा है, इसलिए वह विभिन्न विषयों पर स्वतंत्र राय बना सकता है। किसी विधायिका या संसद के लिए चुना गया प्रतिनिधि किन्हीं दूसरे लोगों द्वारा किये गये विचार या निर्णय का यांत्रिक वाहक नहीं हो सकता। उसका दायित्व व्यापक जन-स्वार्थ की सिद्धि से जुड़ा होता है। बर्क के इस विचार के विपरीत अन्य सिद्धांतकारों का मत है कि प्रतिनिधि उसे जनादेश से कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र नहीं है जो उसे थमाया गया है या जिसके बिना पर उसे चुना गया है। इन दोनों परस्पर विपरीत दावों को 'मैंडेट-इंडिपेंडेंस विवाद' के नाम से जाना जाता है।

प्रतिनिधित्व से जुड़ा एक अन्य बेहद अहम मुद्दा यह है कि प्रतिनिधि कैसा होना चाहिए। क्या प्रतिनिधि को ठीक वैसे ही होना चाहिए जैसे लोगों का वह प्रतिनिधित्व कर रहा है? क्या एक श्वेत व्यक्ति काले या अश्वेतों का प्रतिनिधित्व कर सकता है? क्या एक पुरुष स्त्रियों की नुमाइंदगी कर सकता है? क्या एक ब्राह्मण दलितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकता है? प्रतिनिधित्व संबंधी इस उलझन की जड़ें अस्मिता के सवाल में निहित हैं। मानवाधिकारों, नागरिक अधिकारों और लैंगिक अधिकारों के इर्द-गिर्द होने वाली बहसों और गतिविधियों का व्यावहारिक निचोड़ यही निकला है कि प्रतिनिधि और उसके जरिये अपना प्रतिनिधित्व करवाने वालों के बीच एक सीमा तक सादृश्यता होनी ज़रूरी है। यह समरूपता न होने पर भी नुमाइंदगी की तकनीकी खानापूरी तो

हो जाती है, पर लोगों के वास्तविक हितों की नुमाइंदगी न होने का खतरा बना रहता है। जरूरी नहीं कि स्त्रियों की नुमाइंदगी करने वाला पुरुष या दलितों की नुमाइंदगी करने वाला कोई द्विज इरादतन उनका पूरा प्रतिनिधित्व न करना चाहता हो। दरअसल, इरादा नेक होने और प्रतिनिधित्व की पूरी कोशिश करने पर भी परिप्रेक्ष्य की कमी के कारण नुमाइंदगी में कमी रह सकती है। प्रतिनिधि का लोगों के बीच का होना या समान सामुदायिक चिह्नों या अस्मिता का धारक होने से समूह और उसके प्रतिनिधि के बीच एक आत्यंतिक तादात्म्य भी बना रहता है। प्रतिनिधि और प्रतिनिधित्व कराने वालों के बीच हमदिली की गारंटी हो जाने के बाद प्रतिनिधि समूह से किसी भी सीमा तक भिन्न हो सकता है : शिक्षा में, योग्यता में, आत्म-विश्वास में।

लेकिन प्रतिनिधि की सादृश्यता का यह आग्रह उस समय साँसत में पड़ जाता है जब किसी मिले-जुले समूह की नुमाइंदगी की नौबत आती है। विभिन्न अस्मिताओं, विभिन्न धर्मों, विभिन्न जातियों और विभिन्न संस्कृतियों से बने किसी मतदाता-मण्डल की नुमाइंदगी करने का अधिकार किसे है? क्या वह जो सबसे ज्यादा योग्य है या शिक्षित है या सबसे अधिक प्रेरक नेतृत्व का वाहक है? यह एक बहुत मुश्किल सवाल है। आम तौर पर हर मिले-जुले समूह में किसी एक क्रिस्म के लोग संख्या में ज्यादा होते हैं। सच्चे प्रतिनिधित्व का संकट उस समय बहुत विकट हो जाता है जब मतदाता-मण्डल में शामिल अल्पसंख्याएँ लगातार बहुसंख्या के बीच से चुने हुए व्यक्ति को ही अपना प्रतिनिधि मानने के लिए मजबूर होती हैं।

प्रतिनिधित्व से संबंधित उलझनें और भी हैं। मसलन, प्रतिनिधि को किसके प्रति उत्तरदायी होना चाहिए : केवल उन लोगों के प्रति जिन्होंने उसे वोट दिया है या उन लोगों के प्रति भी जिन्होंने उसके खिलाफ वोट डाला है? मतदाताओं और अपनी पार्टी में से किसके प्रति उसे अधिक जवाबदेह होना चाहिए? पार्टी अगर अपनी वह नीति बदल देती है जिसकी पैरोकारी करते हुए प्रतिनिधि चुना गया था, तो प्रतिनिधि को पार्टी छोड़नी चाहिए या विधायिका में अपनी सीट? प्रतिनिधि की निष्ठाओं का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है और इसका सम्पूर्ण सैद्धांतिक समाधान अभी तक नहीं हो पाया है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमंड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशाट, माइकिल वाल्जर, मिशेल

पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. एच.एफ. पिटकिन (1967), *द कम्पेट ऑफ रिप्रजेंटेशन*, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.
2. थॉमस हॉब्स, *लेवायथन* (1651), सी.बी. मेकफर्सन (सम्पा.), पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ.
3. ज्याँ-जाक रूसो (1978), *द सोशल कांटेक्ट* (1762), आर.डी. मास्टर्स (सम्पा.), सेंट मार्टिस, न्यूयॉर्क.
4. एडमंड बर्क (1949), *बर्क्स पॉलिटिक्स*, आर.जे.एस. हॉफमैन और पी. लेवैक (सम्पा.), नॉफ, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

प्रति-संस्कृति, -विमर्श, -इतिहास, -वर्चस्व, -स्मृति

(Counter-culture, -discourse,
-hegemony, -memory, -history)

साठ के दशक के दौरान उभरी प्रति-संस्कृति की अवधारणा के बाद से ही समाज-विज्ञानों और अन्य विमर्शी लेखन में 'प्रति-' या 'काउंटर-' के इस्तेमाल का चलन हो गया है। समाज-विज्ञान की रचनाओं में आम तौर पर प्रति-विमर्श, प्रति-वर्चस्व, प्रति-आख्यान, प्रति-इतिहास और प्रति-स्मृति जैसी अभिव्यक्तियों के प्रयोग देखे जा सकते हैं। हालाँकि इनके पीछे कई बार असहमति के स्वर और विकल्प संबंधी दावेदारियों को और प्रभावी बनाने की मंशा ही होती है, पर महज़ लेखकीय रणनीति के अलावा भी ऐसी प्रत्येक अवधारणा के पीछे किसी न किसी सुचिंतित बौद्धिक हस्तक्षेप और आंदोलनकारी पहलकदमियों की भूमिका रही है।

प्रति-संस्कृति : यह विचार पश्चिमी देशों में साठ के दशक में उभरे असहमति के युवा-स्वर की देन है। सबसे पहले इसका इस्तेमाल उन मध्यवर्गीय नौजवानों द्वारा किया गया था जो पूँजीवाद, प्रोटेस्टेंटवाद और सैन्यवाद के सम्मिलित प्रभाव के तहत विकसित किये जा रहे भोगवादी और आनंदवादी रवैये को अस्थिर करना चाहते थे। इन युवक आंदोलनकारियों ने स्थापित सांस्कृतिक मूल्यों के मुकाबले कई वैकल्पिक प्रस्ताव रखे। वे यौन-दमन के विपरीत यौन-

मुक्ति, समझौतापरस्ती के विपरीत सीधी-कार्रवाई, भौतिकवादी निष्ठुरता के विपरीत आध्यात्मिकता, युद्ध के ख़िलाफ़ शांतिवाद, अभिव्यक्ति पर लगे संस्थागत संयमों के मुकाबले उन्मुक्त आत्माभिव्यक्ति और उद्योगवादी रवैये के विपरीत पर्यावरण संबंधी सरोकारों पैरोकार थे।

प्रति-संस्कृति के आंदोलनों में भाग लेने वाले युवकों और छात्रों ने इन विकल्पों को अपनी ही ज़िंदगी पर लागू करके दिखाया। समाज के स्थापित मूल्य जिन-जिन वर्जनाओं की वकालत करते थे, युवकों ने एक-एक करके उन सभी का उल्लंघन किया। अमेरिकन हिप्पी-संस्कृति इसी नज़रिये की मुखर अभिव्यक्ति थी। हिप्पियों ने चेतन से अवचेतन के संसार में जाने के लिए केवल नशीले पदार्थों के प्रयोग को ही लोकप्रिय नहीं किया, उन्होंने नये सामुदायिक जीवन के रूप में कम्यूनों के प्रयोग भी किये, वैकल्पिक अख़बार और पत्रिकाओं का प्रकाशन किया, खुले विद्यालयों की स्थापना की। प्रति-संस्कृति के प्रतीक के तौर पर नये क्रिस्म की पोशाक और व्यवहार-शैली का चलन हुआ। मीडिया के विभिन्न संस्करणों (जैसे रॉक म्यूज़िक) इसका प्रमुख माध्यम बना। पेरिस में हुई 1968 की आम हड़ताल, 1969 का पहला वुडस्टॉक फेस्टिवल, नागरिक अधिकार आंदोलन की मुहिमें और वियतनाम युद्ध विरोधी प्रदर्शनों ने समाज की मुख्यधारा के मुकाबले वैकल्पिक दृष्टि की स्थापना का दावा किया।

प्रति-संस्कृति के पैरोकारों ने यथास्थिति के ख़िलाफ़ जिस सामाजिक क्रांति का सपना दिखाया था, वह अंततः धरती पर नहीं उतरी। लेकिन उसने पश्चिमी संस्कृति को गहरायी से प्रभावित किया और उसका बौद्धिक फ़ैशन बड़ी तेज़ रफ़्तार से दुनिया के अन्य क्षेत्रों के विमर्शी हलकों का अंग बनता चला गया। नारीवादी विमर्श, समलैंगिक आंदोलन और पर्यावरणवादी सरोकारों की धार इस रुझान से और तीखी हुई। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के दौरान उभरी सूचना-प्रौद्योगिकियों के बारे में यह भी माना जाता है कि उनके कारण सामाजिक जीवन और आचार-व्यवहार में जो लचीलापन और व्यक्तिगत स्तर पर सशक्तीकरण का पहलू उभरा है वह प्रति-सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप है। इसी के साथ यह बात भी कही जा रही है कि सम्भवतः प्रति-संस्कृति की अवधारणा ने साठ के दशक में ही समकालीन पूँजीवाद की ध्वंसकारी शक्तियों को पहचान लिया था कि एक न एक दिन पूँजीवाद की ताकतें ही पारम्परिक सामाजिक संरचनाओं को अस्थिर कर देंगी। प्रति-संस्कृति के आईने में इतिहास की पुनर्व्याख्या करने के प्रयास भी हुए हैं। ऐसी कोशिशें ईसाई धर्म के शुरुआती इतिहास को उस ज़माने की स्थापित यहूदी और रोमन संस्कृतियों के मुकाबले प्रति-संस्कृति के उदाहरण के रूप में चिह्नित करती हैं। इसी तरह ब्रिटिश पूँजीवाद के शुरुआती दौर में क्वेकर और मैथोडिस्ट आंदोलन को

एंग्लीकन धर्म के मुकाबले प्रति-संस्कृति के उदाहरणों की तरह पढ़ा जाता है।

प्रति-इतिहास / प्रति-स्मृति : साठ के दशक में ही मिशेल फ़ूको ने मनोविज्ञान द्वारा प्रस्तावित विक्षिप्तता के अधिकारिक मान लिए गये इतिहास की आलोचना पेश की। फ़ूको का कहना था कि नैरंतर्य और अस्मिता की मनोवैज्ञानिक पदावली में मनोरोगों का जो संस्थागत और ऐतिहासिक वृत्तांत तैयार किया गया है, उसे विभिन्न अवधारणाओं और पढ़ने की विभिन्न रणनीतियों का इस्तेमाल करते अस्थिर किया जाना चाहिए। इसी लिहाज़ से फ़ूको ने इतिहास के अलग-अलग मुकामों पर इस वृत्तांत की विभिन्न विधियों से जाँच की। इस प्रक्रिया में रैखिक नैरंतर्य भंग करने वाला और एक बजाय अनेक आवाज़ों से सम्पन्न एक प्रति-इतिहास की संरचनाएँ उभरीं। इसके ज़रिये फ़ूको ने बताया कि मनोरोगियों को कैद करने, उन पर निगरानी रखने और मनोचिकित्सकीय विनियमनों के प्रभाव में पैदा हुए विमर्शों ने समाज में कुछ विशेष सत्ता-संबंधों को जन्म दिया है। मनोरोगों के इतिहास के इस रैखिक मॉडल द्वारा स्थापित अधिकारिक और संस्थागत स्मृति के मुकाबले फ़ूको एक प्रति-स्मृति की स्थापना करने की कोशिश करते हुए नज़र आते हैं।

प्रति-विमर्श : इस अवधारणा का सूत्रीकरण अस्सी के दशक में रिचर्ड टेडीमैन ने प्रतीकात्मक प्रतिरोध के सिद्धांत और व्यवहार को सिद्धांतबद्ध करने के लिए किया था। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के फ़्रांसीसी साहित्य का विश्लेषण करके नतीजा निकाला था कि स्थापित विमर्शों में अपने ख़िलाफ़ उठायी गयी या उठ सकने वाली किसी भी आवाज़ को नज़रअंदाज़ करने या अपने भीतर सोख लेने की क्षमता होती है। उनका कहना था कि यथार्थ की स्थापित संरचनाएँ और उन्हें भीतर से उलट देने के प्रयासों के बीच होने वाले टकराव में ही वह मर्म निहित होता है जिसके इर्द-गिर्द सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिवर्तन अपनी शकल-सूरत ग्रहण करते हैं।

हालाँकि टेडीमैन का अध्ययन फ़्रांसीसी साहित्य तक ही सीमित था, पर उत्तर-औपनिवेशिकता के सिद्धांतकारों ने इस सूत्रीकरण का दूसरे संदर्भों में भी इस्तेमाल किया। उन्होंने दावा किया कि औपनिवेशिक और नव-औपनिवेशिक विमर्श खुद को मिलने वाली किसी भी चुनौती को होशियारी से पचा जाते हैं। इसलिए हाशियों से उठने वाले प्रतिरोध के स्वरों की पेचीदगियों को समझना और रेखांकित करना ज़रूरी है। यह काम प्रति-विमर्श के ज़रिये हो सकता है। इन सिद्धांतकारों के अनुसार प्रति-विमर्श ऐतिहासिक प्रक्रियाओं और साहित्यिक आंदोलनों के आईने में उतना नहीं झलकता, जितना किसी खास इबारतों की आलोचनाओं में उसका अक्स देखा जा सकता है। एक बार अनुलंघनीय मान लिए गये पाठों को

चतुरायी के साथ दोबारा स्थापित किया जाता है ताकि चुनौतियों की धार कुंद की जा सके। उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतकारों ने प्रति-विमर्श का सिद्धांत लागू करके आधार पर मानवशास्त्रीय, ऐतिहासिक, साहित्यिक और विधिक पाठों की आलोचना तैयार की है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्राइवैसी, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. टी. रोज़ाक (1968), *द मेकिंग ऑफ़ अ काउंटर कल्चर : रिफ्लेक्शंस ऑन अ टेक्नोक्रेटिक सोसाइटी ऐंड इट्स यूथफुल अपोजीशन*, फ़ेब्र एंड फ़ेब्र, लंदन.
2. जे.एम. यिंगर (1982), *काउंटरकल्चर्स : द प्रोमिस ऐंड पेरिल ऑफ़ अ वर्ल्ड अपसाइड डाउन*, फ़्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. मिशेल फ़ूको (1970), *मैडनेस ऐंड सिविलाइज़ेशन : अ हिस्ट्री ऑफ़ इनसेनिटी इन द एज ऑफ़ रीज़न*, अनु. रिचर्ड हावर्ड, लंदन.
4. आर. टेडीमैन (1985), *डिस्कॉर्स / काउंटर-डिस्कॉर्स : द थियरी ऐंड प्रैक्टिस ऑफ़ सिम्बोलिक रज़िस्टेंस इन नाइंटीथ सेंचुरी फ़्रांस*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका और लंदन.

— अभय कुमार दुबे

प्रतियोगिता

(Competition)

प्रतियोगिता अर्थात् बाज़ार में पूँजी के विभिन्न रूपों और स्तरों के बीच होने वाली होड़ पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली का केंद्रीय तत्त्व है। अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्र में अलग-अलग पूँजियाँ सक्रिय रहती हैं। उनकी उत्पादकता में अंतर होता है। कुछ पूँजियाँ अधिक विनिमय-मूल्य पैदा करके अच्छा मुनाफ़ा देती हैं, कुछ दूसरी पूँजियाँ कम मुनाफ़ा देती हैं और कुछ घाटे का कारण बनती हैं। घाटा देने वाली पूँजी कम आकार की और कम उत्पादकता का स्रोत होती है। प्रतियोगिता उसे मजबूर करती है कि वह अधिक उत्पादकता वाली बड़ी पूँजी द्वारा चलायी जाने वाली संचय की प्रक्रिया में चली जाए। पूँजियों की प्रतियोगिता ही विनिमय-मूल्य के आधार पर उत्पाद का दाम तय करती है। मूल्य और क्रीमत के बीच का संबंध

विभिन्न क्षेत्रों के बीच पूँजी की गतिशीलता पर भी आधारित होता है। बाज़ार में होने वाली होड़ को आम तौर पर प्रतियोगिता की आदर्श स्थिति के आधार पर विश्लेषित किया जाता है। यह दूसरी बात है कि बाज़ारों में यह आदर्श स्थिति कभी उपलब्ध नहीं हो पाती।

प्रतियोगिता एक पेचीदा आवधारणा है। कार्ल मार्क्स की रचना *कैपिटल* के पहले खण्ड में इसका जिक्र नहीं है। वे तीसरे खण्ड में इसकी चर्चा करते नज़र आते हैं जिसे उनकी मृत्यु के बाद एंगेल्स के सम्पादन में छपा गया था। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी में प्रतियोगिता को सहयोग के मुकाबले रख कर देखा जाता था। प्रतियोगिता को बुराई मानने का चलन था। समझ यह थी कि होड़ की वजह से मजदूरी में गिरावट आती है और मजदूर की बदहाली बढ़ती है, जबकि सहयोग को बेहतर और न्यायसंगत आमदनी की गारंटी के रूप में देखा जाता था। लेकिन, आधुनिक विचार के तहत प्रतियोगिता एक ऐसी स्थिति है जिसके तहत ज्यादा से ज्यादा संख्या में फ़र्मों से आपस में आदर्श होड़ करने की अपेक्षा की जाती है।

बाज़ार की प्रतियोगिता का यह सिलसिला जिस आदर्श स्थिति से शुरू माना जाता है, वह दरअसल है क्या? प्रतियोगिता की आदर्श स्थिति की कुछ बुनियादी शर्तें इस प्रकार हैं : सबसे पहली बात तो यह है कि बाज़ार में क्रेताओं और विक्रेताओं की बड़ी संख्या को प्रवेश करने और बाहर निकलने की आज़ादी होनी चाहिए। जिस उत्पाद के लिए प्रतियोगिता हो रही है वह समरूप होना चाहिए। सरकार की तरफ़ से बाज़ार में किसी भी तरह के हस्तक्षेप का अभाव ज़रूरी है। परिवहन की लागत भी प्रतियोगिता के आदर्श स्वरूप को बिगाड़ सकती है। अंतिम शर्त यह है कि प्रतियोगिता में भाग ले सभी क्रेताओं और विक्रेताओं के पास सभी संबंधित सूचनाएँ होने की आदर्श स्थिति उपलब्ध होनी चाहिए। बड़ी संख्या की शर्त का मतलब है कोई प्रतियोगितारत शक्ति दाम को प्रभावित न कर पाए। उन्हें दाम तय नहीं करना है, बल्कि दाम स्वीकार करना है। समरूप उत्पाद का मतलब है सभी क्रेता उत्पाद को एक सा ही मानें भले ही उसकी संरचना में कुछ अंतर क्यों न हो। आदर्श स्थिति यह भी मान कर चलती है कि प्रत्येक फ़र्म के लिए डिमांड कर्व पूरी तरह से लोचदार होना चाहिए। हर फ़र्म का उत्पाद बराबर समझा जाना चाहिए।

अगर ये सारी शर्तें पूरी हो जाएँ तो क्या होगा? चूँकि सरकार किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगी इसलिए क्रेता और विक्रेता स्वतंत्र रूप से बिना किसी दखलंदाजी के बाज़ार के दाम तय करने की सहमति पर पहुँच जाएँगे। कोई परिवहन लागत नहीं होगी इसलिए स्थानीय स्तर पर कोई इजारेदारी प्रतियोगिता को प्रभावित नहीं कर पायेगी। लेकिन अगर सभी

क्रेताओं और विक्रेताओं के पास समान सूचना नहीं हुई तो वे बाज़ार में अपनी गतिविधियाँ कैसे अंजाम देंगे ?

यह एक बहुत बड़ा सवाल है। आदर्श प्रतियोगिता के पैरोकार इस सवाल का जवाब देने में नाकाम रहे हैं। दरअसल किसी भी बाज़ार में प्रतियोगिता के पहले चरण में बड़ी संख्या में क्रेता और विक्रेता एक-दूसरे से प्रतियोगिता में संलग्न हो सकते हैं। पर परिस्थिति आदर्श नहीं होती। पूँजी के विभिन्न रूप और आकार एक-दूसरे से अलग उत्पादकता का स्रोत होते हैं। उत्पाद भी समरूप नहीं होता। उसकी विभिन्नता उत्पादकों को एक-दूसरे पर श्रेष्ठता क्रायम करने का मौक़ा देती है। जिसके कारण प्रतियोगिता के दूसरे चरण में प्रतियोगिता के कारण ही फ़र्मों की संख्या कम होती चली जाती है जिसे ओलिगोपॉली कहते हैं। ओलिगोपॉली के तहत होने वाली होड़ फिर डुओपॉली को यानी केवल दो उत्पादकों के बीच की प्रतियोगिता को जन्म देती है। अंत में किसी एक उत्पादक की इजारेदारी (एकाधिकार) यानी मोनोपॉली का जन्म होता है।

ऐसी कोई अर्थव्यवस्था नहीं है और न हो सकती है जहाँ बाज़ार की शक्तियों को किसी हस्तक्षेप का सामना न करना पड़ता हो। राज्य किसी न किसी रूप में हस्तक्षेप करता ही है। दरअसल, कई मामलों में बाज़ार की ताकतें ही उसे हस्तक्षेप करने के लिए आमंत्रित करती हैं। पूँजीवादी वर्ग के जिस हिस्से के पास कम पूँजी होती है, वह चाहता है कि राज्य उसे पूँजी की आपूर्ति कराये, या फिर ऐसे क्षेत्रों में उसे निवेश करने के लिए मजबूर न किया जाए जिनमें ज्यादा पूँजी लगती हो और मुनाफ़ा तुरंत हासिल न होता हो। आज़ादी से पहले भारत में देशी पूँजीपतियों ने बोंबे प्लान नामक योजना के तहत इस तरह की माँग की थी। भारतीय पूँजीपति ऐसे किसी व्यवसाय में निवेश करने के लिए तैयार नहीं थे जो मुनाफ़े के लिए लम्बे अरसे तक इंतज़ार करना पड़े। वे न तो इस्पात के कारखाने खोलना चाहते थे, न उनकी बिजली बनाने में रुचि थी और न ही सड़कें बनाने में।

ऐसी परिस्थितियों में राज्य प्रतियोगिता को प्रभावित करता है, और कई मामलों में उसकी कोशिशों के कारण ही एकाधिकार की स्थिति बनती है। सरकार क्रानून बना कर प्रतिद्वंद्वी फ़र्मों को प्रतियोगिता से बाहर कर देती ताकि राष्ट्रीय सुरक्षा और जन-सुरक्षा का मक़सद पूरा हो सके। दूसरी तरफ़ कोई घरेलू एकाधिकार तब तक क्रायम नहीं रह सकता जब तक सरकार क्रानून बना कर विदेशी फ़र्मों को प्रतियोगिता से बाहर न रखे। आम तौर पर घरेलू बाज़ार के संरक्षण के लिए सरकारों को ऐसा करना पड़ता है, क्योंकि देशी उद्योगपति ऐसी माँग करते हैं।

बौद्धिक सम्पदा अधिकार की अवधारणा के तहत पूँजीवादी देशों में प्रचलित पेटेंट प्रणाली बाज़ार की

प्रतियोगिता को प्रारम्भ में ही गड़बड़ा देती है। जिस फ़र्म के पास पेटेंट होता है, उसके पास उत्पाद की इजारेदारी भी होती है। दूसरी फ़र्म उससे प्रतियोगिता कर ही नहीं सकती।

इजारेदारी प्राप्त करते ही फ़र्म मनमाने दाम निर्धारित करने लगती हैं। इस रवैये से निबटने के लिए सरकारों को प्रतियोगिता को बढ़ावा देने वाले क्रानून बनाने पड़ते हैं। अमेरिका में 1890 में संघीय स्तर पर शेरमन एक्ट पारित किया गया था ताकि इजारेदाराना रवैये पर नियंत्रण किया जा सके। ब्रिटेन में 1948 से ही इजारेदारी को नियंत्रित करने के लिए क्रानून है। इसी तरह भारत में प्रतिस्पर्धा आयोग (कॉम्पटीशन कमीशन) इसी मक़सद को ध्यान में रख कर बनाया गया है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क्रानून, भारत में शेरम संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. डब्ल्यू.एच. फ़ेलनर (1960), *कम्पटीशन एमंग अ फ़्यू : ओलिगोपॉली ऐंड सिमिलर मार्केट स्ट्रक्चर*, ए.एम. केली, न्यूयार्क.
2. जी.जे. स्टिंगलर (1962), 'इनफ़र्मेशन इन द लेबर मार्केट', *जरनल ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, अंक 70, अक्टूबर विशेषांक.
3. पॉल बरान और पॉल स्वीज़ी (1966), *मोनोपॉली कैपिटलिज़्म*, मंथली रिव्यू प्रेस, पेंगुइन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

प्रथम विश्व-युद्ध

(First World War)

बीसवीं सदी की शुरुआत में हुए प्रथम विश्व-युद्ध (1914-1918) को दुनिया का राजनीतिक नक्शा पूरी तरह बदल देने का श्रेय जाता है। इस विश्व-युद्ध के कारण साम्राज्यों और राजवंशों के अंत की शुरुआत हुई, रूस में अक्टूबर क्रांति को सफल होने का मौक़ा मिला और उपनिवेशवाद के खिलाफ़ आत्म-निर्णय और राष्ट्रवाद के आधार पर चलने वाले संघर्ष को लोकप्रिय आधार मिला। इस विश्व-युद्ध के नतीजे के तौर पर लीग ऑफ़ नेशंस के रूप में राष्ट्रों के बीच एक विश्व-व्यवस्था बनाने की परियोजना परवान चढ़ी। दरअसल, इस विश्व-युद्ध के परिणामों ने कई नये विचारों को बढ़ावा दिया। राष्ट्रीय स्वार्थों को युद्ध की तबाही का ज़िम्मेदार मान कर राष्ट्रवाद की आलोचना का रास्ता खुला, अंतर्राष्ट्रीयतावादी चिंतन प्रोत्साहित हुआ, युद्ध-विरोधी शांतिवाद लोकप्रिय होता चला गया और आधुनिकता की आलोचना के लिए ज़मीन तैयार हुई। विश्व-युद्ध से स्पष्ट हो गया कि उन्नीसवीं सदी से चला आ रहा पुराना शक्ति-संतुलन अब कारगर नहीं रह गया है। दरअसल, प्रथम विश्व-युद्ध एक ऐसा युद्ध था जिसमें कुछ ही वर्षों बाद उससे भी बड़े महायुद्ध के बीज मौजूद थे। जॉन मेनार्ड कींस ने इस युद्ध के विजेताओं द्वारा पराजितों पर थोपी गयी शर्तों का विश्लेषण करते हुए द्वितीय विश्व-युद्ध की सम्भावनाएँ रेखांकित कर दी थीं।

यह युद्ध दो ताक़तवर गठजोड़ों के बीच लड़ा गया। एक तरफ़ मित्र राष्ट्र थे जिनमें रूस, फ़्रांस, ब्रिटेन, इटली, अमेरिका, सर्बिया, बेल्जियम, जापान, रोमानिया, पुर्तगाल और यूनान शामिल थे। दूसरी तरफ़ ऑस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी, तुर्की का ओटोमन साम्राज्य और बल्गेरिया थे जिन्हें केंद्रीय ताक़तों या सेंट्रल पावर्स की संज्ञा दी गयी थी। चूँकि युद्ध में शामिल ताक़तों के पास उपनिवेश भी थे, इसलिए उन्होंने उपनिवेशित देशों और समाजों को भी युद्ध में खींच लिया। युरोप, अफ़्रीका, मध्य-पूर्व, चीन और प्रशांत महासागरीय द्वीपों पर लड़े गये इस युद्ध में छह करोड़ युरोपियनों समेत सात करोड़ फ़ौजी झोंके गये जिनमें करीब डेढ़ करोड़ को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। लड़ाई में अंततः मित्र राष्ट्रों की जीत हुई और नतीजे के तौर पर जर्मन, रूसी, ओटोमन और ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्यों का अंत हो गया। साथ में रोमानोव और ओटोमन जैसे राजवंश भी इतिहास के कूड़ेदान में चले गये। युरोप व मध्य-पूर्व में नये देशों की स्थापना हुई।

प्रथम विश्व-युद्ध ख़त्म होने के दो साल बाद ही भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में जबरदस्त उछाल आया।

दरअसल, यही वह अवधि थी जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रतिवेदन और ज्ञापन देने वाली पार्टी से बदल कर आंदोलनकारी दल बनी। इसके पीछे युद्ध में बड़े पैमाने पर भारतीय सिपाहियों की भागीदारी की भूमिका थी। ब्रिटेन को शक था कि जब वह विश्व-युद्ध में फँसा होगा, तो भारत में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ विद्रोह हो जाएगा। पर ऐसा नहीं हुआ और कांग्रेस के राजनीतिक नेतृत्व ने ब्रिटिश युद्ध-प्रयासों के प्रति सकारात्मक उत्साह दिखाया, क्योंकि उसे समर्थन के बदले स्व-शासन प्राप्त होने की उम्मीद थी। शुरू में तो ब्रिटेन की तरफ़ से लड़ने वाली भारतीय सेना ब्रिटिश सेना से भी बड़ी थी। भारतीय संसाधनों का अंग्रेज़ों ने अपने पक्ष में जम कर इस्तेमाल किया। करीब तेरह लाख भारतीय फ़ौजी और श्रमिक लड़ाई में भाग लेने के लिए युरोप, अफ़्रीका और मध्य-पूर्व ले जाए गये। 47,776 भारतीयों ने जना गँवायी। युद्ध ख़त्म होने के बाद जब अंग्रेज़ कांग्रेस नेतृत्व की उम्मीदों पर खरे नहीं उतरे तो साम्राज्य से सहयोग के दौर का अंत हो गया और गाँधी के नेतृत्व में यह पार्टी एक संघर्षशील आंदोलन में बदलती चली गयी।

भारत ही नहीं, उपनिवेशवाद के जुए के नीचे कराहते समाजों के उदीयमान राष्ट्रवादी नेतृत्व ने प्रथम विश्व-युद्ध से पहला सबक यही सीखा कि अगर उपनिवेशित अपने विजातीय आकाओं की रक्षा के लिए लड़ सकते हैं, तो अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष क्यों नहीं कर सकते। उपनिवेशवाद विरोधी गोलबंदी की यह शुरुआत ढाई दशक की जद्दोजहद के बाद द्वितीय विश्व-युद्ध ख़त्म होते ही राष्ट्रीय स्वतंत्रताओं के सिलसिले और वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के रूप में फलीभूत हुई।

प्रथम विश्व-युद्ध की शुरुआत के कारण क्या थे, इस प्रश्न पर एकमत का अभाव है। घटनात्मक रूप से देखा जाए तो 28 जून, 1914 को ऑस्ट्रिया-हंगरी राजसिंहासन के उत्तराधिकारी आर्कड्यूक फ़्रेज़ फ़र्डिनैंड की सर्व राष्ट्रवादी कैवरिलो प्रिंसिप द्वारा की गयी हत्या से इस लड़ाई की शुरुआत मानी जाती है। लेकिन, ज्यादातर युरोपियन प्रेक्षकों की मान्यता है कि विश्व-युद्ध के कारण उन पेचीदा गठजोड़ों में निहित थे जिनके आधार पर दुनिया में शक्ति-संतुलन क़ायम रखा जाता था। पर, एक दूसरा और प्रभावशाली मत यह भी है कि औपनिवेशिक मुद्दे के इर्द-गिर्द होने वाली राष्ट्रों की होड़ युद्ध का कारण बनी। अमेरिकी इतिहासकार और समाजशास्त्री डब्ल्यू.ई.बी. दु बोई ने 1915 में ही *अफ़्रीकन रूट्स ऑफ़ वार* लिख कर तर्क दिया था कि अफ़्रीका के प्राकृतिक संसाधनों पर क़ब्ज़ा करने के लिए होने वाली उपनिवेशवादी प्रतियोगिता के गर्भ से युद्ध निकला। इसी युद्ध को 1884-1885 में बर्लिन कांफ़्रेंस द्वारा किसी तरह से टाल दिया गया था। दु बोई का यह भी कहना था कि अगर पीली, भूरी और काली जातियों को



प्रथम विश्व-युद्ध (1914-1918)

लोकतांत्रिक आदर्श के मुताबिक स्वतंत्र न किया गया तो उपनिवेशवादियों यानी गोरों और उपनिवेशितों यानी अश्वेतों के बीच जबरदस्त युद्ध होना लाजमी है।

लेनिन और रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग जैसे मार्क्सवादी सिद्धांतकारों का आकलन भी यही मानता है कि औपनिवेशिक प्रश्न युद्ध की जड़ में था। अगर यह मान भी लिया जाए कि युद्ध का कारण युरोपीय देशों के बीच के झगड़े में निहित था, फिर भी इस हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता कि अफ्रीका इस खूनी नाटक का मुख्य थिएटर था। 1914 में टोगोलैण्ड के जर्मन उपनिवेश को फ्रांसीसी और ब्रिटिश फ़ौजों ने जीता, और 1916 में इसी तरह की लड़ाई कैमरून के लिए हुई जिसमें जर्मनी को अपने उपनिवेश का क़ब्ज़ा छोड़ना पड़ा। जर्मनों के हाथ से दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका भी इसी दौर में निकला। जर्मनों ने पूर्वी अफ्रीका में अपने उपनिवेश की रक्षा के लिए सबसे ज़बरदस्त मोर्चा लिया। अंग्रेज़ों ने जर्मनों से लड़ने के लिए सबसे पहले भारतीय सैनिकों को पूर्वी अफ्रीका भेजा। इसके बाद दक्षिण अफ्रीका से गोरे सिपाही भर्ती किये। बाद में महामारी के डर से ये ब्रिटिश फ़ौजी मोर्चे से हटा लिए गये और लड़ाई की बागडोर श्वेत अफ़सरों के नेतृत्व में लड़ने वाले बेल्जियन कोंगो के अफ्रीकी अस्करी सिपाहियों को थमा दी गयी। किंग्स अफ्रीकन राइफल्स के इन काले योद्धाओं के अलावा अन्य काली यूनियों को भी युद्ध में झोंका गया। यह मोर्चा नवम्बर, 1918 तक चला और युरोप में होने वाले युद्धविराम के तीन दिन बाद ही इसका अंत हुआ।

इस युद्ध ने जर्मन औपनिवेशिक हितों को एशिया में भी धक्का पहुँचाया। मध्य-पूर्व में ऑटोमन साम्राज्य के क़ब्जे

वाले क्षेत्रों में भी लड़ाई हुई। अरब विद्रोह के इन लघु-प्रकरणों का रोमानी रोजनामचा टी.ई. लारेंस की रचना *सेविन पिलर्स ऑफ़ विज़डम* में दर्ज है जिसके आधार पर लोकप्रिय फ़िल्म 'लारेंस ऑफ़ अरेबिया' बनी है। दरअसल, जर्मनों और तुर्कों की पराजय से उपनिवेशवाद की शक्ति-सूरत पूरी तरह से बदल गयी। 1919 में इन ताकतों के उपनिवेश एक तरह के ट्रस्ट के रूप में नवगठित लीग ऑफ़ नेशंस को सौंप दिये गये। लीग ने विजेता देशों को इन उपनिवेशों पर तब तक 'स्थानीय जनता' के हित में हुकूमत करने का ठेका थमा दिया जब तक वे 'स्व-शासन करने योग्य' न हो जाएँ।

युद्ध में उपनिवेशित सिपाहियों, खास कर अफ्रीकियों की भागीदारी के मुद्दे का तीस के दशक में जर्मन फ़ासीवादियों ने सत्ता में आने के लिए जम कर दोहन किया। हिटलर ने अपने भाषणों में एक तरफ़ तो फ़्रांसीसियों द्वारा काले सिपाहियों के इस्तेमाल की यह कह कर निंदा कि उन्होंने नीग्रो रक्त को प्रदूषित कर दिया है, और दूसरी तरफ़ जर्मन क्षेत्रों पर हमलावर नीग्रो दलों के टूट पड़ने की डरावनी छवियाँ उकेरीं। सोवियत संघ में लियोन ट्राट्स्की ने फ़्रांस पर आरोप लगाया कि उसने 'युरोप की क्रांतिकारी जनता' का दमन करने के लिए अफ्रीकी उपनिवेशों से लाये गये सिपाहियों का इस्तेमाल किया था। कुल मिला कर युद्ध के बाद क़रीब बीस साल तक औपनिवेशिक प्रश्न का राजनीतीकरण होता रहा। इसका परिणाम द्वितीय विश्व-युद्ध के आखिर में उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति के रूप में सामने आया।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शस्त्र-नियंत्रण, शांति, शांतिवाद, शीत-युद्ध, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. डब्ल्यू.ई.बी. दु बोई (1915), 'दि अफ्रीकन रूट्स ऑफ़ वार', *अटलांटिक मंथली*, 115.
2. कीथ रोबिंस (1985), *द फ़र्स्ट वर्ल्ड वार*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन और न्यूयॉर्क.

3. जैक जे. रॉथ (सम्पा.) (1967), *वर्ल्ड वार I : ए टर्निंग पाइंट इन मॉडर्न हिस्ट्री*, अल्फ्रेड ए. नॉफ, न्यूयॉर्क.
4. रोजर चिकरिंग (2004), *इम्पीरियल जर्मनी एंड द ग्रेट वार, 1914-1918*, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

प्रभुत्वशाली जाति

(Dominant Caste)

प्रभुत्वशाली जाति या दबंग जाति की अवधारणा भारतीय समाजशास्त्र की एक बुनियादी प्रस्थापना है। प्रख्यात समाजशास्त्री मैसूर नरसिम्हचार श्रीनिवास ने इसका प्रतिपादन किया था। इसे भारत की सामाजिक संरचना को समझने का एक बेहद महत्वपूर्ण संदर्भ माना जाता है। इस अवधारणा के महत्त्व का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि पिछले पाँच दशकों में यह समाज-विज्ञानों के विभिन्न अनुशासनों की केंद्रीय शब्दावली में लगातार शामिल रही है। भारत में जाति-अध्ययन का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जिसका अध्ययन-विश्लेषण इस अवधारणा से प्रभावित न रहा हो। प्रभुत्वशाली जाति का विचार श्रीनिवास द्वारा मैसूर के पास स्थित एक बहु-जातीय गाँव रामपुरा में किये फ़ील्डवर्क का निष्कर्ष कहा जा सकता है। श्रीनिवास ने यह फ़ील्डवर्क 1952 में किया था। ग्रामीण समाज में किसी जाति के प्रभुत्व पर श्रीनिवास का व्यवस्थित चिंतन इसी के बाद शुरू हुआ। प्रभुत्वशाली जाति का विचार बताता है कि भारतीय समाज में किसी जातिगत समूह के रंग-रुतबे के लिए उसका कर्मकाण्डीय दर्जा ऊँचा होना एक अनिवार्य शर्त नहीं है। हालाँकि आनुष्ठानिक दर्जा किसी जाति को प्रभुत्वशाली बनाने में कारक की भूमिका निभा सकता है, पर कर्मकाण्डीय लिहाज से ऊँचे समझे जाने वाले जाति-समूह किसी इलाके में अपने से कहीं नीचे समझे जाने वाले जाति-समूहों के सामने कमतर नज़र आ सकते हैं। प्रभुत्वशाली जाति की अवधारणा भारतीय समाजशास्त्र में श्रीनिवास का महज़ एक मौलिक योगदान ही नहीं है, बल्कि उसने ज्ञानशास्त्रीय स्तर पर भी एक स्थायी परिप्रेक्ष्य को जन्म दिया है। श्रीनिवास के इस अध्ययन से पहले भारतीय समाज को देखने-समझने की नज़र भारत-विद्या (इण्डोलॉजी) से प्रभावित थी, जिसका मूल स्रोत संस्कृत साहित्य था। यह एक ऐसी दृष्टि थी जो कुछ ग्रंथों के आधार पर समाज का विश्लेषण करके संतुष्ट हो जाती थी। श्रीनिवास ने समाजशास्त्र पर हावी इस किताबी

नज़रिये को छोड़ कर सामाजिक प्रक्रियाओं को खुद समाज के बीच जाकर समझने की शुरुआत की और समाज-विज्ञानों में शोध की एक नयी पद्धति सहभागी प्रेक्षण को प्रतिष्ठित किया।

श्रीनिवास के अनुसार प्रभुत्वशाली जाति का दर्जा हासिल करने के लिए किसी जाति को कुछ खास शर्तें पूरी करनी होती हैं। एक, उसके सदस्यों का संख्या बल अन्य जातियों के मुकाबले ज्यादा हो। दो, उसकी आर्थिक और राजनीतिक ताकत भी ज्यादा होनी चाहिए। तीन, किसी जाति के प्रभुत्वशाली बनने की यह प्रक्रिया तब और आसान हो जाती है अगर संख्या बल और ताकत के अलावा जातियों के स्थानीय पदानुक्रम में ऐसी जाति का दर्जा बहुत निम्न न हो। जिस जाति के पास प्रभुत्व के सबसे ज्यादा कारक या तत्व होते हैं, वह अन्य जातियों पर निर्णायक प्रभुत्व स्थापित करने की स्थिति में आ जाती है। श्रीनिवास बताते हैं कि समय के साथ ग्रामीण भारत में प्रभुत्व के इन कारकों में शिक्षा और उससे मिलने वाले रोज़गार का कारक लगातार अहम होता गया है। यानी अगर किसी जाति के सदस्य ज्यादा शिक्षित और नौकरीपेशा होते हैं तो इससे उस जाति को अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सहूलियत मिलती है। ध्यान रहे कि यहाँ शिक्षा का अर्थ पश्चिमी और गैर-पारम्परिक शिक्षा प्रणाली से है। श्रीनिवास के अनुसार ग्रामीण जनता शिक्षा की अहमियत को लेकर लगातार सजग होती गयी है।

प्रभुत्वशाली जाति के इस विमर्श में यह बात क्राबिले-गौर है कि किसी जाति-समूह का प्रभुत्व हर जगह एक सा नहीं होता यानी यह एक सामान्य परिघटना नहीं है। आमतौर पर प्रभुत्व के कारकों का वितरण जातियों में अलग-अलग होता है। मसलन, किसी जाति का आनुष्ठानिक दर्जा ऊँचा हो सकता है, लेकिन अगर वह आर्थिक या संख्या बल के लिहाज से कमज़ोर है तो प्रभुत्व के द्वंद्व में पिछड़ जाएगी। इसी तरह किसी जाति का संख्या बल ज्यादा हो सकता है पर अगर वह आर्थिक रूप से कमज़ोर है और उसकी आनुष्ठानिक हैसियत भी ऊँची नहीं है तो भी वह प्रभुत्वशाली जाति का दर्जा हासिल नहीं कर पायेगी।

रामपुरा गाँव की सामाजिक संरचना का अध्ययन करते हुए श्रीनिवास ने देखा कि वहाँ की किसान जाति ओक्कालिगा की स्थिति प्रभुत्व स्थापित करने के लिहाज से अन्य जातियों के मुकाबले ज्यादा अनुकूल थी। यह जाति संख्या की दृष्टि से गाँव में सबसे बड़ी थी। उनके पास जितनी ज़मीन थी वह गाँव की सारी जातियों की कुल ज़मीन से ज्यादा बैठती थी। इसके अलावा साक्षरों और शिक्षितों की संख्या भी इसी जाति में सबसे ज्यादा थी। इस किसान जाति का आनुष्ठानिक दर्जा बहुत ऊँचा नहीं माना जाता। सामाजिक पदानुक्रम में उन्हें ब्राह्मणों और लिंगायतों से काफ़ी नीचे रखा जाता है। वर्ण के

हिसाब से उन्हें शूद्रों की श्रेणी में रखा जाता है। श्रीनिवास ने देखा कि इसके बावजूद गाँव के सामाजिक-आर्थिक जीवन में उक्त जाति का हस्तक्षेप सबसे ज्यादा निर्णायक रहता था। श्रीनिवास ने अपने अध्ययन में पाया कि पिछले पाँच दशकों में ओक्कालिगा जाति का प्रभुत्व और बढ़ा, जिसकी एक बड़ी वजह यह थी कि गाँव के ब्राह्मण पश्चिमी शिक्षा के दम पर कस्बों और शहरों में नौकरी पाने लगे थे। लेकिन पश्चिमी शिक्षा हासिल करने, शहरी जीवन के खर्च तथा दहेज की बढ़ती माँग के कारण उन्हें अपनी ज़मीन ग़ैर-ब्राह्मणों, खासकर ओक्कालिगाओं को बेचनी पड़ी। यह एक दीर्घ प्रक्रिया थी जो 1900 से 1948 तक लगातार जारी रही। बाद में सरकारी नौकरियों में ब्राह्मणों के वर्चस्व को ग़ैर-ब्राह्मण समुदाय चुनौती देने लगे। उन्हें महसूस हुआ कि पश्चिमी शिक्षा हासिल किये बिना उनकी सामाजिक स्थिति नहीं सुधर सकती। श्रीनिवास के विवरण से पता चलता है कि रामपुरा में जातियों के प्रभुत्व का इस ग़ैर-ब्राह्मण आंदोलन का गहरा असर पड़ा। तीसरे दशक में रामपुरा और आसपास के गाँवों की सम्पन्न किसान जातियाँ अपने बच्चों को पश्चिमी शिक्षा के लिए बंगलुरु और मैसूर जैसे शहरों में भेजने लगीं।

इस उदाहरण से पता चलता है कि जब कोई जाति किसी एक क्षेत्र में प्रभुत्व स्थापित कर लेती है तो एक समय के बाद प्रभुत्व के अन्य रूपों पर भी उसका अधिकार होने लगता है। इस तरह अगर कोई जाति आनुष्ठानिक दर्जे के लिहाज़ से नीची मानी जाती है, लेकिन संख्या और सम्पन्नता की दृष्टि से बलशाली होती जाए तो वह संस्कृतीकरण के ज़रिये सामाजिक पदानुक्रम में ऊपर भी उठ सकती है।

प्रभुत्वशाली जाति के इस संरचनात्मक विवरण के बाद यह देखना भी ज़रूरी है कि सामाजिक सत्ता और अंतरजातीय विवादों को निपटाने की व्यवस्था आदि में उसकी क्या और कैसी भूमिका रहती है। प्रभुत्वशाली जाति का सदस्य होने के नाते ऐसी जाति के प्रमुख लोगों के लिए सत्ता-संरचना में पैठ करना अन्य जातियों की तुलना में ज्यादा आसान होता है। राजनीतिज्ञों के लिए वे वोट बैंक का काम करते हैं। प्रभुत्वशाली जाति के दबंग सदस्यों और राजनीतिज्ञों के बीच का यह संबंध वृहत्तर राजनीति को भी प्रभावित करता है। गाँव या क्षेत्र के स्थानीय झगड़ों और विवादों में प्रभुत्वशाली जाति के लोग ही अहम और निर्णायक भूमिका में होते हैं। मसलन, श्रीनिवास ने अपने अध्ययन के दौरान देखा कि प्रभुत्वशाली जाति गाँव की पारम्परिक पंचायतों में भी फ़ैसलाकुन दखल रखती है। अंतरजातीय विवादों में संबंधित जातियों के सदस्यों के अलावा प्रभुत्वशाली जाति के सदस्य भी शामिल होते थे। उनकी न्यायिक सत्ता गाँव की सभी जातियों पर चलती थी।

प्रभुत्व की अवधारणा पर काम करते हुए बाद में श्रीनिवास को लगा कि उनके विश्लेषण से कुछ चीज़ें छूट गयी

हैं। इसलिए प्रभुत्वशाली जाति के विचार को पुनः व्यवस्थित करते हुए उन्होंने उसमें दो और कारकों को शामिल किया। एक, खेती की परम्परा और दूसरी, अपने जाति-समूह के हितों को मज़बूत करने के लिए हिंसा का प्रयोग करने की तत्परता। उनके अनुसार पूर्व-औपनिवेशिक काल में किसी जाति समूह की संख्या तथा उसकी हिंसा करने की क्षमता दो ऐसे तत्त्व थे जिनसे आंतरिक व्यवस्था बनाये रखने तथा सत्ता के ऊँचे पायदान पर पहुँचने में मदद मिलती थी। आज़ादी के बाद देश में जैसे-जैसे लोकतांत्रिक राजनीति का विस्तार होता गया है वैसे-वैसे किसी जाति का संख्या-बल उसके राजनीतिक महत्त्व या प्रतिष्ठा का महती कारक भी बनता गया है।

श्यामा चरण दुबे, योगेश अटल और टी.के. उम्मन के अनुसार श्रीनिवास द्वारा सुलझायी ये चारों ही मान्यताएँ विवादास्पद हैं कि दबंग जाति एक सुगठित और एकमत समूह होती है, सत्ता किसी एक जाति में केंद्रित होती है, शक्ति केवल प्रदत्त लक्षण अर्थात् जन्मजात है और गाँव की शक्ति संरचना कभी बदलती नहीं है। उम्मन ने लिखा कि दबंग होने के लिए अपेक्षित साधनों के होते हुए भी जातियाँ परस्पर विरोधी गुटों में बँटी होती हैं और इस प्रकार उनके प्रभुत्व पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। जाति-व्यवस्था का विभिन्न इकाइयों में बँटना प्रत्येक जाति को कुछ सीमा तक स्वायत्तता प्रदान करता है। इससे सत्ता का छितराव होता है, संकेंद्रण नहीं। उम्मन मानते हैं भारत का गाँव अलग-थलग नहीं है। वह अन्य गाँवों से जुड़ा है। इसलिए किसी भी जाति के दबदबे को क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुर्गे, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिम्हचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2, त्रिलोकी नाथ मदन।

संदर्भ

1. एम.एन. श्रीनिवास (2002), *विलेज, कास्ट, जेंडर एंड मैथड : एसेज़ इन इण्डियन सोशल एंथ्रोपोलॉजी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. एम.एन. श्रीनिवास (1955), 'द सोशल सिस्टम ऑफ़ अ मैसूर विलेज', मैकिम मैरियट (सम्पा.), *विलेज इन इण्डिया : स्टडीज़ इन द लिटिल कम्युनिटी, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.*
3. ग्लोरिया गुडविन रहेजा (1989), 'इण्डिया : कास्ट, किनशिप एंड डोमिनेंस रिक्म्पीडर्ड', *ऐनुअल रिव्यू ऑफ़ एंथ्रोपोलॉजी*, 17.
4. मिरियम शर्मा, (1978) *द पॉलिटिक्स ऑफ़ इनवीक्वलिटी : द कम्पटीशन एंड कंट्रोल इन ऐन इण्डियन विलेज*, युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ हवाई, होनोलूलू.

— नरेश गोस्वामी

प्रयोगवाद

(Experimentalism)

हिंदी साहित्य में प्रयोगवाद की संज्ञा उसके विरोधियों द्वारा गढ़ी गयी है, उसी तरह जैसे छायावाद को उसका नाम विरोधियों द्वारा दिया गया था। यह अलग बात है कि प्रतिवाद किये जाने पर दोनों नाम स्वीकृति पा गये। वास्तव में प्रयोगवाद का आरम्भ 1943 में अज्ञेय के सम्पादन में निकले *तार सप्तक* से होता है। अज्ञेय का कहना था कि प्रयोग का कोई 'वाद' नहीं है— हम वादी नहीं रहे, न हैं। हमें प्रयोगवादी कहना ऐसा ही है जैसे हमें कवितावादी कहना। 1951 में प्रकाशित *दूसरा सप्तक* की भूमिका में भी अज्ञेय ने कहा, 'प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है।' *तार सप्तक* के कवि काव्य-विषयों पर अलग-अलग राय रखते थे, लेकिन उसके प्रकाशन से हिंदी कविता की पुरानी रीढ़ चरमरा गयी। अज्ञेय ने *तार सप्तक* की भूमिका में पहली बार आधुनिकता, परम्परा, प्रयोग, प्रगति, काव्य-सत्य, साधारणीकरण, काव्य-भाष्य, काव्य-शिल्प आदि अनेक नये प्रश्न उठाये। प्रश्नाकुल कवि और सम्पादक के रूप में अज्ञेय ने पश्चिमी आलोचक रोलाँ बारथ की तरह अनेक असुविधाजनक प्रश्न उठाकर नये विषयों पर बहस आरम्भ करने का श्रेय प्राप्त किया। *तार सप्तक* में पश्चिम और साम्यवादी रूस की विचारधाराएँ काव्यांदोलन के दायरे में सजग रूप से टकरायीं। इस अर्थ में *तार सप्तक* के सातों कवि अपने को 'राहों का अन्वेषी' मानते रहे। वैचारिक मतभेद होने पर भी मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभावकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय (तार सप्तक के सात कवि) सभी का आग्रह 'प्रयोग' पर है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के दायरों में ये कवि एक-दूसरे को छूते रहे।

परिशुद्ध रूप में *तार सप्तक* 1966 में फिर से प्रकाशित हुआ। इस द्वितीय संस्करण से कई विवाद पैदा हुए : जैसे, इस संकलन की मूल कल्पना किसकी थी। नेमिचंद्र जैन ने 'वास्तविक श्रेय किसको मिले' का प्रश्न उठाया। शमशेर बहादुर सिंह ने संकलन की समीक्षा करते हुए बताया, 'इसकी मूल कल्पना प्रभावकर माचवे और नेमिचंद्र जैन की थी। नाम *तार सप्तक* प्रभावकर माचवे का सुझाया हुआ था।' अज्ञेय से सहयोग-सम्पर्क बढ़ने पर मूल योजना पर अमल के लिए अज्ञेय पर उसके सम्पादन का भार डाला गया। इस संकलन में अज्ञेय ने भवानीप्रसाद मिश्र को लेने का भी मन मनाया था, किंतु जेल चले जाने के कारण उन्हें इसमें सम्मिलित नहीं किया जा सका। जेल से छूटने के बाद उन्हें दूसरा सप्तक के

प्रथम कवि के रूप में स्थान मिला। पहले सप्तक में अज्ञेय ने रामविलास शर्मा को शामिल किया, जिन्होंने बाद में अज्ञेय जी को हर प्रकार से तार-तार कर डालने का शत्रुभाव से भरा अभियान चलाया।

तार सप्तक में संकलित कविताओं को पढ़ कर पाठक स्वतः इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि गिरिजा कुमार माथुर को छोड़कर शेष सभी कवियों का झुकाव मार्क्सवाद की ओर था। मुक्तिबोध की रचना 'पूँजीवादी समाज के प्रति', नेमिचंद्र जैन की 'कवि गाता है', भारतभूषण अग्रवाल की 'अपने कवि से', माचवे की 'बीसवीं सदी' और रामविलास शर्मा की 'विश्व शांति' शीर्षक कविताओं का स्वर मार्क्सवादी है। स्वयं अज्ञेय 'लाल आग मेरे भावी गौरव का रथ है' की घोषणा करते हुए दिखते हैं। युग की प्रचलित प्रवृत्ति अज्ञेय से दूर कैसे रह भी सकती थी। इसीलिए कई आलोचक मानते हैं कि संवेदना और मूल्य-दृष्टि के भीतरी तनाव होते हुए भी प्रगतिवाद का जन्म प्रयोगवाद की मूल चेतना से ही हुआ है। इस दृष्टि से 'प्रयोगवाद' को 'व्यक्ति' और 'प्रगतिवाद' को 'समाज' से जोड़ने का विभाजन एक तरह का सरलीकरण प्रतीत होता है।

यह भी कहा जाता रहा है कि प्रयोगवाद मात्र शिल्प का ऐसा आंदोलन है जिसमें अंतर्वस्तु का महत्त्व गौण है। 'प्रयोग' शब्द जिस तरह अंग्रेजी के 'एक्सपेरिमेंट' का हिंदी पर्याय है, वैसे 'प्रयोगवाद' का 'एक्सपेरिमेंटलिज्म' जैसा कोई समानांतर आधार नहीं है। न युरोप में वैसे कोई 'वाद' ही चला दिखाई देता है। अज्ञेय ने भी 'प्रयोग' को सत्य प्राप्त करने का साधन मात्र माना— साध्य नहीं। यह जरूर है कि प्रपद्यवादियों ने बहुत बाद में नये जोश में आकर प्रयोग को कविता का साध्य घोषित कर दिया। 'प्रपद्यवादी' ही नकेनवादी कहलाये। नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश के प्रथम नामाक्षरों को लेकर नकेन नाम से कविता संग्रह का प्रकाशन *तार सप्तक* के कई वर्ष बाद हुआ। अज्ञेय की खुली आलोचना करते हुए नकेनवादियों ने यह फ़िकर भी उछाला कि 'प्रयोगवाद सर्वत्र स्वतंत्र' है— उसके लिए शास्त्र या दल निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं। वह शास्त्र को अँगूठा दिखाने वाला आंदोलन है। लेकिन बिहार का यह चमत्कारवादी आंदोलन अन्य हिंदी प्रदेशों में मान्यता न प्राप्त कर सका।

अज्ञेय ने *तार सप्तक* की भूमिका में काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण अपनाकर कहा कि वे 'राही नहीं राहों के अन्वेषी' हैं। नयी-नयी काव्यभूमियों को खोजने का संकल्प ही प्रयोगशीलता में ढला है। सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर इन सातों कवियों की राय अलग-अलग है कि वे एक-दूसरे के कुत्तों-मित्रों पर भी हँसते हैं, लेकिन उनमें कोई

गुटबद्धता नहीं है, चिंतन का खुलापन है। अज्ञेय ने यह भी माना कि निरंतर प्रयोग से भाषा का चमत्कार मारा जाता है। इसीलिए कवि को लोक जीवन में उतर कर शब्द बीनने पड़ते हैं, 'भाषा की क्रमशः संकुचित होती सार्थकता की केंचुली फाड़ कर उसमें नया अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना पड़ता है। नया कवि इस कठिनाई को निरंतर झेलता है।'

प्रयोगवाद को लेकर नंद दुलारे वाजपेयी ने 'प्रयोगशील कविताएँ' शीर्षक लेख लिखकर अज्ञेय की खबर ली और इन कवियों को 'राह भूले स्कूली बच्चे' तक कह डाला। यह भी कहा कि ये कविताएँ काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं और भाषा के साधारणीकरण सिद्धांत की उपेक्षा करती हैं। प्रयोगवाद के कवि 'अतिरिक्त पुष्टिवाद' से ग्रस्त हैं इसलिए उनकी कविता में राग-तत्त्व क्षीण है। वाजपेयी के इन आक्षेपों का उत्तर अज्ञेय ने दूसरा सप्तक की भूमिका में यह कह कर दिया कि प्रयोग अपने में साध्य नहीं है— साध्य है साधारणीकरण। कवि का क्षेत्र रागात्मकता का क्षेत्र होने के कारण उस पर जीवन की जटिलताओं का प्रभाव पड़ा है। हमारे राग नहीं बदले लेकिन जीवन के दबाव से रागात्मक संबंधों की प्रणालियाँ बदल गयीं हैं। जो कवि इन बदली प्रणालियों पर ध्यान नहीं दे रहे हैं वे जीवन की वास्तविकताओं से कट गये हैं। नये कवि का यह दायित्व है कि नये जीवन के नये राग-संबंधों की प्रणालियों के प्रति वह सावधानी बरते। इन 'प्रयोगशील' कवियों का ध्यान साधारणीकरण पर पूरी तरह है, वे इस सिद्धांत को मानते हैं। यह कहना कि वे साधारणीकरण के सिद्धांत को नहीं मानते, इन कवियों के साथ दोहरा अन्याय है।' इस तरह अज्ञेय ने हिंदी के नये समीक्षाशास्त्र की नींव को दृढ़ किया और विरोधियों के प्रहारों को झेल कर भी अपने संकल्प-पथ से विचलित नहीं हुए। अज्ञेय ने पाया कि तार सप्तक के वृत्त से बाहर रहने वाले लक्ष्मीकांत वर्मा और जगदीश गुप्त के कृतित्व में प्रयोगशीलता की प्रतिष्ठा कम नहीं है।

तार सप्तक के कवियों में सर्वाधिक रचना-सामर्थ्य का उदाहरण खुद अज्ञेय ने प्रस्तुत किया। उपन्यास, कहानी, यात्रा-वृत्त, संस्मरण, निबंध सभी विधाओं में लिखने पर भी उन्होंने अपने को मूलतः कवि कहा, कथाकार नहीं। रचना-सामर्थ्य में नेमिचंद्र जैन और रामविलास शर्मा उनसे पीछे रहे। गजाननमाधव मुक्तिबोध ने अवश्य ही पाठकों का ध्यान



खींचा और चाँद का मुँह टेढ़ा है शीर्षक काव्य-संग्रह के प्रकाशित होते ही वे चर्चा के केंद्र में आ गये। उनका कवि-व्यक्तित्व सहसा ही महत्त्वपूर्ण हो गया। प्रयोगवाद के काल में तो वे विशेष ख्यातिलब्ध कवि नहीं रहे, लेकिन नयी कविता के दौर में उनके काव्य-व्यक्तित्व और काव्य-संघर्ष का गौरवपूर्ण इतिहास दर्ज है। गिरिजा कुमार माथुर ने धूप के धान और शिलापंख चमकीले काव्य संग्रहों की कविताओं से

ऐसा माहौल बनाया कि राम विलास शर्मा ने उन्हें 'नये युग का वैतालिक कवि' करार दिया। कवि-कर्म के प्रति सजगता माथुर को अज्ञेय की ओर ले जाती है। इस काल में प्रभाकर माचवे और भारत भूषण अग्रवाल के काव्य-संकलन भी आते रहे लेकिन इनमें से किसी को भी कोई नये मोड़ देने का श्रेय प्राप्त नहीं हुआ। अज्ञेय ने हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इंद्रधनु रौंदे हुए थे, अरी ओ करुणाप्रभामय और आँगन के पार द्वार जैसे महत्त्वपूर्ण कविता संग्रह देकर नयी मौलिकता का प्रमाण दिया।

अज्ञेय की आधुनिकता पर इस काल में चौतरफा प्रहार हुए लेकिन उन्होंने इन प्रहारों से शक्ति अर्जित की और कहा कि, 'इसलिए मैं कवि हूँ/ आधुनिक हूँ नया हूँ/ काव्य सत्य की तलाश में कहाँ नहीं गया हूँ'। यह भी

उन्होंने बार-बार कहा, 'किसी की कली थी मैंने अनचाहे बीन ली'। इस कवि ने यह भी माना कि, 'मैं वह धनुही जिसे साधने में प्रत्यंचा टूट गयी है'। लेकिन बाण तो दूर तक गया। अज्ञेय ने काव्य पर गम्भीर से गम्भीर चिंतन किया जिसका प्रगतिवादियों की तरफ से लगातार तिरस्कार होता रहा। लेकिन उस समय अज्ञेय कह रहे थे कि वे कैसे 'दूर दूर दूर मैं वहाँ हूँ, मैं सेतु हूँ'। तब कही गयी उनकी बात आज भी सुनायी पड़ती है, 'शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृती बनाती है।' ध्यान रहे कि शब्द की अर्थवत्ता की खोज में शब्द की ऐतिहासिक पकड़ और अर्थ की सामाजिक परख दोनों निहित हैं। दूसरा-तीसरा सप्तक के कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर, रघुवीर सहाय आदि कवियों में जो भाषा-चेतना मिलती है, उसका श्रेय भी किसी न किसी स्तर पर अज्ञेय को दिया जा सकता है।

देखें : अप्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2,

भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1983), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. धीरेंद्र वर्मा (सम्पा.) (1969), *हिंदी साहित्य*, तृतीय खण्ड, भारतीय हिंदी परिषद्, प्रयाग.
3. नंददुलारे वाजपेयी (सं. 2007), *आधुनिक साहित्य*, भारती भंडार, इलाहाबाद.
4. नेमिचंद्र जैन (1968), *बदलते परिप्रेक्ष्य*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. नामवर सिंह (1954), *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ*, किताब महल, प्रयाग.
6. कृष्णदत्त पालीवाल (2002), *हिंदी आलोचना के नये वैचारिक सरोकार*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

प्रशासन और सुशासन

(Administration)

सार्वजनिक प्रशासन की धारणा आधुनिक राज्य के साथ शुरू से ही जुड़ी रही है, पर गवर्नेंस के विचार का अधिक प्रचलन अस्सी के दशक से हुआ है। आधुनिक राज्य स्वयं को क्रानून के मुताबिक चलने वाली संस्था के रूप में देखता है। क्रानून के जरिये ही उसके कर्तव्य परिभाषित होते हैं जिन्हें पूरा करने के लिए प्रशासन-तंत्र का एक औजार की तरह इस्तेमाल किया जाता है। सार्वजनिक प्रशासन का सैद्धांतिक सूत्रीकरण राजनीतिशास्त्र के अलावा इतिहास, क्रानून, समाजशास्त्र, प्रबंधन और मनोविज्ञान के मिश्रण से किया गया है। उत्तरदायित्व, पारदर्शिता, न्याय, निष्पक्षता और समानता से साथ-साथ नीतिशास्त्रीय आग्रह भी उत्तम प्रशासन के लिए

मानक के तौर पर काम करते हैं। प्रशासन की गतिविधियाँ एक ऐसी सहयोगात्मक परियोजना के तौर पर देखी जाती हैं जिसमें हित-समूहों, नागरिकों, उद्योग जगत, विधिकर्ताओं और न्यायपालिका की भूमिका की अनदेखी नहीं की जा सकती।

जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर राज्य को बुद्धिवाद और विधि की संकल्पना पर आधारित संस्था के रूप में देखते थे, इसलिए उन्होंने क्रानून लागू करने के लिए अधिकारीतंत्र जैसे औपचारिक बंदोबस्त का सूत्रीकरण किया। प्रशासन की युरोपीय अवधारणा काफ़ी-कुछ वेबर के इसी विमर्श के इर्द-गिर्द गोलबंद की गयी है कि सभी सार्वजनिक कार्रवाइयों का आधार क्रानून में निहित होता है। आगे चल कर प्रशासन की इस धारणा ने खुद को केवल एक उपकरण के रूप में सीमित करने से इनकार किया। समाज-वैज्ञानिकों ने दावा किया कि प्रशासन केवल नीतिगत कार्यान्वयन तक ही नहीं रह सकता। उसे नीति-निर्माण में भी भागीदारी करनी होगी।

1887 में अमेरिकी राजनेता वुड्रो विल्सन ने अपनी रचना *द स्टडी ऑफ़ ऐडमिनिस्ट्रेशन* के जरिये प्रशासन के विचार को और स्पष्ट किया। विल्सन ने प्रशासन और राजनीति के संबंधों की जाँच करते हुए प्रशासनिक एजेंसियों की अधिकतम सक्षमता पर जोर दिया। उन्होंने राजनीति और प्रशासन के दायरों के द्विभाजन का सूत्रीकरण किया। उनका कहना था कि प्रशासन राज्य की उस इच्छा को धरती पर उतारता है जिसकी अभिव्यक्ति राजनीतिक प्रक्रिया के जरिये होती है। विल्सन के इस निबंध ने आने वाले ज़माने के लिए प्रशासन संबंधी सिद्धांत पर काफ़ी असर डाला। कई विद्वानों ने इसी आधार पर इस सिद्धांत का विकास किया। यह मान्यता बनी कि लोकतंत्र और सक्षम प्रशासन एक-दूसरे के साथ चल सकते हैं, सरकार द्वारा कार्यान्वयन की गतिविधियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है, और प्रशासन में प्रबंधन की प्रौद्योगिकी का समावेश भी सम्भव है। विल्सन स्वयं भी प्रबंधन-विज्ञान में दिलचस्पी रखते थे।

प्रशासन को उत्तरोत्तर दक्ष बनाने के लिए बीसवीं सदी की शुरुआत में फ्रेड्रिख डब्ल्यू. टेलर द्वारा विकसित वैज्ञानिक प्रबंधन की तकनीकों का सहारा लिया गया। टेलर सिस्टम के प्रभाव में प्रशासन की पद्धति एक विज्ञान की तरह विकसित की गयी। इसके बाद सक्षम प्रशासनिक ढाँचे का मतलब हो गया कार्य-क्षेत्रों का विभाजन, नियंत्रण के सुनिश्चित दायरे, संगठन के भीतर वरिष्ठता-कनिष्ठता क्रम, आंतरिक निर्देश-शृंखला के तहत संगठन के संचालन, काम की रपट पेश करने के प्रावधान, विभागीकरण, मानकों और कसौटियों का विकास, राजनीति के साथ तालमेल बैठा कर चलना और क्रियाविधि संबंधी संहिताएँ। प्रशासनिक सिद्धांत में कम्पनी

प्रबंधन के अध्येता फ्रांसीसी इंजीनियर हेनरी फ्रेयोल ने औद्योगिक संगठनों के तौर-तरीकों का समावेश किया। तीस के दशक में आर्थर गुलिक ने प्रशासन को पीओएसडीसीओआरबी यानी प्लैनिंग, ऑर्गनाइजिंग, स्टाफिंग, डायरेक्टिंग, कोऑर्डिनेटिंग, रिपोर्टिंग और बजटिंग के घटकों में बाँट कर परिभाषित कर दिखाया। गुलिक का यह विन्यास बहुत दिनों तक प्रभावी रहा और उसके नेतृत्व में प्रशासनिक सिद्धांत पर बुद्धिवाद और वैज्ञानिकता के आग्रह छाये रहे। 1947 में हरबर्ट साइमन ने अपनी रचना *ऐडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर* के जरिये प्रशासन संबंधी अध्ययन के कारनेगी स्कूल की स्थापना की। इस स्कूल ने राजनीतिशास्त्र में संस्थागत विश्लेषण के अनुशासन की अहमियत को फिर से रेखांकित किया। साइमन तर्कपरक प्रत्यक्षवाद के हामी थे। उन्होंने गुलिक की सिफारिशों को अपर्याप्त करार देते हुए कहा कि वे पूरी तरह से वैज्ञानिक नहीं हैं और इसीलिए अधिकारी उनकी मदद से हर परिस्थिति का मुकाबला नहीं कर पाते। उनका विचार था कि कोरा बुद्धिवाद अफसरों को सही फैसले लेने की तरफ नहीं ले जा सकता। सीमित बुद्धिवाद के विचार का प्रतिपादन करते हुए साइमन ने कहा कि निर्णय-प्रक्रिया में सरकारी अफसरों के पास बुद्धिवादी दृष्टिकोण के अलावा और भी विकल्प होने चाहिए। साइमन के जमाने में ही व्यवहारवादी राजनीतिक सिद्धांतशास्त्री रॉबर्ट दाहल ने सिफारिश की कि प्रशासन-विज्ञान के लिए मानवीय व्यवहार की पेचीदगी का ध्यान रखना जरूरी है।

अस्सी के दशक में न्यू पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन (एनपीएम) के तहत निजी कम्पनियों में अपनाये जाने वाले तौर-तरीकों की रोशनी में पश्चिमी देशों ने अपने प्रशासनिक बंदोबस्त की नये सिरे से विन्यास शुरू किया। इसके बाद से सार्वजनिक प्रशासन के पुराने सिद्धांत और एनपीएम के बीच बहस जारी है। एनपीएम के आने से पहले उत्तम प्रशासन का मतलब था सावधानी और ईमानदारी से काम करते हुए एक स्थापित प्रक्रिया का पालन करना और नियम-क्रानूनों के दायरे में रहना। इस परम्परा के तहत वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों से उम्मीद की जाती थी कि प्रबंधन में भाग लेने के बजाय वे नीति-निर्माण पर ज्यादा जोर देंगे। एनपीएम प्रबंधन, कार्रवाई और गवर्नेंस को प्रमुखता देता है। वह लोक-सेवकों को बेहतर मैनेजर बनाने की कोशिश करता है।

आजकल प्रशासन को सुशासन के साथ जोड़ कर देखा जाने लगा है। कभी-कभी सुशासन के लिए गवर्नेंस शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। यह एक लैटिन शब्द *गवर्नेय* से निकला है जिसका मतलब होता है मार्गदर्शन करना, नियम बनाना और संचालन करना। जाहिर है कि क्रानून द्वारा थमाये गये कर्तव्यों को पूरा करने तक सीमित रहने के बजाय गवर्निंग के जरिये प्रशासन सार्वजनिक मामलों के प्रबंधन के

ज्यादा नज़दीक पहुँच जाता है। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और संयुक्त राष्ट्र ने गवर्नेंस के विमर्श को अस्सी के दशक के बाद प्रमुखता देते हुए उसे सुशासन का पर्याय बना दिया है। सुशासन का विचार मुख्यतः दस मूल्यों पर आधारित माना जाता है। पहला है लोकतांत्रिक बहुलवाद जिसके तहत विविधता के प्रति सहिष्णुता, सभी के लिए समानता और स्वतंत्रता और गवर्निंग की प्रक्रिया में सभी की भागीदारी पर जोर दिया जाता है। दूसरा है क्रानून के तहत और जनता की निगाह में वैधता जो संवैधानिक जरिये और स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनावों से हासिल की जाती है। तीसरा है एक-दूसरे से होड़ करने वाले हितों की परस्पर सहमति क़ायम करने की प्रक्रिया। चौथा है निर्णय-प्रक्रिया में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करना। पाँचवाँ है क्रानून के शासन की गारंटी करना ताकि किसी के साथ भेदभाव होता न दिखे। छठा है व्यवस्था में सक्रिय विभिन्न दावेदारों के प्रति शासन प्रणाली की संवेदनशीलता और अनुक्रिया करने की क्षमता। सातवाँ है सत्ता का बेजा इस्तेमाल रोकने के लिए गवर्नेंस के लिए ज़िम्मेदारी संस्थाओं की जवाबदेही। आठवाँ है शासन द्वारा की गयी कार्रवाइयों की पारदर्शिता और स्वीकार किये गये लक्ष्यों की पूर्ति। नवाँ है लोक-सेवा से संबंध नीतिशास्त्रीय और नैतिक उत्तरदायित्व का पालन। टिकाऊ मानव-विकास उपलब्ध करने के लिए दूरगामी रणनीतिक दृष्टि का विकास। इन दस मूल्यों से जाहिर है कि उत्तम गवर्नेंस का संबंध न केवल सरकारी संस्थाओं से है, बल्कि इस प्रक्रिया से संबंधित तमाम गैर-सरकारी सहभागियों से भी है।

सुशासन में बाधक समझे जाने वाले कारकों में भ्रष्टाचार, अफसरों की रिश्तखोरी, लालफीताशाही, काहिली आदि का जिक्र किया जाता है। अक्सर होता यह है कि विभिन्न देशों के पास नीतियों के कार्यान्वयन का विधिक जनादेश तो होता है, पर ज़मीन पर वे नीतियाँ लागू नहीं हो पातीं। सरकारी विभाग एक-दूसरे से टकराते रहते हैं, और विभिन्न मंत्रालयों में कार्य-क्षेत्र को लेकर विवाद होता रहता है। एक मंत्रालय द्वारा उत्साह से शुरू किया गया कार्यक्रम दूसरे मंत्रालय द्वारा अनावश्यक और समस्यापूर्ण समझा जाता है। गरीब देशों के पास कई तरह के समाज-कल्याण संबंधी कार्यक्रमों, पर्यावरण की सुरक्षा करने वाले उपायों और आर्थिक विकास की नीतियों को लागू करने लायक संसाधनों का अभाव होता है।

दिलचस्प बात यह है कि सुशासन की गारंटी करने के लिए विश्व-संस्थाओं ने जिन मानदण्डों की स्थापना की है, वे पहली नज़र में ही दोहरे लगते हैं। विश्व बैंक और मुद्रा कोष अन्य अंतर्राष्ट्रीय अनुदान संस्थाओं के साथ मिल कर अविकसित देशों पर 'गुड गवर्नेंस' की शर्तें थोपते हैं, जबकि दूसरी तरफ़ विकसित देशों के लिए उदारतावादी लोकतंत्र के आधारभूत गुणों के मुताबिक शर्तें बनायी जाती हैं। इन शर्तों

के आलोचकों का कहना है कि यह पूरी डिज़ाइन एशियाई, अफ्रीकी और लातीनी अमेरिकी देशों पर पश्चिम के प्रभाव को थोपने के लिए तैयार की गयी है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. एच.ए. साइमन (1947), *एडमिनिस्ट्रटिव बिहेवियर*, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. एच.जी. फ्रेड्रिक्सन (1997), *द स्पिरिट ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन*, जोसी-बैस, सैन फ्रांसिस्को.
3. यूनाइटेड नेशंस डिवेलपमेंट प्रोग्राम (1998), *गुड गवर्नेंस ऐंड सस्टेनेबिलिटी ह्यूमैन डिवेलपमेंट*, यूएडीपी, न्यूयॉर्क.
4. ओ.पी. द्विवेदी (2002), 'ऑन कॉमन गुड ऐंड गुड गवर्नेंस : ऐन आल्टरनेटिव एप्रोच', डी. ओलोवू और एस. सैकू (सम्पा.), *बेटर गवर्नेंस ऐंड पब्लिक पॉलिसी*, कुमारियन प्रेस, ब्लूमफ़ील्ड, कनेक्टिकट.
5. डी. ओसबोर्न और टी. गेबलर (1992), *रिइन्वेंटिंग गवर्नमेंट*, एडिसन-वेज़ली, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

प्राइवेसी

(Privacy)

प्राइवेसी एक बहुआयामी अवधारणा है। यह इतनी तरल और अनिश्चित है कि उसकी कोई सरल और सम्पूर्ण परिभाषा तय नहीं की जा सकती। लिहाज़ा उसे संदर्भ और संस्कृति के संश्लिष्ट और विवादित सीमांतों के बीच रख कर ही समझा जा सकता है। आधुनिक समाज में प्राइवेसी के साथ विचार का एक और ध्रुवांत पब्लिसिटी भी विकसित हुआ है। इस तरह जब प्राइवेसी की बात की जाती है तो उसके नेपथ्य में अक्सर पब्लिसिटी का विचार भी चहलकदमी कर रहा होता

है। इसलिए इन दोनों पदों को एक दूसरे के सामंजस्य में देखा जाना चाहिए। प्राइवेसी के परिप्रेक्ष्य से सूचनाओं को उजागर करने या उन्हें लेकर गोपनीयता बरतने जैसे नैतिक और आदर्शगत पहलू एक साथ जुड़े हैं। व्यक्ति या समूह कब अपनी इच्छा से निजी सूचनाएँ सार्वजनिक करता है और कब उसे किसी आदेश या कानून के तहत ख़ास तरह की सूचनाओं को गुप्त रखना पड़ता है— यह सब संदर्भों, सामाजिक भूमिकाओं तथा संस्कृति आदि से तय होता है। इस बिंदु पर प्राइवेसी का मसला सूचना के समाजशास्त्र में प्रवेश कर जाता है।

प्राइवेसी को विशेषण की तरह देखा जा सकता है। उससे सूचना की स्थिति या हैसियत का बोध होता है। इससे यह पता चलता है कि कोई सूचना प्रकट है या गुप्त। मसलन रोज़मर्रा के जीवन में स्त्री या पुरुष का अंतर एक सार्वजनिक सूचना होती है। लेकिन उनके राजनीतिक और धार्मिक विचार या विश्वास अदृश्य और अज्ञात होते हैं। यहाँ इस तथ्य को अनदेखा नहीं करना चाहिए कि रोज़मर्रा के अनुभवों में प्राइवेसी/निजता और पब्लिसिटी/सार्वजनिकता के आदर्शों का हमेशा पालन नहीं किया जाता। सरकार और कॉरपोरेट मामलों की जिन रपटों/सूचनाओं को सार्वजनिक करना अनिवार्य होता है उन पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है या फिर उन्हें झूठा भी करार दिया जा सकता है। कई बार ऐसी सूचनाओं को नष्ट भी कर दिया जाता है। इसी तरह बाल-शोषण या वैवाहिक साथी के साथ अत्याचार करने जैसी सूचनाएँ कई बार इसलिए छिपी रह जाती हैं, क्योंकि घर की अंदरूनी गतिविधियों और संरचना को भेद पाना मुश्किल होता है।

प्राइवेसी को सर्विलांस नहीं समझा जाना चाहिए क्योंकि इसमें तकनीकी उपायों के जरिये निगरानी का तत्त्व निहित है। उसका उद्देश्य नियंत्रण, सुरक्षा, प्रबंधन, दस्तावेज़ीकरण तथा मनोरंजन करना होता है। उसे सूचनाओं को उजागर करने का तरीका भी माना जा सकता है, जिसमें प्राइवेसी का अतिक्रमण भी हो सकता है। मसलन इसके द्वारा गोपनीय सूचनाएँ व्यावसायिक कम्पनियों को भी बेची जा सकती हैं। इसके साथ ही सर्विलांस प्राइवेसी को सुनिश्चित करने का तरीका भी हो सकता है। इस संदर्भ में बायोमीट्रिक पहचान, ख़ातों की निगरानी या घर और दफ़तर आदि की सुरक्षा के लिए लगाये गये कैमरों को रखा जा सकता है।

प्राइवेसी अपनी निर्मिति में अनिवार्यतः सामाजिक होती है। क्योंकि इसमें हमेशा कोई अन्य मौजूद होता है जिससे किसी तथ्य या सूचना को छिपाया जाता है। या जिसे किसी तथ्य के बारे में सूचित करने का हक़दार माना जाता है। सूचना का चरित्र सामाजिक भूमिकाओं से तय होता है।

उसमें सत्ता का प्रश्न गहरे ढँसा है। निजी सूचनाओं को एकत्र करने, ऐसी सूचनाओं को एकत्र करने की परिस्थितियाँ और उनके उपयोग का अधिकार सामाजिक स्तरीकरण की परिघटना से भी जुड़ा है। बड़ी संस्थाओं के कर्मचारियों तथा उनके ग्राहकों, या पुलिस और संदिग्ध तथा वैयक्तिक संबंधों जैसे अभिभावकों व बच्चों के मामले में ऐसे नियम अपेक्षाकृत आसान होते हैं कि कौन व्यक्ति सूचना पाने के लिए अधिकृत है और किसे ऐसी सूचनाएँ प्रदान करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। जेंडर तथा जातीयता के मसलों में उच्चतर सत्ता का नियंत्रण सूचना की असमानता की ओर इशारा करता है।

प्राइव्हेसी की उम्मीद में गोपनीयता का भाव भी साथ चलता है, जो इस बात का स्मरण कराता है कि सूचना से जुड़े सारे मसले अंततः सामाजिक होते हैं। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण नहीं होता कि सूचना पहली बार कब उजागर हुई या फिर सूचना कब अस्तित्व में आयी। विश्वसनीयता का आधार यह अपेक्षा होती है कि अगर किसी को निजी सूचना दी गयी है तो उसका दुरुपयोग नहीं किया जाएगा। इस तरह प्राइव्हेसी में सूचना की गोपनीयता भी निहित होती है। सूचना को सीमित करने का मतलब होता है कि प्राइव्हेसी में गोपनीयता भी शामिल हो गयी है। संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा जब सूचना की सुरक्षा की जाती है तो उसमें अनिवार्यतः गोपनीयता का कोई तत्त्व मौजूद होता है।

निजता को जब व्यक्तिगत अधिकार की तरह देखा जाता है तो उसमें यह भाव पूर्व-प्रदत्त होता है कि व्यक्ति अपने से संबंधित सूचना को नियंत्रित कर सकता है या नहीं। यह ज़रूरी नहीं है कि व्यक्ति की निजी सूचनाएँ गोपनीय ही हों लेकिन इसके फ़ैसले का अंतिम अधिकार संबंधित व्यक्ति के पास ही होता कि वह उक्त सूचना को दूसरों के साथ साझा करना चाहता है या नहीं। इसके उलट गोपनीयता से जुड़े नियमों में सूचनाओं को प्रतिबंधित करने की बाध्यता निहित होती है। इसके साथ अक्सर वे उपबंध भी जुड़े होते हैं कि ऐसी सूचनाओं का उल्लंघन कौन कर सकता है। सिद्धांततः व्यक्ति और संस्थाएँ गोपनीय समझी जाने वाली सूचनाओं को सार्वजनिक नहीं कर सकते। गोपनीयता चाहे वैध हो या अवैध— दोनों ही मामलों में सामूहिक एकजुटता को मजबूत करती है।

सर्विलांस की तकनीक के बढ़ते उपयोग के मद्देनज़र मौजूदा दौर में व्यक्तिगत और संस्थाओं की सूचनाएँ जैसे कम्प्यूटर डाटा, इंटरनेट मॉनिटरिंग, वीडियोकैम, या डीएनए विश्लेषण आदि पहले की तरह सुरक्षित नहीं रह गयी हैं। इससे निजी सूचनाओं को दूसरे लोगों के साथ साझा करने की सीमा तथा सूचना दिये जाने के बाद उक्त सूचना के इस्तेमाल को लेकर नये तरह के अंदेसे भी पैदा होने लगे हैं।

प्राइव्हेसी का एक अन्य रूप निर्णयमूलक है जो सूचना के बजाय व्यवहार से ज्यादा संबंधित होता है। जीवन शैली के चुनाव और यौनिक रुझान जैसे मसलों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। प्राइव्हेसी की इस निर्णयात्मकता में स्वतंत्रता का अधिकार बुनियादी अहमियत रखता है।

प्राइव्हेसी को सूचना के नियंत्रण में व्यक्ति की क्षमता के लिहाज़ से भी देखा जा रहा है। इसके लिए बाहर की ओर जाने वाली और बाहर से व्यक्ति की ओर आने वाली सूचनाओं को संदर्भ बिंदु बनाया जाता है। उदाहरण के लिए टेलिफोन, कम्प्यूटर और क्रेडिट कार्ड के जरिये होने वाले सम्प्रेषण तथा बायोमीट्रिक डाटा व भावनाओं और अनुभूति को बर्हिमुख सूचनाओं की श्रेणी में रखा जाता है जबकि एकांत की इच्छा, अनचाहे विज्ञापनों और शोर से मुक्ति को अंतर्मुख सूचनाओं की तरह देखा जाता है। इन दोनों ही श्रेणियों में अध्येताओं का जोर इस बात पर रहा है कि व्यक्ति ऐसी सूचनाओं को किस सीमा तक नियंत्रित कर सकता है।

प्राइव्हेसी की अवधारणा को सांस्कृतिक विशिष्टता के संदर्भ में रखकर देखा जाए तो समकालीन समाजों में कई तरह के रुझान दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए अमेरिका में निजी सूचनाओं के संबंध में चयन की आज़ादी पर ज्यादा जोर दिया जाता है। वहाँ निजी सूचनाओं का कारोबार करने वाली संस्थाओं में सरकार की निगरानी और दखल को बुरा माना जाता है। ऐसी संस्थाएँ व्यक्ति की निजी और अंतरंग सूचनाओं का धड़ल्ले से व्यापार करती हैं जिससे संबंधित व्यक्ति को प्रकट लाभ भी नहीं होता जबकि युरोपीय देशों में ऐसी सूचनाओं का इस्तेमाल करने से पहले व्यक्ति से सहमति लेनी पड़ती है। युरोपीय देशों में व्यक्ति की निजता का अतिक्रमण करने वाली प्रौद्योगिकी के पेशे-नज़र सुरक्षा के व्यापक प्रबंध किये गये हैं। कनाडा सहित एशियाई देशों में भी प्राइव्हेसी की सुरक्षा और भविष्य की सम्भावित समस्याओं के संबंध में चाक-चौबंद व्यवस्था की गयी है। अमेरिका में तकनीकी के नियमन को लेकर कोई एकमुश्त नीति नहीं है। तकनीक के नये रूपों से प्राइव्हेसी के अतिक्रमण की घटनाओं में वहाँ न्यायिक समीक्षा की व्यवस्था की जाती है जो सिर्फ उस ख़ास समस्या या संकट से निपटने के लिए क्रानून बनाती है।

प्राइव्हेसी की अवधारणा आधुनिक राष्ट्र-राज्य तथा पूँजीवाद व लोकतंत्र से जन्मे राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों के विस्तृत ढाँचे से निकली है। लिहाज़ा प्राइव्हेसी के संबंध में जो भी नियम और क्रानून बनाये गये हैं वे इस आधुनिक राज्य से ही वास्ता रखते हैं। हालाँकि अब प्राइव्हेसी और उसे नियंत्रित करने की गरज़ से बनाये गये नियमों की दिशा एक दूसरे के विपरीत जाती दिखायी देती है लेकिन उन दोनों का विकास साथ-साथ हुआ है।

राजनीतिक लोकतंत्र सरकार की जवाबदेही और सार्वजनिक दायरों में खुलेपन को लेकर चलने वाली बहसों से उर्जा हासिल करता है। नागर समाज के सार्वजनिक मंचों पर जनता अपने विचारों को तभी जाहिर कर सकती है जब सरकार इस अधिकार में अपनी तरफ से कोई दखलअंदाजी न करे। लेकिन एक जटिल और परस्पर निर्भर होते समाज में सरकार को लोगों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, न्याय तथा राष्ट्रीय रक्षा के संबंध में सूचनाएँ जुटाने के लिए लोगों के निजी सीमांतों का साधिकार अतिक्रमण करती है।

प्राइवैसी को अमूमन व्यक्ति की अस्मिता के तौर पर भी देखा जाता है। इस ऐतबार से आधुनिक नागरिक की धारणा में निजी सूचनाओं को नियंत्रित करने की क्षमता उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा तथा गरिमा के लिए बुनियादी शर्त मानी जाती है।

प्राइवैसी को वस्तु और व्यक्ति के अधिकार की तरह भी देखा जा सकता है। लेकिन इसके सामाजिक निहितार्थ अलग ढंग से सामने आते हैं। वस्तु के तौर पर व्यक्ति निजी सूचना को बेच या खरीद सकता है और उसका व्यापार भी कर सकता है। इसमें स्वेच्छा और दबाव दोनों काम करते हैं। इंटरनेट पर ऐसी बहुतेरी साइट हैं जो निजी सूचनाएँ हासिल करने के एवज में लोगों को पारिश्रमिक देने की पेशकश करती हैं। लेकिन निजी सूचनाओं और प्राइवैसी पर घात लगाये बैठे बेलगाम आक्रांताओं की यह छवि बहुत हद तक एकतरफा कही जाएगी। ज़्यादातर संस्थाएँ निजता के मूल्यों का सम्मान करती हैं और इस बात को लेकर सचेत रहती हैं कि निजी सूचनाओं के सीमांतों का अतिक्रमण करने से उनके बारे में एक नकारात्मक छवि बनती है। इसके अलावा जैसा कि इरविंग गॉफ़मेन जैसे समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन से स्पष्ट किया है, लोगबाग सामाजिक व्यवहार के तौर-तरीकों और प्रथाओं के ज़रिये भी एक दूसरे के सम्मान और प्राइवैसी का खयाल रखते हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, धर्म, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. सी. बेनेट और आर. ग्रांट (सम्पा.) (1999), *विजंस ऑफ़ प्राइवैसी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ टोरंटो प्रेस, टोरंटो.
2. ए. एलेन (2003), *एक्राउंटैबिलिटी फ़ॉर प्राइवेट लाइफ़*, रॉमैन एंड लिटिलफ़ील्ड, लैनहम, एमडी.
3. ई. एल्डरमैन और सी. कैनेडी (1995), *द राइट टू प्राइवैसी*, नॉप, न्यूयॉर्क.
4. ओ. गैडी (1993), *द पैनाप्टिक सोर्ट : अ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*

ऑफ़ पर्सनल इंफ़ॉर्मेशन, वेस्टव्यू प्रेस, बाउल्डर, सीओ.

— नरेश गोस्वामी

प्रारम्भिक इस्लाम

(Early Islam)

इस्लाम को आम तौर पर महज़ एक धर्म के रूप पेश किया जाता है। यह प्रस्तुतीकरण स्वाभाविक भी है और ऐतिहासिक रूप से जायज़ भी। मौजूदा आँकड़े यह साबित करने के लिए काफ़ी हैं कि विश्व में इस समय 23 फ़ीसदी मुसलमान आबादी है जो इस्लाम को धर्म के रूप में स्वीकार करती है। आधुनिक इतिहास भी इस्लाम को दुनिया के महानतम धर्मों में से एक बताता है। दिलचस्प बात यह है कि इस्लाम की इस सामान्य समझ को साबित करने के लिए यहूदी धर्म, ईसाइयत और इस्लाम के बीच की सैद्धांतिक एकरूपता, विशेषकर एक ईश्वर की मान्यता को अक्सर एक प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है। समाजशास्त्र के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से इस्लाम के इस प्रस्तुतीकरण पर दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं। पहला सवाल इस्लाम को धर्म बताने वाली सामान्य समझ की संरचना से जुड़ा है। विश्लेषण के नज़रिये से यह देखना लाज़मी है कि इस्लाम के स्थापित और निर्धारक तत्त्व क्या हैं? दूसरा प्रश्न इस्लाम को एक ऐतिहासिक परिघटना के रूप में समझने से संबंधित है। यह जानना भी ज़रूरी है कि मुहम्मद साहब के नेतृत्व में गुलामों और मज़लूमों का एक स्वतः उपजा आंदोलन कैसे एक व्यवस्थित धर्म में तब्दील हो गया! इन दोनों प्रश्नों के विश्लेषण के लिए इस्लाम के आरम्भिक इतिहास का अध्ययन प्रासंगिक हो जाता है।

यह बताया जाता है कि सातवीं सदी में मक्का शहर के लोग उस समय तक प्रचलित इस्माइली धर्म से भटक गये थे। ये लोग मूर्तिपूजक थे और बहुत से देवी-देवताओं को मानते थे। हर क़बीले का अपना देवता होता था। उल्लेखनीय बात यह है कि क़ाबा, जो बाद में इस्लाम का पवित्र स्थल बना, मक्का के सभी क़बीलों के लिए एक ख़ास मज़हबी दर्जा रखता था। विभिन्न क़बीलों के लोग क़ाबा के भीतर अपने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ रखते थे। हर साल मक्का में एक उत्सव होता था और लोग क़ाबा में सामूहिक पूजन करते थे।

हज़रत मुहम्मद (जिनके नाम के साथ 'सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम' लगाना इस्लामी मज़हबी नज़रिये से लाज़मी है), का जन्म 570 ई में मक्का के कुरेश क़बीले में हुआ। मुहम्मद बहुत छोटी उम्र में ही यतीम हो गये और

उनकी परवरिश उनके दादा ने की। मुहम्मद के जीवन के पहले 40 वर्षों के बारे में जानकारी सीमित है। परंतु इस्लाम-पूर्व स्रोत और हदीस साहित्य बताता है कि वे निहायत चरित्रवान व्यक्ति थे और उन्हें आदर की नज़र से देखा जाता था। उन्होंने एक विधवा महिला, जिनका नाम ख़ादीजा था, के यहाँ नौकरी कर ली। वे ख़ादीजा के व्यापार की देखभाल किया करते थे और व्यापार के सिलसिले में काफ़ी भ्रमण करते थे। कुछ वर्षों बाद उन्होंने ख़ादीजा से विवाह कर लिया।

सन् 613 में, जब मुहम्मद साहब की उम्र चासीस वर्ष थी, एक विचित्र घटना घटी। उन्हें इस बात का अहसास हुआ कि अल्लाह ने उन्हें नबी बना कर भेजा है और उनका काम लोगों को एक ईश्वर, अल्लाह की आराधना के लिए प्रेरित करना है। उन्होंने समानता और स्वतंत्रता के उसूलों को एक ईश्वरवाद के मूल से जोड़ कर इस बात कि तबलीग (प्रचार) शुरू की कि मर्द-औरत, गुलाम-मालिक अल्लाह के बनाये हुए हैं। इन सबका इनसानी दर्जा बराबर है। मुहम्मद साहब ने यह दावा किया कि जिब्रील नामक फ़रिश्ता उनके लिए अल्लाह के दिव्य संदेश लाता है।

अल्लाह के इन पैग़ामों को सभी को बताने के उद्देश्य से मुहम्मद ने अपने मत का प्रचार प्रारम्भ किया। उनके विचारों का जम कर विरोध हुआ। मक्का के प्रभुत्वशाली वर्ग ने मुहम्मद साहब और उनके मानने वालों को यातनाएँ देना शुरू कर दीं। यहाँ तक कि मुहम्मद साहब पर कई बार जानलेवा हमले भी हुए। इस आरम्भिक विरोध के दो परिणाम निकले। पहला, मुहम्मद की विचारधारा और उनके अनुयायी एक मत में परिवर्तित हो गये। इस मत को इस्लाम कहा गया और इसके मानने वाले मुसलमान कहे गये। दूसरा, मुहम्मद के बराबरी के संदेश ने तत्कालीन अरब के दमित, शोषित वर्गों को उनकी ओर आकृष्ट किया। यही कारण था कि मदीना के लोगों ने मुहम्मद साहब को मक्का छोड़ कर मदीना आने कि दावत दी। उन्होंने इस दावत को स्वीकार किया और 622 में अपने मानने वालों के साथ मक्का छोड़ दिया। इस घटना को हिजरत कहते हैं और यहाँ से इस्लामी कैलेंडर जिसे हिजरी कहा जाता है, का आरम्भ होता है।

मदीना में इस्लाम को मानने वालों कि संख्या में इजाफ़ा हुआ। मदीना के यहूदी और ईसाइयों के साथ मुसलमानों को मक्का जैसी दुश्वारियों का सामना नहीं करना पड़ा। इसका सीधा कारण यह था कि मुसलमान भी यहूदियों और ईसाइयों कि तरह एक ईश्वर की इबादत करते थे। हालाँकि तीनों धर्मों में आख़िरी नबी के प्रश्न पर स्वाभाविक विरोधाभास था। इन विरोधाभासों को दूर करने के लिए मुहम्मद साहब ने मदीना में एक नयी व्यवस्था क़ायम की। सभी धर्मावलम्बियों को धार्मिक आज़ादी दी गयी और

मुसलमानों को यह हिदायत दी गयी कि वे सब धर्मों के विश्वासों का आदर करें। इस व्यवस्था ने लोगों को इस्लाम की ओर आकर्षित किया और कुछ ही वर्षों में मुसलमान बेहद मज़बूत हो गये।

मुहम्मद साहब की मक्का वापसी इस्लाम के इतिहास की दूसरी सबसे अहम घटना है। 628 ईस्वी में मुसलमानों ने मक्का के शासकों को युद्ध में हरा कर और मुहम्मद साहब के नेतृत्व में स्थापित तत्कालीन इस्लामी राजनीतिक व्यवस्था का हिस्सा बना लिया। क़ाबा से तमाम मूर्तियाँ हटा दी गयीं और क़ाबा इस्लाम का सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल बन गया।

मक्का-विजय का एक उल्लेखनीय वाक़या यह है कि जब मुसलमानों ने युद्ध में फ़तेह हासिल कर ली और उनका लश्कर शहर में प्रवेश करने लगा, तब मुहम्मद साहब ने मुसलमानों को सर झुका कर शहर में दाखिल होने की हिदायत दी। मक्का पहुँच कर उन्होंने घोषणा की कि किसी पर कोई ज़बरदस्ती नहीं होगी और सब को शांति से रहने का अधिकार होगा।

मक्का फ़तेह के बाद भी मुहम्मद साहब मदीना में ही रहे। जहाँ एक ओर वे इस्लाम के सामाजिक/राजनीतिक प्रोजेक्ट को अमली जमा पहनाने में लगे थे वहीं दूसरी ओर वे मज़लूमों और मिसकीनों के शोषण के सवाल को लेकर चिंतित थे। मुहम्मद साहब के अंतिम वक्तव्य, और विशेषकर उनका अंतिम ख़ुतबा जो उन्होंने मक्का में सन् 632 में दिया, साबित करता है कि उनकी राजनीति का केंद्र बिंदु गुलाम, यतीम और औरतें थे। यह ख़ुतबा मुसलमानों को यह ताक़ीद करता है कि सब इनसान बराबर हैं, कोई किसी से न बड़ा है न छोटा; मज़लूमों, गुलामों और औरतों के ख़ास अधिकार हैं, जो इन अधिकारों को अवहेलना करे वह अल्लाह के मानने वालों में से नहीं हो सकता। इसी वर्ष यानी सन् 632 में मुहम्मद साहब का मदीना में इंतकाल हो गया।

इस समय तक इस्लाम एक आंदोलन से धर्म और धर्म से एक व्यवस्था में बदलना शुरू हो चुका था। शुरुआती दिनों में इस्लाम को मानने का अर्थ था एक अल्लाह में यक़ीन और मुहम्मद साहब को आख़िरी नबी स्वीकार करना। यही इस्लाम के पहले कालीमे 'ला इला हा इलाल्लाह मुहम्मद दूर रसूल अल्लाह' का अर्थ भी है। बाद के वर्षों में दिन में पाँच बार इबादत जिसे सलात (फ़ारसी में नमाज़) कहा जाता है, साल में रमजान के महीने में 30 दिन के रोज़े जीवन में एक बार हज़, अपनी आमदनी का एक हिस्सा (चालीसवाँ भाग) मज़लूमों और बेसहारों को देना, जिसे ज़कात कहते हैं, इस्लाम के बुनियादी आधार बन गये। इन्हें इस्लाम के पाँच स्तम्भ भी कहा जाता है। मुहम्मद साहब को मिलने वाले दिव्य संदेश (जिन्हें वही कहा जाता है) को इकट्ठा करने

का काम भी मुहम्मद की मृत्यु के बाद शुरू हुआ। इन्हीं संदेशों के व्यवस्थित स्वरूप को कुरान कहा जाता है। इसी तरह मुहम्मद और उनके साथियों (सहबा-ए-इकराम)के आपसी जीवन से जुड़ी घटनाओं के संकलन को हदीस कहा गया। आने वाले वर्षों में कुरान और हदीस इस्लामी क़ानून यानी शरिया की बुनियाद बने।

मुहम्मद साहब के निधन के फ़ौरन बाद उनके उत्तराधिकार का सवाल पैदा हुआ। चूँकि मुहम्मद साहब को पहले ही से आखिरी नबी माना जाने लगा था, इसलिए मसला किसी नये नबी की मान्यता का नहीं था। बल्कि यह था कि इस व्यवस्था का संचालक कौन हो। मुहम्मद साहब के सबसे नज़दीकी दोस्त अबू-बकर उनके पहले उत्तराधिकारी या ख़लीफ़ा बने। लेकिन यह चुनाव सर्वमान्य नहीं था और मुसलमानों के भीतर ही कई गुट बन चुके थे। एक गुट मुहम्मद साहब के चचेरे भाई, अली, को ख़लीफ़ा बनाना चाहता था। उतराधिकार के इन आपसी युद्धों के बीच उमर, उस्मान और अली ख़लीफ़ा बने। इस्लाम के इन पहले चार ख़लीफ़ाओं को खुलफ़ा-ए-राशिउन कहा जाता है। लेकिन इस सब के बावजूद इस्लाम एक राजनीतिक ताक़त के रूप में विकसित होता रहा और कुछ ही वर्षों में एशिया, अफ़्रीका और यहाँ तक की युरोप में भी इस्लामी हुकूमतें स्थापित हो गयीं।

देखें : अबू-अला मौदूदी, अबुल कलाम आज़ाद, आरक्षण और धर्म, इस्लाम, जवाहरलाल नेहरू, बांग्लादेश के लिए मुक्ति संग्राम, भारतीय इस्लाम, उपनिवेशवाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में स्त्री-नेतृत्व-1, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 और 2, मुसलिम राजनीतिक विचार, मुहम्मद इक़बाल, मुहम्मद अली जिन्ना, हज़रत मुहम्मद-1 और 2.

संदर्भ

1. जॉन इस्पोजिटो (2000), *ऑक्सफ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ इस्लाम*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. पी.एम. होल्ट और बर्नार्ड लेविस (1977), *केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इस्लाम*, खण्ड 1 और 2, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. बर्नार्ड लेविस (1993), *द अरब्स इन हिस्ट्री*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. एफ़. रहमान (1982), *इस्लाम ऐंड मॉडर्निटी : ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ ऐन इंटेलेक्चुअल ट्रेडिशन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

— हिलाल अहमद

प्राच्यवाद

(Orientalism)

समाज-विज्ञान की दुनिया में चर्चित होने से पहले ओरिएंटलिज़म यानी प्राच्यवाद का मतलब था पश्चिमी विश्व के लेखकों, डिज़ाइनरों और कलाकारों द्वारा पूर्वी देशों की संस्कृतियों का वर्णन और अध्ययन। उन्नीसवीं सदी के फ़्रांसीसी कलाकार उत्तरी अफ़्रीका और पश्चिमी एशिया की यात्राओं के दौरान ग्रहण किये गये प्रभावों को अपनी कलाकृतियों में इस्तेमाल करते थे। लॉर्ड बायरन ने 1812 में ओरिएंटल स्टडीज़ जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग किया था। लेकिन, 1978 में प्रकाशित एडवर्ड सईद की रचना *ओरिएंटलिज़म* ने प्राच्यवाद के इस निर्दोष प्रतीत होने वाले अर्थ को पूरी तरह बदल दिया। आज का समाज-विज्ञान प्राच्यवाद को उस विचारधारा की तरह देखता है जिसके तहत अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान खुद को केंद्र में रख कर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए पश्चिम द्वारा पूर्वी संस्कृतियों की स्थावर संरचना बनायी गयी थी। ज्ञान की बेहद परिष्कृत राजनीति के अंतर्गत युरोकेंद्रित पूर्वग्रहों का प्रयोग करके एशिया और मध्य-पूर्व की भ्रांत और रोमानी छवियाँ गढ़ी गयीं ताकि पश्चिम की औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को तर्क प्रदान किया जा सके। एडवर्ड सईद ने अपना यह विश्लेषण अरब और इस्लामी सभ्यताओं के संदर्भ में किया था। लेकिन, इसका प्रभाव वहीं तक सीमित नहीं रहा। आज सईद द्वारा प्रवर्तित प्राच्यवाद की अवधारणा का सकारात्मक उपयोग मानविकी के विभिन्न अनुशासनों (इतिहास लेखन, संस्कृति-अध्ययन, साहित्य-सिद्धांत) में काम करने वाले विद्वानों द्वारा युरोकेंद्रीयता का प्रतिरोध रचने और पूर्वी सभ्यता व विचार की स्वायत्त दावेदारियों के लिए किया जाता है। प्राच्यवाद का विमर्श उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत के आधारभूत प्रतिपादनों में से एक है। भारत का अध्ययन करने वाले ज्ञान प्रकाश, निकोलस डिक और रोनाल्ड इण्डेन जैसे समाज वैज्ञानिकों, और हामिद दुबोशी, होमी भाभा और गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक जैसे साहित्यशास्त्रियों पर भी ओरिएंटलिज़म की थीसिस का प्रभाव देखा जा सकता है।

प्राच्यवाद की आलोचना दावा करती है कि युरोपीय विद्वानों और अनुसंधानकर्ताओं ने अफ़्रीका, एशिया और मध्य-पूर्व का जो चित्रण किया है वह तथ्यों अथवा यथार्थ पर आधारित न हो कर कुछ पूर्व-निर्धारित रूढ़ियों पर टिका हुआ है। यह सभी पूर्वी समाजों को तर्कबुद्धि से वंचित, दुर्बल और स्त्रैण 'अन्य' के रूप में पेश करता है। उसके बरक्स

पश्चिम को बुद्धिसंगत, बलवान और पौरुषपूर्ण दिखाया जाता है। यह दुराग्रह पश्चिमी विद्वत्ता में इतना रच-बस गया है कि बहुत से पश्चिमी प्रेक्षक भी इसे नहीं देख पाते, और साम्राज्यवादी प्रभुत्व के तहत बहुत से पूर्वी विद्वानों ने भी इसे आत्मसात कर लिया है। इस प्रक्रिया में हुआ यह है कि पश्चिम सभ्यता का मानक बन गया है जिसमें 'एगजॉटिक' प्राच्य फ़िट नहीं हो सकता। इस प्रकार ऑक्सीडेंट (पश्चिम) अपने विपरीत ध्रुव की तरह ओरिएंट (पूर्व) को रचता है। कई उत्तर-औपनिवेशिक विद्वानों के अनुसार इसी प्रक्रिया में पश्चिम ने अधिकांशतः अपनी परिभाषा इस नकारात्मक दावे के माध्यम से ही की है कि वह उस 'अन्य' के विपरीत है जो कि पूर्व है। इस परियोजना के गर्भ से पश्चिम के मिथक ने जन्म लिया है जिसके आधार पर वह पूर्व पर थोपे गये अपने राजनीतिक-आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व को जायज ठहराता है।

समाज-विज्ञान को गहरायी से प्रभावित करने वाली प्राच्यवाद की यह अवधारणा तुलनात्मक साहित्य के औजारों से गढ़ी गयी है। इसके लिए फ़ूको द्वारा प्रवर्तित सत्ता और ज्ञान के अंतर्संबंधों के साथ-साथ एंटोनियो ग्राम्शी द्वारा विकसित वर्चस्व की अवधारणा का इस्तेमाल किया गया है। कोलम्बिया विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफ़ेसर के रूप में अंस्ट्रे रेनन (जिनकी रचनाओं पर नस्लवाद का प्रभाव माना जाता है) का अध्ययन करते समय सईद यूरोकेंद्रीयता के उद्गम की शिनाख्त करने में कामयाब रहे। उन्होंने देखा कि रेनन ने किस तरह प्राधिकार की परिभाषा बदल दी और दैवी समझे जाने वाले ग्रंथों के बजाय उसका आधार पश्चिम की श्रेष्ठता पर बल देने वाले भाषाशास्त्रीय तर्क में तलाशा। परिणामस्वरूप सामी भाषाओं और 'प्राच्य' का अवमूल्यन हुआ। यूरोकेंद्रीयता के स्रोतों की खोज करने के बाद सईद ने साबित किया कि प्राच्य दरअसल पश्चिमी विमर्श की गढ़त है और इस गढ़त का मक़सद है अरब और इस्लामिक दुनिया पर अपना प्रभुत्व न्यायसंगत सिद्ध करना। इसके लिए सईद ने ब्रिटिश, फ़्रांसीसी और अमेरिकी आधुनिक इतिहास द्वारा इस्लामिक विश्व के साथ किये गये सुलूक की जाँच-पड़ताल की। उन्होंने प्राचीन यूनानी दुखांत नाटक *द पर्शियंस* से लेकर मैकाले, रेनन और मार्क्स तक के उदाहरण दिये। उन्होंने गुस्ताव वॉन गुनबाउम और *केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इस्लाम* का सहारा लेकर दिखाया कि इस्लाम और पूर्व को किस तरह से विकृतियों और रूढ़ छवियों में गढ़ा गया है। सईद ने दिखाया कि प्राच्यवादी विचारधारा ने इस्लाम को ईसाइयत की विधर्मी प्रतिकृति करार दिया और पूर्व की स्त्रियों की यौनिकता को लुभावने रंगों में रँग डाला। इस्लाम को एक ऐसी विलक्षण एकात्मक परिघटना और संस्कृति के रूप में पेश किया गया जिसमें किसी तरह के

नवाचार की कोई गुंजाइश नहीं थी। सईद द्वारा प्रवर्तित प्राच्यवाद की आलोचना यह भी कहती है कि पश्चिम का यह विमर्श उन्नीसवीं सदी के साथ खत्म नहीं हुआ और आज भी जारी है। तीसरी दुनिया के देशों के बारे में पश्चिम की समझ इसी आधार पर गढ़ी गयी है।

प्राच्यवाद के सिद्धांत को कड़ी आलोचना का सामना भी करना पड़ा है। ख़ास तौर से खुद को प्राच्यवादी कहने वाले विद्वानों ने तर्क दिया कि समग्र प्राच्यवादी बौद्धिकता को एक ही खाने में रख कर सईद ने ग़लती की है। दरअसल, इसमें दो तरह की प्रक्रियाएँ हैं। एक वास्तविक और सकारात्मक प्राच्यवाद है जिसकी नुमाइंदगी सर विलियम जॉंस, सेमुअल जानसन, विलियम बेकफ़र्ड और लॉर्ड बायरन जैसे लोग करते हैं। यह प्राच्यवाद मानवतावाद से उपजा है, न कि साम्राज्यवाद से। इसने धार्मिक जड़सूत्रवाद को ख़ारिज करते हुए इस्लाम का अध्ययन किया है जिससे वैकल्पिक संस्कृतियों की खोज का रास्ता खुला है। प्राच्यवाद की दूसरी प्रवृत्ति धार्मिक और राजनीतिक मक़सदों से किये गये भ्रांत और प्रचारात्मक साहित्य की है।

इतिहासकार बर्नार्ड लेविस के मुताबिक सईद ने ज्ञानोदय और विक्टोरियाई दौर में पश्चिमी विद्वानों द्वारा किये गये पूर्व की संस्कृतियों के कई बेहतरीन अध्ययनों को नज़रअंदाज़ किया है। उनकी व्याख्या यह नहीं बताती कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में फ़्रांसीसी और ब्रिटिश अध्येताओं द्वारा इस्लाम का अध्ययन क्यों किया गया था, जबकि उस समय तो दूर-दूर तक मध्य-पूर्व पर उनके साम्राज्यवाद की कोई सम्भावना नहीं दिख रही थी। इसी तरह सईद इतालवी, डच और जर्मन विद्वानों के ज़बरदस्त योगदान पर भी ध्यान नहीं देते, जबकि इस बौद्धिक परियोजना के साथ किसी भी तरह का साम्राज्यवादी इरादा नहीं जुड़ा हुआ था।

सईद के समर्थकों का जवाबी तर्क है कि ये आलोचनाएँ सही होते हुए भी प्राच्यवाद की बुनियादी थीसिस को ख़ारिज नहीं करतीं। पश्चिमी मीडिया, साहित्य और फ़िल्मों में उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के दौरान हुआ पूर्व का निरूपण इसका प्रमाण है। *ओरिएंटलिज़म* के एक परवर्ती संस्करण में सईद ने यह तो स्वीकार कर लिया कि जर्मन विद्वत्ता उनकी थीसिस के दायरे से बाहर रह गयी, लेकिन प्राच्यवाद की उनकी समझ का दूसरा चरण 1993 में प्रकाशित रचना *क्लचर ऐंड इम्पीरियलिज़म* के साथ सामने आया। उन्होंने तर्क दिया कि बीसवीं सदी का इलेक्ट्रॉनिक और उत्तर-आधुनिक अमेरिका अरबों और इस्लाम के अमानवीय बिम्बों को पुष्ट करता है। अपने विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए वे अफ़्रीका, भारत और सुदूर पूर्व तक गये और साम्राज्यवादी

सांस्कृतिक परियोजना के दायरे में जोसेफ़ कोनराड, जेन आस्टिन और अल्बैर कामू जैसे रचनाकारों को भी समेट लिया।

देखें : उत्तर-औपनिवेशिकता, एडवर्ड विलियम सर्ईद, एंतोनियो ग्राम्शी, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, प्राधिकार, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, रणजीत गुहा, वर्चस्व, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद।

संदर्भ

1. एडवर्ड सर्ईद (1979), *ओरिएंटलिज्म*, न्यूयॉर्क, विंटेज.
2. एडवर्ड सर्ईद (1993), *क्लचर ऐंड इम्पीरियलिज्म*, न्यूयॉर्क, विंटेज.
3. बर्नार्ड लेविस (1993), *इस्लाम ऐंड द वेस्ट*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.
4. जे.एम. मेकेंजी (1995), *ओरिएंटलिज्म : हिस्ट्री, थियरी ऐंड आर्ट्स*, मेंचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मेंचेस्टर.
5. रोनाल्ड इंडेन (1986), 'ओरिएंटलिस्ट कंस्ट्रक्शंस ऑफ़ इण्डिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, खण्ड 20, अंक 3.

— अभय कुमार दुबे

प्रेम

(Love)

प्रेम मानवीय जीवन का एक आधारभूत मनोभाव है। लेकिन, प्रेम के विषय में विस्तृत और गहन विचार-विमर्श करने के बाद समाज-वैज्ञानिकों ने नतीजा निकाला है कि इसकी कोई एक सार्वभौम परिभाषा देना मुश्किल है। एक से अधिक संस्कृतियों में निजी धरातल पर प्रेम की अनुभूति कमोबेश एक सी हो सकती है, लेकिन सामाजिक संरचना पर उसके प्रभाव का सवाल उठते ही अनुभूति और व्यवहार का समीकरण बहुत पेचीदा हो जाता है। विभिन्न समाजों के विकास की गति अलग-अलग होने के कारण उनमें प्रचलित प्रेम के प्रमुख और गौड़ रूप एक से नहीं होते। उपन्यासकार, कवि, नाटककार और संगीतकार प्रेम की सार्वभौम महिमा गाते हैं। उनकी दृष्टि प्रेम के रोमानी, सेक्शुअल, आत्मनिष्ठ और तर्कातीत पहलुओं पर अधिक होती है। लेकिन सामाजिक दृष्टि से देखने पर प्रेम अपनी आत्मनिष्ठता के बावजूद वस्तुनिष्ठ संरचनाओं से अप्रभावित नहीं होता। समाज में प्रेम संबंधी निर्णय उत्पादन संबंधों, सत्ता संबंधों, जातिगत और वर्गगत संरचनाओं, अर्थव्यवस्था और बाज़ार के विकास के स्तरों और लैंगिक संबंधों की स्थिति के आधार

पर लिए जाते हैं। रचनात्मक साहित्य में प्रेम की विद्रोही प्रकृति के दृष्टांतों की काफ़ी चर्चा मिलती है, लेकिन अध्येताओं ने यह भी पता लगाया है कि प्रेम सामाजिक समझौते और परम्परानिष्ठता की प्रवृत्तियों को पुष्ट करने की भूमिका भी निभाता है। हालाँकि प्रेम के विद्वत्तापूर्ण अध्ययनों पर पश्चिमी परिप्रेक्ष्य ही छाया हुआ है, लेकिन इससे संबंधित सिद्धांतीकरण के आईने में अन्य संस्कृतियों में प्रेम से जुड़ी व्यवहार-शैलियों और संहिताओं को समझा जा सकता है।

समाज-विज्ञानों के उभार से पहले प्रेम जैसे विषय पर केवल दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में ही चर्चा होती थी। लेकिन, प्रेम का आधुनिक विमर्श उसकी क्रिस्मों का वर्गीकरण करके उसे वस्तुगत रूप से समझने की कोशिश करता है। वर्गीकरण का एक तरीका प्रेम को छह श्रेणियों में बाँटता है जिनका नामकरण प्राचीन यूनानी दर्शन से लिए गये पदों के आधार पर किया गया है। पहली श्रेणी है इरोज़ की जो काम का यूनानी देवता है। जाहिर है कि इरोज़ के नाम से जो प्रेम है उसमें दैहिकता की प्रधानता है इसलिए इसे ऐंद्रिक प्रेम कहा जा सकता है। इसके तहत प्रेमी या प्रेमिका की शारीरिक छवि और उपस्थिति निर्णायक बन जाती है। पहली नज़र में बिना किसी तार्किक आधार पर हो जाने वाला यह प्रेम बड़ी आह्लादकारी अनुभूति देता है। लेकिन इस क्रिस्म का प्रेम जितनी तेज़ी से होता है, उतनी ही तेज़ी से इसका अवसान भी हो सकता है। खत्म हो जाने पर प्रेम करने वाले अक्सर चकित हो सोचते हैं कि आखिर उन्होंने अपने प्रेमी/प्रेमिका में क्या देखा था? प्रेम का दूसरा रूप मैनिया के नाम से जाना जाता है। इरोज़ अगर प्रेम की प्रसन्न अवस्था है तो मैनिया उसका अशुभ पक्ष है। इसे हम उन्मादी प्रेम कह सकते हैं जिसके तहत व्यक्ति अपने प्रेमी/प्रेमिका के पीछे दीवाना हो कर पड़ जाता है। उत्कट ईर्ष्या की प्रधानता प्रेमी या प्रेमिका पर पूरी तरह से कब्ज़ा करने की इच्छा रखने वाला यह प्रेम हिंसक भी हो सकता है। एकतरफ़ा होने पर इसके दुष्परिणाम घोर अपराधी कृत्यों में भी निकल सकते हैं। इरोज़ और मैनिया के विपरीत तीसरी क्रिस्म स्टोर्ज की है जिसका विकास शांतिपूर्ण तरीके से क्रमशः लम्बे समय में होता है। स्नेहपूर्ण प्रेम की यह श्रेणी कुछ ऐसी है जिसमें प्रेम-संबंध खत्म होने के बावजूद दोनों पक्षों में मैत्री बनी रहती है। इस प्रकार के प्रेम का उद्देश्य होता है परस्पर संतोषजनक दीर्घकालीन रिश्तों की उपलब्धि, भले ही इसमें ऐंद्रिक सघनता का अभाव हो। प्रेम की दो अन्य श्रेणियाँ हैं एगैप यानी परोपकार-प्रधान प्रेम और प्रैग्मा यानी व्यावहारिक और परिणामवादी प्रेम। परोपकारी प्रेम बदले में कुछ नहीं चाहता और प्रेमी को ज़्यादा से ज़्यादा देना चाहता है। परिणामवादी प्रेम अपने साथी की ख़ूबी या सामाजिक-आर्थिक उपलब्धि पर फ़िदा हो जाता है। अगर किसी के व्यक्तित्व में सुरक्षा देने,



एंथनी गिडेंस (द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ इंटीमैसी)

माता-पिता बनने या सेवा करने की भावना अधिक झलकती है तो इसलिए उसे पसंद किया जा सकता है। अमीरी, कुलीनता या ऊँचे पद पर होना भी इन खूबियों में आता है। इस वर्गीकरण में प्रेम की एक निहायत क्षणभंगुर श्रेणी भी शामिल है जिसे लुडुस का नाम दिया गया है। किसी को पटाना, फुसलाना, सेक्शुअल मक्रसद के लिए झूठ बोलना और मक्रसद पूरा हो जाने के बाद फटाफट अलग हो जाना इसी तरह के प्रेम से जुड़ी गतिविधियाँ हैं।

इन छह श्रेणियों के सूत्रीकरण से पहले आम तौर पर प्रेम को दो व्यापक श्रेणियों में बाँट कर देखा जाता था। इनमें पहली श्रेणी है रोमानी प्रेम की जिसकी ज़मीन भावपूर्ण, कामनाप्रधान और तर्कातीत होती है। ऐंद्रिक प्रेम और उन्मादी प्रेम दरअसल रोमानी प्रेम के तहत आते हैं। दूसरी है सहचर-उन्मुख प्रेम जो अधिक सचेत माना जाता है और जिसकी समझ अपेक्षाकृत समझ-बूझ कर अपना साथी चुनने के संदर्भ में बनती है। परोपकारोन्मुख प्रेम, मैत्रीपूर्ण प्रेम और परिणामवादी प्रेम इसी श्रेणी की सम्मिलित अभिव्यक्ति है। प्रेम के इस श्रेणी-विभाजन का मतलब यह कतई नहीं है कि प्रेमी-प्रेमिका हमेशा-हमेशा के लिए एक ही श्रेणी के हो कर रह जाते हैं। उनकी भावनाएँ वक्रत के साथ बदलती रह सकती हैं। मसलन, एक का संबंध ऐंद्रिकता से शुरू हो कर मैत्रीपूर्ण या परोपकार-प्रधान प्रेम में विकसित हो सकता है। दूसरी तरफ़ एक व्यक्ति किन्हीं दो व्यक्तियों से अलग-अलग क्रिस्म का प्रेम कर सकता है। एक के प्रति वह उन्मादी प्रेम में लिप्त

हो सकता है, तो दूसरे के प्रति उसकी भावनाएँ परिणामवादी हो सकती हैं।

प्रेम की समझ हासिल करने के मामले में मनोविश्लेषण ने समाज-विज्ञान की काफ़ी मदद की है। मनोविज्ञान के महारथी कार्ल युंग और उनके साथियों की मान्यता है कि रोमानी प्रेम किसी व्यक्ति के प्रति अचानक पैदा हुए अचेत आकर्षण से उपजता है। युंग के मुताबिक़ इनसान की शिख्रियत में एक अचेत हिस्सा होता है और एक जागरूक। आम तौर पर पुरुष के भीतर अचेत हिस्सा स्त्री-लिंग की और स्त्री के भीतर पुरुष-लिंग की नुमाइंदगी करता है। युंग की इस थियरी के मुताबिक़ व्यक्ति जब किसी के प्रति अचानक आकर्षण महसूस करता है तो वह अपनी ही चेतना के उस हिस्से से प्रेम कर रहा होता है जिसके बारे में उसे पता नहीं है और जो उसके भीतर मौजूद भिन्न जेंडर का प्रतिनिधित्व कर रहा है। युंग का यह भी कहना था कि व्यक्ति के इस अवचेतन की चालक-शक्ति अक्सर उसे जन्म देने वालों में से विपरीत लिंग से मिलती है। यानी पुरुष का यह अवचेतन उसकी माँ से प्रभावित होगा, और स्त्री का अवचेतन उसके पिता से। इसीलिए व्यक्ति अक्सर अपनी स्वैरकल्पना में अपने प्रेमी/प्रेमिका की वही छवि पालता है जो उसके अवचेतन में मौजूद होती है। हालाँकि युंग की यह थियरी सीधे-सीधे प्रमाणित नहीं की जा सकती, पर कई अनौपचारिक प्रेक्षणों में देखा गया है कि लोग ऐसे व्यक्तियों के प्रति आकर्षित होते हैं जो उनके माँ-बाप से मिलते-जुलते हों।

प्रेम के लैंगिक आयामों की भी जाँच की गयी है। आम तौर पर समझा जाता है कि स्त्रियाँ पुरुषों के मुक्राबले ज़्यादा रोमांटिक होती हैं, जबकि पुरुष न केवल सोच-समझ कर प्रेम में पड़ता है बल्कि उसके पीछे स्त्री का यौन-दोहन करने की मंशा भी होती है। लेकिन यह धारणा अनुसंधानों पर खरी नहीं उतरती। पता यह चला है कि पुरुष स्त्री के मुक्राबले ज़्यादा जल्दी इशक़ में गिरपतार होते हैं, प्रेम करने से पहले वे कम सोचते-समझते हैं और रिश्ता टूटने पर उन्हें पहुँचने वाली जज़्बाती तकलीफ़ अधिक गहरी होती है। अनुसंधान यह भी बताता है कि स्त्रियाँ पुरुष के मुक्राबले ऐंद्रिक या उन्मादी प्रेम में कम पड़ती हैं। उनकी प्राथमिकता मैत्रीपूर्ण या परिणामवादी प्रेम की तरफ़ झुकती है। इसकी वजह यह है कि प्रेम में विफल होने पर स्त्री को सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से अधिक हानि उठानी पड़ सकती है।

एंथनी गिडेंस ने उत्तर-आधुनिक युग के लिए रोमानी प्रेम के बरक्स संगमी प्रेम की अवधारणा प्रतिपादित की है। गिडेंस कहते हैं कि रोमानी प्रेम लैंगिक लोकतंत्र की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। स्त्री-पुरुष जब प्रेम में पड़ते हैं तो उस समय रोमानी प्रेम के तहत दोनों एक-दूसरे में समा जाना

चाहते हैं। अपने साथी के लिए उन्हें अपने अहं का त्याग करने में भी कोई हिचक नहीं होती। उस समय ऐसा लगता है कि वे एक जन्म के नहीं बल्कि जन्म-जन्म के हमजोली हैं। लेकिन यह समतामूलक स्थिति तभी तक क्रायम रहती है जब तक प्रेम विवाह में नहीं बदलता। विवाह होते ही समाज द्वारा निर्धारित जेंडर-भूमिकाएँ हस्तक्षेप करती हैं और स्त्री-पुरुष के बीच की स्थापित तरतमता उस रिश्ते पर क्राबिज हो जाती है। इश्क का बुखार उतर जाता है और असलियत में स्त्री को अपना करियर, अपनी महत्वाकांक्षाएँ और अपनी पहचान तक पुरुष के लिए समर्पित करनी पड़ जाती है। गिडेंस का कहना है कि इन्हीं कमियों की वजह से नयी सदी की स्त्रियाँ रोमानी प्रेम के बजाय संगमी प्रेम पर अधिक भरोसा करने की तरफ बढ़ रही हैं।

संगमी प्रेम (कॉनफ्लुएंट लव) के आधार में भी स्त्री और पुरुष की परस्पर पसंद मौजूद है, लेकिन प्रेम की यह समझौता वार्ता उन दो नदियों की तरह काम करती है जो साथ-साथ बहती हैं, एक खास मुकाम पर एक-दूसरे के साथ संगम करती हैं और फिर अपनी-अपनी शिखर पर क्रायम रहते हुए अपने-अपने रास्ते बहती चली जाती हैं। रोमानी प्रेम की तरह संगमी प्रेम दो शिखरों के एक-दूसरे में स्थायी रूप से समा जाने का नाम नहीं है। इसके तहत दोनों पक्ष अपना-अपना व्यक्तित्व और अहं क्रायम रखते हुए एक-दूसरे के लिए उतने ही खुलते हैं, जितनी आवश्यकता होती है। सेल्फ डिस्कलोजिंग इंडीमेसी यानी स्व-घोषित अंतरंगता और समानता पर आधारित संगमी प्रेम रोमानी के मुकाबले कहीं अधिक योजनाबद्ध, तर्कआधारित, लोकतांत्रिक, मैत्रीपूर्ण और परिणामवादी है। यह पुरुष और स्त्री को बराबर के मौक्रे देता है, लेकिन रोमानी प्रेम के मुकाबले स्त्री को अधिक मौक्रे देता है। गिडेंस ने संगमी प्रेम के तहत विकसित होने वाली सेक्शुअलिटी को प्लास्टिक करार दिया है। यहाँ प्लास्टिक से उनका मतलब कृत्रिम न हो कर सेक्शुअलिटी की परिवर्तनशील प्रकृति से है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. सूजन एस. हैंड्रिक और क्लायड हैंड्रिक (1992), *रोमांटिक लव*, सेज, न्यूबरी पार्क, कैलिफ़.
2. जे.ए. ली (1977), *कलर्स ऑफ लव : ऐन एक्सप्लोरेशन ऑफ वे ऑफ लविंग*, न्यू प्रेस, डॉन मिल्स, ओंटारियो.
2. जे.ए. ली (1988), 'लव स्टायल्स', रॉबर्ट जे. स्टेनबर्ग और एम.एल.बार्न्स (सम्पा.), *द साइकोलॉजी ऑफ लव*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन, कनेक्टिकट.
3. रॉबर्ट जे. स्टेनबर्ग, (1998) *क्यूपिड्स एरो : द कोर्स ऑफ लव थ्रू टाइम्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज और न्यूयॉर्क.
4. एंथनी गिडेंस (1992), *द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ इंडीमेसी*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
5. जिग्मंट बाउमैन (2003), *लिक्विड लव : ऑन द फ्रेल्टी ऑफ ह्यूमैन बॉंड*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन

(Love-Studies and Feminist Philosophy)

नब्बे के दशक से पहले समाज-विज्ञान और मानविकी में प्रेम-अध्ययन या लव-स्टडीज़ का कोई खास वजूद नहीं था। समाजशास्त्री विवाह की संस्था पर तरह-तरह से विचार करते थे। दार्शनिकों के बीच ईश्वर से प्रेम, मनुष्य मात्र से प्रेम, प्रेम और मैत्री, मातृ-प्रेम, भाई-बहिन के प्रेम जैसे विषयों पर गहन चर्चाएँ होती रहती थीं। प्रेम पर विचार करने की प्रक्रिया कुछ थी ही ऐसी कि उसके तहत प्रेम के विचार को प्रतिबद्धता, आदर, विश्वास, देखभाल और मैत्री जैसे भावानुवादों से गुज़रना ही पड़ता था। लेकिन अब यह स्थिति तेज़ी से बदल रही है। प्रेम के विचार पर एक नया विमर्श विकसित होने लगा है जो बिना किसी भावात्मक बैसाखी के इस अवधारणा की जाँच-पड़ताल करने में दिलचस्पी रखता है। लव-स्टडीज़ की दुनिया बहु-अनुशासनीय है। उसमें समाजशास्त्री, इतिहासकार, दार्शनिक, मनोविद् और धर्मशास्त्री तो शामिल हैं ही, स्नायु-वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों और प्रबंधन की दुनिया के सिद्धांतकारों ने भी इसमें अपना योगदान किया है। नारीवादी सिद्धांतकारों और जेंडर स्टडीज़ के विद्वानों और विदुषियों ने भी लव-स्टडीज़ को विकसित करने में प्रमुख भूमिका निभायी है। पिछले पंद्रह साल में ग्लोबल पैमाने पर इस तरह के विमर्शकारों के नेटवर्क बन

गये हैं। कई अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए हैं जिन्होंने प्रेम और सामाजिक-आर्थिक राजनीति की शकल-सूरत उकेरने की कोशिश की है। 2006 में फ्रांचेस्का ओरसिनी द्वारा सम्पादित पुस्तक *लव इन साउथ एशिया* के प्रकाशन ने लव-स्टडीज़ के भारतीय अध्याय का उद्घाटन किया है।

पवित्र प्रेम बनाम सेक्शुअल प्रेम : आज के ज़माने में रोमानी प्रेम और सेक्शुअलिटी जिस तरह से एकाकार लगते हैं, वैसी प्रतीति उन्नीसवीं सदी में सम्भव नहीं थी। हालाँकि आधुनिकता ने अन्य क्षेत्रों में व्यक्ति की सत्ता का आगाज़ अट्टारहवीं सदी में ही कर दिया था, पर अंतरंग संबंधों के धरातल पर आधुनिकता का पदार्पण थोड़ी देर से ही हुआ। उन्नीसवीं सदी सेक्स से डरने वाली सदी थी। उसके लिए सेक्स एक ऐसी ऐंद्रिकता का पर्याय था जिसके कारण वैवाहिक संबंधों में निहित आध्यात्मिकता नष्ट हो सकती थी। विवाह के आध्यात्मिक सारतत्त्व को बचाने के ही लिए इस सदी में प्रेम का विमर्श कुछ इस तरह से चलाया गया कि प्रेम और सेक्स एक-दूसरे से अलग-अलग हो गये। प्रेम को पूरी तरह से सेक्सविहीन करने की कोशिश की गयी। नतीजा यह निकला कि सेक्स का एकट एक तरह की यांत्रिकता का शिकार हो गया जिसके गर्भ से पोर्नोग्राफी ने जन्म लिया। यह विक्टोरियाई नैतिकता के पैरोकारों की कारिस्तानी थी जिसे अंग्रेज़ अपने साथ भारत लाये और जिसके चश्मे से देखने पर उन्हें भारतवासी यौनस्वच्छंदता की गिरफ्त में फँसे हुए लगे। इस विक्टोरियाई नैतिकता का गहरा असर भारतीय मानस पर पड़ा। इसीलिए प्रेम की पवित्रता का विचार आज तक हमारी नैतिकता पर हावी है। यहाँ तक कि स्त्री और पुरुष के फ्री-यूनियन में विश्वास करने वाले फ्रेड्रिख एंगेल्स के अनुयायियों का मार्क्सवाद प्रेम और सेक्शुअलिटी पर विचार करने से आज तक कतरा रहा है।

बहरहाल, उन्नीसवीं सदी में व्याप्त सेक्स और प्रेम का शत्रुतापूर्ण संबंध बीसवीं सदी में आधुनिकता के विकसित होते हुए दबावों को नहीं झेल पाया। नयी सदी ने सेक्सविहीन प्रेम पर टिकी हुई और केवल प्रजनन के उद्देश्य से यौनक्रिया करने की वकालत करने वाली विवाह की संस्था को सेक्शुअल मैरिज में बदल दिया। स्त्री-पुरुष के बीच रिश्ते की दीर्घकालीन सफलता के लिए ज़रूरी समझा जाने लगा कि वे एक-दूसरे में यौनाकर्षण महसूस करें। आनंद देने और प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रेम की परिभाषा का अंग बन गयी। यौन संतुष्टि को एक सफल विवाह की आवश्यक शर्त का दर्जा मिला। विमर्श में हुए इस परिवर्तन ने रोमानी प्रेम की अवधारणा को आधुनिक मनुष्य के जीवन में सर्वोच्चता प्रदान कर दी।

नारीवाद की दार्शनिक आवाज़ : जिस समय बीसवीं सदी में रोमानी प्रेम का डंका अपने चरम पर बज रहा था,

नारीवाद ने अपने आलोचनात्मक प्रहार से उसके ऊपर सवालिया निशान लगाने की शुरुआत की। सत्तर और अस्सी के दशक के रैडिकल नारीवादियों ने प्रेम की आधुनिक अवधारणा को जम कर प्रश्नांकित किया। टाइ-ग्रेस एत्किम्पन ने प्रेम उत्पीड़क (पुरुष) के प्रति उत्पीड़ित (स्त्री) की अनुक्रिया करार दे कर सभी को चौंका दिया। एत्किम्पन और सुलामिथ फ़ायरस्टोन ने दावा किया कि प्रेम के विचार का इस्तेमाल स्त्री के उत्पीड़न के लिए होता रहा है। उन्होंने प्रेम के इतिहास को उस ईसाई अवधारणा में चिह्नित किया जिसमें माना जाता था कि प्रेम का सम्पूर्ण उदाहरण तो वही हो सकता है जिसके तहत किसी के प्रेम में खुद को पूरी तरह से कुर्बान कर देने की हद तक जाया जा सकता है। प्रेम के इसी ईसाई तात्पर्य के कारण रोमांटिक लव में कष्ट भोग कर प्रेम की सम्पूर्णता उपलब्ध करने का आग्रह उभरा था। सच्चा प्रेम सम्भव ही नहीं माना जाता जब तक उसमें कष्टभोगी होने का घटक शामिल न हो। एत्किम्पन ने प्रेम के बजाय मैत्री को प्रमुखता दी और कहा कि प्रेम एकतरफ़ा हो सकता है लेकिन मित्रता में दोनों पक्ष सक्रिय होते हैं, अन्योन्यक्रिया करते हैं और उसके प्रति दोनों को ही उत्तरदायित्व महसूस होता है।

दिलचस्प बात यह है कि रैडिकल नारीवादियों द्वारा प्रेम के बजाय मैत्री पर बल देने का विचार कोई नयी बात नहीं थी। बीसवीं सदी से बहुत पहले दर्शन के क्षेत्र में इमैनुएल कांट नीतिशास्त्र और राजनीति के संदर्भ में यह बात बहुत पहले कह चुके थे। विमर्श के क्षेत्र में रैडिकल नारीवाद की आभा जैसे ही मंद पड़ी, फ्रांसीसी नारीवाद की प्रमुख हस्ताक्षर और दार्शनिक ल्यूस इरिगरे के हस्तक्षेप ने प्रेम और नारीवाद के वैचारिक संबंधों को तक्ररीबन पूरी तरह से बदल डाला। कांट ने प्रेम को एक कर्त्तव्य के रूप में पेश किया था। इस मामले में वे देकार्त द्वारा प्रवर्तित नीतिशास्त्र के अनुयायी थे। देकार्त की किताब में प्रेम के कुछ रूप ही नैतिक रूप से स्वीकार योग्य थे। मसलन, माता-पिता और उनकी संतान का प्रेम देकार्त की निगाह में शुद्धतम था। कुल मिला कर देकार्त और कांट की मान्यता थी कि ऐंद्रिक प्रेम तो नैतिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसमें स्वाभाविक रूप से स्थायित्व का अभाव होता है।

देकार्त के साथ-साथ स्पिनोज़ा, हीगेल, फ़ॉयड और लेविनास द्वारा स्थापित पश्चिमी दर्शन की इस स्थापित नीतिशास्त्रीय परम्परा के मुकाबले इरिगरे ने प्रेम को एक मनोभाव की तरह व्याख्यायित किया। कांट ने प्रेम को परोपकार और दूसरे के प्रति सरोकार की सीमाओं में बाँध दिया था, पर इरिगरे ने उसे दोनों सिरों पर खुला रखने का आग्रह किया। कांट ने रोमानी प्रेम का तिरस्कार करके एक तरह के डि-सेक्शुअलाइज़ लव की रूपरेखा तैयार की थी, लेकिन इरिगरे ने प्रेम और श्रृंगारिकता या ऐंद्रिकता को एक-

दूसरे से अलग करने से इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि सच्चा प्रेम परवान चढ़ ही नहीं सकता अगर उसके साथ ऐंद्रिकता न जुड़ी हो। इरिगरे के प्रेम-विमर्श की एक और खास बात थी कि उन्होंने स्व-प्रेम की धारणा को रेखांकित किया, जबकि कांट प्रेम के इस रूप को मानवीय अस्तित्व के लिए अनावश्यक मानते थे। अपनी विख्यात रचना *शुद्ध बुद्धि की समीक्षा* में कांट ने यहाँ तक कहा कि स्व-प्रेम तो सीधे-सीधे नैतिकता का विरोधी होता है। इसके उलट इरिगरे स्व-प्रेम के अभाव को एक नैतिक समस्या के तौर पर देखती हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि स्त्री अगर खुद को प्रेम नहीं कर सकती तो वह पुरुष के प्रति कामना या प्रेम का एहसास भी नहीं कर पाएगी। वे फ्राँयड की इस हिदायत का भी खण्डन करती हैं कि स्त्री अगर पुरुष से प्रेम करना चाहती है तो उसे खुद से प्रेम को तिलांजलि देनी होगी। फ्राँयड के कथन का एक मतलब यह भी निकलता है कि स्त्री पुरुष से प्रेम करके उस अभाव की भरपाई कर सकती है जो उसे स्व-प्रेम छोड़ देने से सतायेगा। इसके जवाब में इरिगरे कहती हैं कि स्त्री को प्रेम करने के लिए पुरुष की वापसी का इंतज़ार करने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। चूँकि वह स्वायत्त और स्वतंत्र कर्ता है इसलिए उसकी इयत्ता या उसका आत्म उससे अलग भी है और उसमें समाहित भी। वे बच्चे से इसलिए प्रेम करती हैं क्योंकि वह खुद भी कभी बचपन के दौर से गुज़री है। बच्चे को प्रेम करने के लिए उसे स्व-प्रेम को तिलांजलि देने की आवश्यकता नहीं है।

प्रेम की व्याख्या के इसी मुकाम पर इरिगरे तर्क देती हैं कि स्व-प्रेम ही प्रेम की द्विपक्षीयता की कुंजी है। लेकिन इस द्विपक्षीयता को एक-दूसरे में खो कर इकाई बनने के आग्रह की वे सिफ़ारिश नहीं करतीं। दोनों पक्षों को एक-दूसरे से प्रेम करते हुए अपने स्वतंत्र अस्तित्व को क्रायम रखना ही होगा। इरिगरे के मुताबिक़ दो लोग प्रेम के प्रभाव में एक-दूसरे की तरफ़ खिंचते हैं, लेकिन उसी समय परस्पर फ़ासला भी क्रायम रखते हैं। इसीलिए 'आई लव यू' उचित सम्बोधन नहीं है, बल्कि प्रेम की सही अभिव्यक्ति है 'आई लव टु यू'। प्रेम करने वालों को पता हो ना चाहिए कि अलग कैसे हुआ जाता है और फिर साथ-साथ कैसे आया जाता है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम,

सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. कर्ट फ्रे और माज़ाद रोज़ाट, 'आर लव स्टायल रिलेटिड टु सेक्शुअल स्टायल्स?', *द जर्नल ऑफ़ सेक्स रिसर्च*, खण्ड 35, अंक 3, अगस्त 1998, पृष्ठ 265-271
2. मार्गरीटा ल केज़, 'लव, दैट इंडिस्पेंसेबिल सप्लीमेंट : इरिगरेएंडकांट ऑन लव ऐंड रिस्पेक्ट', *हायपैटिया*, खण्ड 20, अंक 3, पृष्ठ 92-114
3. ल्यूस इरिगरे, *द वेज़ ऑफ़ लव*, अनु. हाइदी बोस्टन और स्टीफ़न प्लूसेक, कंटीनुमस, लंदन, 2002
4. मीना खण्डेलवाल, 'अरेंजिंग लव : इंटैरोगेटिंग द वैंटेज पाईट इन द क्रॉस बॉर्डर फेमिनिज़म', *साइंस*, खण्ड 34, अंक 3,
5. कैरल ऐन डगलस, 'लव ऐंड फेमिनिज़म : शी इज़ नॉट व्हाट यू बारगेंड फॉर', *ऑफ़ अवर बैक्स*, खण्ड 8, अंक 2, फ़रवरी, 1978, पृष्ठ 14-15
6. फ्रांचेस्का ओरसिनी, *लव इन साउथ एशिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2006

— अभय कुमार दुबे

प्रेमचंद

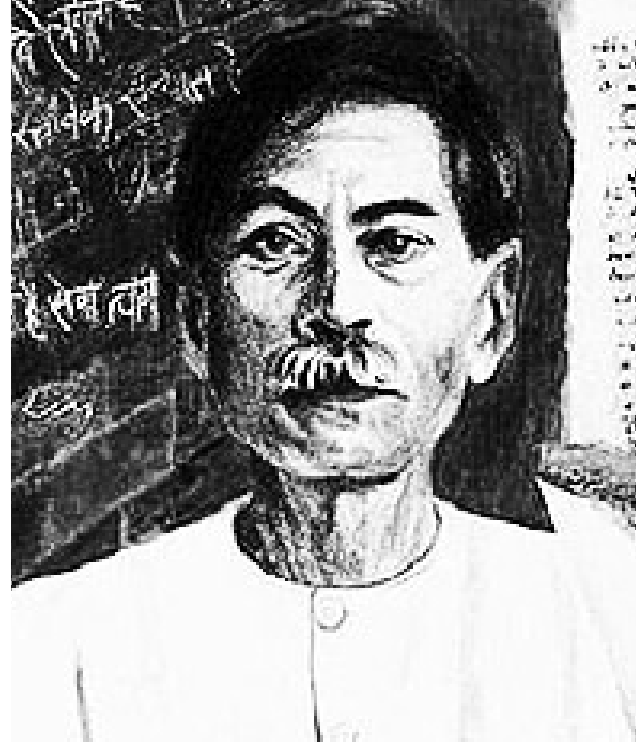
(Premchand)

हिंदी साहित्य में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के संस्थापक प्रेमचंद (1880-1936) प्रेमचंद ने अपनी कहानियों, उपन्यासों और निबंधों के माध्यम से भारतीय स्वाधीनता आंदोलन और तत्कालीन समाज के कई पक्षों का भाष्य किया। उर्दू साहित्य की परम्परा से आ कर हिंदी के सर्वाधिक सफल, लोकप्रिय और चर्चित साहित्यकार बने प्रेमचंद के सृजन-चिंतन के अनेक कोण हैं जिनकी बहुलार्थक व्यंजनाओं को उद्घाटित करने की प्रक्रिया आज तक चल रही है। एक सम्पूर्ण युग की नुमाइंदगी करने वाले प्रेमचंद का छाया-प्रभाव हमें उनके बाद के रचनाकारों में स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों रूपों में देखने को मिलता है। आज के राजनीतिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-नैतिक प्रश्नों में प्रेमचंद की प्रस्तुति मिलने का कारण यह है कि उनके सम्पूर्ण सृजन और चिंतन का केंद्रीय विचार मानव-मुक्ति की तलाश है। भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन देशभक्ति, राजभक्ति, राष्ट्रीयता और अनेक तरह की वैचारिक संरचनाओं और ऊहापोहों गुज़रता हुआ आगे बढ़ा है। संघर्ष के इन ऐतिहासिक क्षणों में प्रेमचंद एक साक्षी बन कर लगातार मौजूद रहे और उनका सर्जक उन क्षणों का

सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास अपनी कृतियों में रचता रहा। प्रेमचंद के सृजन-चिंतन का रूप संघर्ष और क्रांति, बदलाव और विद्रोह से निर्मित हुआ है। यही कारण है कि उनका रचना-संसार साम्राज्यवाद विरोधी, व्यक्तिवाद विरोधी, उपनिवेशवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी और पूँजीवाद विरोधी है।

प्रेमचंद के सृजन और चिंतन (निबंधकार-पत्रकार-अनुवादक) का दौर 1901-36 तक रहा। स्वाधीनता आंदोलन के अंतर्विरोध प्रेमचंद के सृजन में निहित अंतर्विरोधों के पर्याय जैसे हैं। उपन्यास और आंदोलन के बीच एक द्वंद्वत्मक रिश्ता उभरता है। उनके यहाँ जन-समाज का यथार्थ है, लेकिन नग्न यथार्थवाद नहीं है। प्रेमचंद के मानस में दयानंद का आर्यसमाजी आंदोलन, विवेकानंद का हिंदू जागरण का सांस्कृतिक आंदोलन और बालगंगाधर तिलक का राष्ट्रीय-मुक्ति आंदोलन 1918 तक सक्रिय रहता है। फिर वे इन विचारों को पीछे करते हुए रूसी-क्रांति, मार्क्स-लेनिन की ओर घूमते हैं। लेकिन इस काल में भी स्वदेशी के प्रति उनका उत्साह ठंडा नहीं पड़ता। गाँधी के प्रति उनका आकर्षण उन्हें गाँधी-भक्ति की तरफ नहीं ले जाता, बल्कि उनके आखिरी दौर की रचनाएँ महाजनी सभ्यता के यथार्थ से जूझती नजर आती हैं। प्रेमचंद ने अंततः सभी विचारधाराओं के मॉडल नकारते हुए कहा कि जनता को जानना होगा, वरना व्यवस्था उनके जीवन को हड़प जाएगी।

प्रेमचंद की रचनाशीलता संस्कृत साहित्य की समृद्ध कथा-आख्यायिका परम्परा की नहीं थी। वे उर्दू की अफ़साना-निगारी की देन थे। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के संधिकाल पर उर्दू साहित्य में मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' (1860-1926), मिर्ज़ा मौहम्मद हादी 'रूपवा' (1858-1931), रतननाथ सरशार (1847-1902) की धूम थी। सरशार की रचना *फ़सानाए आज़ाद* का नशा सिर चढ़कर बोल रहा था। प्रेमचंद को यह उपन्यास बहुत पसंद था और उन्होंने इसकी हिंदी में प्रस्तुति भी की। पूरे उपन्यास में भारतीय समाज अपनी लोक-संस्कृति और भाषा-अस्मिता के साथ सदाबहार रंगों में उपस्थित है। इसी प्रभाव-प्रेरणा से प्रेमचंद ने भारतीय जनजीवन को चित्रित करने का ज़िम्मा अपने कथा-साहित्य में उठाया। भारतीय सभ्यता-संस्कृति की लय के साथ-साथ ग़रीबी, अपमान, शोषण-दमन और बेरोज़गारी से भरे समाज में सांस्कृतिक विमर्श के लिए प्रेमचंद की निगाह ने गाँवों और शहरों का कोना-कोना टटोला। भारतीय धर्म-दर्शन-अध्यात्म की जटिलताओं के महाकाव्यात्मक-महागाथात्मक इतिहास दृष्टिगत रखते हुए प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकताओं का साक्षात्कार किया।



प्रेमचंद (1880-1936)

बहुधर्मी, बहुभाषी, बहुलतावादी संस्कृति का यथार्थ-बिम्ब कैसे गुँथा कैसा जाए— यह प्रेमचंद के लिए बुनियादी समस्या रही है। तॉल्स्टॉय उन्हें पसंद थे लेकिन उनका जादू प्रेमचंद पर न चल सका। दरअसल, पश्चिम का कोई उपन्यास उनका 'मॉडल' नहीं था। वे तो भारतीय गाँव और शहर को उसकी आंतरिक संस्कृति के साथ समग्रता में अपनी रचनाओं में परोस देना चाहते थे। उन्हें ब्राह्मणवादी-संस्कृति से घृणा थी। उर्दू साहित्यकार के रूप में युवा-मानस के प्रेमचंद ने *असरारे मुआबिद*, *हमखुर्मा व हम सबाब*, *बज़ारे हुस्न*, *जलवाए ईसार*, *नौशाए काफ़ियत* और *चौगाने हस्ती* की रचना की। फिर 1924-36 तक हिंदी-हिंदुस्तानी की गाँधीवादी रंगत में आ गये। उनकी रचनाएँ उत्तरोत्तर एक सांस्कृतिक-राजनीतिक क्रांति के घेरे में भारत की राजनीति को 'अंतर्वस्तु' बना कर जनता की वेदना-यातना का प्रतिनिधित्व करने लगीं। उनके केंद्र में अपढ़-निरीह-असंगठित किसान-मज़दूर और ग़रीबी से सताये हुए स्त्री-पुरुष स्थापित होते चले गये। जिस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा प्रेमचंद करते हैं, उसका पूरा चेहरा पुराने यथार्थवाद या पश्चिमी यथार्थवाद का नहीं है। वे कहते हैं कि 'साहित्यकार का लक्ष्य देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं है, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है'। इस कथन का ध्वन्यार्थ है : छोटे-छोटे दायरे से ऊपर उठकर मानव-मुक्ति की तलाश।

हिंदी में लिखा *कायाकल्प* (1926) प्रेमचंद की मानसिकता और युगभूमि का सांस्कृतिक दस्तावेज है। स्वाधीनता-संग्राम की भाषा थी खड़ी बोली। इस खड़ी बोली के नवजागरण में प्रेमचंद ने बोलचाल की भाषा में सर्जनात्मकता की ताकत भर कर जन-संवाद किया। उनकी रचना *कर्मभूमि* (1932) इसी भाषा का यौवन प्रदीप्त है। *गोदान* (1936) के माध्यम से उन्होंने हिंदी के जातीय उपन्यास का ढाँचा गढ़ा। यह ढाँचा संस्कृत महाकाव्य, दशकुमार चरित्र-संग्रहों, मिट्टी की गाड़ियों, कर्पूरमंजरियों, किशोरीदास गोस्वामी और गोपालदास गहमरी के वृतांतों से अलग तरह का है।

प्रेमचंद जैसा संत-सूफी रचनाकार आज ही हिंदी में कोई दूसरा नहीं है। यही है वह कलेजे वाला संत जो जेल में बंद अज्ञेय की कहानी जैनेंद्र कुमार के कहने पर छापता है। चूँकि रचनाकार वात्स्यायन जेल में बंद अपराधी हैं, उनका नाम दिया नहीं जा सकता। उसे प्रेमचंद 'अज्ञेय' नाम देकर वह कहानी छाप देते हैं। हमें भूलना नहीं चाहिए क्रांतिकारी कवि-कथाकार वात्स्यायन को 'अज्ञेय' नाम प्रेमचंद का दिया हुआ है। संयोग यह है कि दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रों के विद्रोही रचनाकार हैं और दोनों ही साहित्य को नया मोड़ देने में अग्रणी रहते हैं।

प्रेमचंद ने अपनी राजनीतिक समझ *प्रेमाश्रम* की रचना के दौरान पैनी की। उस समय स्वराज, स्वदेश और स्वदेशी के तीन स्वर प्रबल थे। प्रेमचंद ने बहुत बड़े फलक पर *प्रेमाश्रम* रचा। इसमें सामंतवाद-उपनिवेशवाद कई परतों में ढल कर रेखांकित हुआ और नारी-अछूत, शिक्षा-संस्था, परिवार-देश की अनगिनत समस्याएँ 'चिंता का चक्र' बन कर यहाँ सृजन-बिम्ब में रूपायित हुईं। उपनिवेशवाद के आर्थिक-सांस्कृतिक आधारों का मूलगामी और एकाग्र चिंतन एक विराट इतिहास-चक्र की धुरी पर घूमा। कल्पनाओं में बनते हुए भारतीय राष्ट्र की ये बेचैनियाँ भारत के अन्य साहित्यकारों में इस तरह नहीं दिखाई देतीं। इसीलिए प्रेमचंद के उपन्यासों को 'सामाजिक उपन्यास', 'आर्थिक उपन्यास', 'किसान जीवन के उपन्यास', 'राजनीतिक उपन्यास' जैसे विशेषणों में नहीं बाँधा जा सकता। प्रेमचंद ने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र का अच्छा-खासा अध्ययन किया था। इसकी पूरी झलक *प्रेमाश्रम* (1918), *रंगभूमि* (1922-24), *कायाकल्प* (1924-25) और *निर्मला* (1925-27) में मिलती है। उनके उपन्यास *सेवा सदन* के केंद्र में नारी समस्या है।

गाँधी के असहयोग आंदोलन की आवाज़ पर मुक्ति-संघर्ष के संकल्प से भर कर प्रेमचंद ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। गाँधी-विचार से प्रभावित होने पर भी प्रेमचंद ठेठ गाँधी भक्त नहीं कभी नहीं बने। गाँधी से दो क्रमदम आगे बढ़ कर प्रेमचंद ने आर्थिक-सांस्कृतिक शोषण के

समाजशास्त्र की व्याख्या अपनी पत्रकारिता (*हंस* और *जागरण* आदि) के जरिये की। *रंगभूमि* के बाद प्रेमचंद *गबन* तक आते-आते गाँधी-विचार के युटोपिया से दूर हटते जाते हैं। आदर्शवाद से हट कर वे आर्थिक समस्याओं से जूझते हैं। उनकी खोज भारतीय ढंग के समाजवाद की है।

प्रेमचंद की अंतिम पूरी रचना *गोदान* (1932-36) है। *रंगभूमि* का अपराजेय नायक सूरदास इसमें गायब है और केंद्र में है लाचार होरी किसान। इस पूरे उपन्यास में कोई संघर्ष-भरा आंदोलन नहीं है, केवल जन-गाथा की विवशताएँ और पूँजीवादीतंत्र की वेदनाएँ हैं। किसान-मजदूर का कोई संगठन-मोर्चा नहीं है। उन्होंने दिखाया है कि किसानों का जीवन कैसा पशुओं-सा है। महाजन-साहूकार-पुजारी और पुरोहित सभी शोषण कर रहे हैं। पूरा समाज किसान के श्रम को लूट कर आनंद बना रहा है। गाँव-शहर की बेमेल धुरी उभर रही है। नारी-स्वातंत्र्य खतरे में है। उच्चवर्गीय 'संस्कृति' और नैतिकता के सारे प्रश्न मुरझाये हुए हैं। होरी की मृत्यु के बाद होने वाला 'गोदान' एक क्रूर व्यंग्य बनकर पाठक को भीतर तक झकझोरता रहता है। दरअसल, प्रेमचंद की यह रचना भारतीय समाज की चिंताओं-समस्याओं का बहुवचन है। प्रेमचंद का अंतिम अधूरा उपन्यास *मंगलसूत्र* जीवनी-आत्मकथा-कहानी का मिश्र प्रयोग है। हर तरह का शिल्पगत ढाँचा तोड़ कर उन्होंने इस उपन्यास में पूँजीवादी व्यवस्था के अमानवीकरण पर व्यंग्य किया है।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नजरुल इस्लाम, कुमार आशान्, गजनान माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, जय प्रकाश नारायण, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, रुक्मिणी देवी अरंडेल, विनोबा भावे, वल्लतोल नारायण मेनन, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्य भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (1958), प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. कमलकिशोर गोयनका (2013), *प्रेमचंद (भारतीय साहित्य के निर्माता सीरीज)*, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली.
3. नामवर सिंह (2010), *हिंदी का गद्यपर्व*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. मदन गोपाल (1995), *कलम का मजदूर : प्रेमचंद*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. वीरभारत तलवार (1990), *किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद*, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, प्र.स. 1990
6. खगेंद्र ठाकुर (2012), *उपन्यास की महान परम्परा*, स्वराज्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.

प्रेस की स्वतंत्रता

(Freedom of Press)

प्रेस की आजादी का मतलब है सरकार के हस्तक्षेप के बिना सूचनाओं और मतों के प्रकाशन और प्रसारण का व्यक्तिगत और सांगठनिक अधिकार। अर्थात् अपने साधनों का इस्तेमाल करके कोई भी व्यक्ति या संगठन अपने विचारों के प्रकाशन के लिए कोई भी अखबार निकाल सकता है, पत्रिका प्रकाशित कर सकता है या वेब साइट शुरू कर सकता है। ऐतिहासिक रूप से यह आजादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं, लेखकों, पत्रकारों और विचारकों द्वारा कई सदियों तक किये गये संघर्षों का फलितार्थ है। इसे पाने के लिए लोगों को जेलों काटनी पड़ी हैं और अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा है। लोकतांत्रिक देशों का संविधान प्रेस की आजादी की गारंटी देता है, लेकिन सर्वसत्तावादी राज्यों में आज भी इस स्वतंत्रता के लिए संघर्ष जारी है। लोकतांत्रिक विचार के लिए अत्यंत मूल्यवान समझी जाने वाली यह आजादी अपने-आप में परम और असीमित नहीं है। अधिकारों के विशाल दायरे में इसे संतुलित करने वाले अधिकार और क़ानून भी मौजूद हैं। जैसे, मान-हानि के लिए सुरक्षा प्रदान करने का क़ानून या सार्वजनिक शांति और सुरक्षा की गारंटी करने का क़ानून या राष्ट्रीय सुरक्षा को प्राथमिकता देने वाले क़ानून।

प्रेस की आजादी के साथ फ़ोर्थ एस्टेट (लोकतंत्र का चौथा खम्भा) की अवधारणा भी जुड़ी है जिसके जरिये प्रेस और समाज के संबंधों पर रोशनी पड़ती है। उदारतावादी राजनीतिक सिद्धांत प्रेस को जन-हित के रक्षक और सरकार के कामकाज की निगरानी करने वाले पहलू के तौर पर देखता है। लेकिन ध्यान रखने वाली बात यह है कि प्रेस की यह हैसियत संविधान-प्रदत्त न हो कर परम्परा-आधारित है। भारतीय संविधान सभा में भी इस विषय पर बहस के दौरान डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने स्पष्ट कर दिया था कि प्रेस को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो कि एक सामान्य नागरिक के पास होते हैं। आम्बेडकर ने संविधान में प्रेस के लिए अलग से अधिकारों की व्यवस्था करने से इनकार कर दिया था। हालाँकि अमेरिकी संविधान के अनुच्छेद-एक में प्रेस की स्वतंत्रता की अलग से व्यवस्था है और हमारे संविधान निर्माताओं के सामने अमेरिकी मॉडल मौजूद था, लेकिन संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों का मानना था कि संविधान में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बाद प्रेस को व्यवस्था के चौथे अंग के रूप में स्थापित करना उचित नहीं होगा।

पंद्रहवीं सदी तक राजा को दैवी अधिकारों से सम्पन्न माना जाता था। प्रजा का उत्तरदायित्व था राजा के आदेशों का

पालन करना। यूरोप में रोमन चर्च को भी अभूतपूर्व शक्ति हासिल थी। किसी को भी उसके आदेशों का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं था। पश्चिमी दर्शन में प्लेटो से लेकर मैकियावेली तक राज्य के अधिकारों की सर्वोच्चता का अनुमोदन ही मिलता है। प्लेटो ने सर्वाधिकार सम्पन्न राज्य की सत्ता की अवधारणा प्रस्तुत की थी और सुकरात मानते थे कि यदि लोगों को सभी स्वतंत्रताएँ दी गयीं तो राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी। प्लेटो का तो यह तक कहना था कि कवियों को अपनी रचनाएँ पहले मजिस्ट्रेट को सौंपनी चाहिए जो यह तय करेंगे कि वे नागरिकों के आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए अच्छी हैं या नहीं। मैकियावेली का विचार था कि सभी राज्य की सुरक्षा के अधीन हैं। थॉमस हॉब्स तो राज्य को मानवीय जीवन के नियंत्रण के रूप में देखते थे, और हीगेल ने ने सत्रहवीं सदी की सरकारों के तानाशाही रवैये को सही ठहराया था। लेकिन, अठ्ठाहरवीं सदी के अंत तक इस तरह के अधिनायकवादी राज्य का विचार कमजोर पड़ गया। सुधारवादी आंदोलनों ने धर्म और राजनीति के गठजोड़ को चुनौती दी। बौद्धिक क्रांति के चलते धर्मशास्त्र का स्थान विज्ञान ने और मिथकीय अनुभवों का स्थान तर्कशास्त्र ने ले लिया। लॉक, मिल्टन, जैफ़रसन और मिल ने व्यक्ति की गरिमा और क्षमता को राज्य की श्रेष्ठता के सिद्धांत के ऊपर स्थापित किया। लॉक ने जनता की इच्छा को सर्वोपरि तथा सरकार को जनता से कम महत्वपूर्ण माना। जॉन मिल्टन ने कहा कि व्यक्ति के पास इतनी तर्क समानता और बुद्धिमत्ता होती है कि वह अच्छे और बुरे, सही और ग़लत तथा सच और झूठ के बीच भेद कर सकता है। जैफ़रसन ने कहा कि लोगों को शासन की आलोचना करने का अधिकार है तथा जो सरकार आलोचना सहन नहीं कर सकती उसे गिर जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि प्रेस का काम व्यक्ति को सूचनाएँ देने का है ताकि व्यक्ति सरकार के कामकाज पर निगाह रख सकें। जैफ़रसन पहले विचारक थे जिसने अठ्ठाहरवीं सदी में ही सूचना प्रदान करने को जन-संचार का प्राथमिक कार्य घोषित कर दिया था। जॉन स्टुअर्ट मिल समाज के अंतिम व्यक्ति के मत को भी महत्वपूर्ण मानते थे।

अठ्ठाहरवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में दुनिया के विकसित राष्ट्रों में लोकतंत्र का तेज़ी से विकास हुआ, संवैधानिक लोकतंत्र की स्थापना हुई जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए संविधान में नागरिकों को अधिकार दिये गये। इस परिघटना में एक विरोधाभास भी था कि लोकतंत्र अपनाते वाले अनेक राष्ट्र साम्राज्यवादी गतिविधियों में लिप्त थे और एशिया-अफ़्रीका के देशों को उपनिवेश बनाने का काम कर रहे थे। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद चली वि-उपनिवेशीकरण की लहर के तहत से मुक्त होने वाले कई देशों ने भी लोकतंत्र अपनाया तथा संविधान सम्मत

शासन व्यवस्था की आधारशिला रखी।

भारत में प्रेस की आजादी : भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था है। इसके अनुच्छेद 19 में बोलने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लेख है। इसके तहत प्रत्येक नागरिक को किसी भी माध्यम से अपने विचार व्यक्त करने का आधार है। प्रेस की स्वतंत्रता इसी का हिस्सा है। प्रेस की स्वतंत्रता का वास्तविक और व्यावहारिक अर्थ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसलों में अनेक बार दिया है। राकेश थापर बनाम भारत संघ (1950) मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने व्याख्या दी है कि प्रेस की स्वतंत्रता में प्रकाशन की स्वतंत्रता के साथ-साथ वितरण की स्वतंत्रता भी शामिल है। ब्रजभूषण बनाम भारत संघ (1950) मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने व्याख्या दी है कि धारा 19(1) के तहत 'पूर्व सेंसरशिप' की अनुमति नहीं दी जा सकती। *इण्डियन एक्सप्रेस* बनाम भारत संघ (1957) मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि प्रेस की स्वतंत्रता में देश के कानूनों का पालन न करने की छूट शामिल नहीं है। *सकाल* समाचारपत्र बनाम भारत संघ (1960) मामले में समाचारपत्र की पृष्ठसंख्या और मूल्य के बीच संबंध को कानूनी आधार पर तय करने की सरकार की कोशिश को सर्वोच्च न्यायालय ने प्रेस की स्वतंत्रता का उल्लंघन माना है। इन तमाम मुकदमों में समाचारों, तस्वीरों और अन्य सम्पादकीय सामग्री के प्रकाशन, वितरण और बिक्री से जुड़े-मुद्दे शामिल थे। विज्ञापन सामग्री से जुड़े मुद्दे भी सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष आये। हमदर्द दवाखाना बनाम भारत संघ (1955) मामले के तहत जब जादुई असर वाली दवाइयों के विज्ञापन का मुद्दा सामने आया तो सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि धारा (19)(1) में 'वाणिज्यिक अभिव्यक्ति' शामिल नहीं है। लेकिन 1986 में टाटा बनाम भारत संघ मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपना पहले का फैसला उलटते हुए 'वाणिज्यिक अभिव्यक्ति' को प्रेस की स्वतंत्रता का हिस्सा माना।

सिनेमा में प्रेस की स्वतंत्रता का मुद्दा हमेशा से विवाद में रहा है। भारत में सिनेमेटोग्राफ अधिनियम, 1952 के तहत केंद्रीय फ़िल्म प्रमाणन बोर्ड का गठन किया गया है। यह बोर्ड फ़िल्मों का 'प्रीव्यू' कर देखता है कि उन्हें उसके दिशा-निर्देशों का पालन करते हुए बनाया गया है या नहीं। किसी फ़िल्म को पदर्शन के उपयुक्त पाये जाने पर ही बोर्ड उसे प्रमाणपत्र देता है। इस व्यवस्था को 'प्री-सेंसरशिप' मानते हुए ख्वाजा अहमद अब्बास ने 1971 में सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटा कर सेंसरशिप को धारा 19(1) (क) में दी गयी स्वतंत्रता का उल्लंघन माना। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने फ़िल्मों में सेंसरशिप को धारा 19 (2) के तहत उचित ठहराया।

भारतीय संविधान की धारा 19 (2) में सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता, विदेशों से मैत्रीपूर्ण संबंध, न्यायालय की अवमानना, मानहानि, देश की अखण्डता और सम्प्रभुता, देशद्रोह जैसे विषय शामिल हैं। इनमें से अनेक विषय संविधान संशोधन अधिनियमों के माध्यम से धारा 19(2) में जोड़े गये हैं। सरकार ने धारा 19(2) को मजबूत बनाने का काम पहले संविधान संशोधन से ही आरम्भ कर दिया था।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124 (क) में देशद्रोह को अभी तक बनाये रखना तथा विनायक सेन जैसे मामलों में इस धारा का प्रयोग करना यह साबित करता है कि शासन तंत्र वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने से अधिक इस स्वतंत्रता को कानूनी और संवैधानिक रूप से प्रतिबंधित करने के प्रति सजग है। धारा 19(2) में उल्लिखित मानहानि के माध्यम से प्रेस की स्वतंत्रता को किस तरह से सीमित किया जा सकता है, इसका विशेष उदाहरण पी.बी. सावंत बनाम *टाइम्स नाउ* (2011) मामला है। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायधीश और प्रेस परिषद् के पूर्व अध्यक्ष पी.बी. सावंत की तस्वीर *टाइम्स नाउ* चैनल पर उनसे असंबंधित किसी समाचार के साथ चला दी गयी। चैनल का कहना था कि ऐसा गलती से हुआ, क्योंकि उनका नाम संबंधित न्यायाधीश सामंत (जिनका चित्र दिखाया जाना था) से मिलता-जुलता था। चैनल को जैसे ही गलती का पता चला, उसने तस्वीर हटा ली तथा लगातार पाँच दिन तक माफ़ी माँगी। लेकिन न्यायमूर्ति सावंत ने पुणे न्यायालय में मानहानि का मुकदमा दायर कर दिया। न्यायालय ने उनके हक में एक करोड़ की क्षतिपूर्ति का आदेश दे दिया। इस आदेश के विरुद्ध *टाइम्स नाउ* को न तो मुम्बई उच्च न्यायालय से राहत मिली और न ही सर्वोच्च न्यायालय से। मानहानि के एक ऐसे मामले में, जिसमें मानहानि का होना ही संदिग्ध है, सर्वोच्च न्यायालय ने जिस तरह का असंवेदनशील रवैया दिखाया, वह भारत में प्रेस की स्वतंत्रता के लिए खतरे की घंटी है।

सरकारी गोपनीयता अधिनियम (1923) जैसे कानून भी प्रेस की स्वतंत्रता को सीमित करते हैं। इस कानून के तहत यदि कोई व्यक्ति (जिसमें पत्रकार भी शामिल हैं) 'गोपनीय क्रागजात' अपने पास रखता है, उन्हें किसी को देना है या किसी भी तरह से उनका उपयोग करता है तो उसे गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया जा सकता है। इस कानून के तहत किया गया अपराध ग़ैर-जमानती है। 1999 में *कश्मीर टाइम्स* के नयी दिल्ली स्थित ब्यूरो प्रमुख इफ़्तिखार गिलानी को सरकारी गोपनीयता कानून के तहत गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया था। बाद में जाँच एजेंसियाँ सबूतों के अभाव में उनके विरुद्ध अभियोग पत्र नहीं ला सकीं तथा लगभग एक वर्ष तक उन्हें जेल में रखने के बाद रिहा कर दिया गया। वास्तव में सरकार ने इफ़्तिखार गिलानी की गिरफ्तारी इसलिए की थी

ताकि उनके श्वसुर और हुरियत कांफ्रेंस के नेता सैयद अली शाह गिलानी को वार्ता की मेज़ पर लाने के लिए दबाव बनाया जा सके।

दुनिया में अनेक सरकारों प्रेस की स्वतंत्रता (उनके अनुसार दुरुपयोग) व्यवस्था के लिए खतरा हैं। विकीलीक्स का उदाहरण इसका सबूत है। विकीलीक्स के खुलासों ने अमेरिका और उसके मित्र देशों की नींद उड़ा दी और इसके संस्थापक जूलियन असांज के विरुद्ध साज़िश रच कर उन्हें बलात्कार के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया। इसके बाद उनके प्रमोटर्स पर शिकंजा कसा गया। परिणामस्वरूप 2011 में आर्थिक संकट के चलते विकीलीक्स बंद हो गया। भारत में कुछ इसी तरह का बर्ताव तहलका और उसके सम्पादक तरुण तेजपाल के साथ किया गया जब उन्होंने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (ऐनडीए) सरकार के मंत्रियों और नेताओं के भ्रष्टाचार का पर्दाफ़ाश किया।

दिसम्बर, 2011 भारत सरकार ने फ़ेसबुक और ट्विटर पर 'आपत्तिजनक सामग्री' हटाने के लिए जिस तरह का दबाव डाला, वह प्रेस की स्वतंत्रता के प्रति उसकी असंवेदनशीलता को दर्शाता है। चीन की सरकार ने भी प्रेस की स्वतंत्रता को बार-बार नियंत्रित करने की कोशिश की है। गूगल पर प्रतिबंध इस बात का सबसे बड़ा उदाहरण है। वास्तव में, वेब माध्यम पर प्रेस की स्वतंत्रता एक बड़ा मुद्दा है। इस माध्यम पर प्रेस की स्वतंत्रता के दुरुपयोग के खतरे भी अधिक हैं और इस दुरुपयोग को रोकना आसान नहीं है। लेकिन विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा प्रेस की स्वतंत्रता को दुरुपयोग रोकने के नाम पर सीमित करने की कोशिश भी जायज़ नहीं ठहरायी जा सकती।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्केयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. लिओनार्ड डब्ल्यू. लेवी (1985), *इमरजेंस ऑफ़ अ फ्री प्रेस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, 1985
2. अम्बरीश सक्सेना (2004), *राइट टु इनफ़ॉर्मेशन ऐंड फ्रीडम ऑफ़ प्रेस*, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली, 2004
3. के. सेंडर्स (2003), *इथिक्स ऐंड जर्नलिज़्म*, सेज, लंदन, 2003

—अम्बरीष सक्सेना

प्रोपेगंडा

(Propeganda)

प्रोपेगंडा का हिंदी में शाब्दिक अर्थ है प्रचार, अधिप्रचार अथवा मत-प्रचार। प्रोपेगंडा किसी विशेष उद्देश्य से, विशेष तौर से राजनीतिक उद्देश्य के तहत, किसी विचार और नज़रिये को फैलाने के लिए किया जाता है। लेकिन इसकी बुनियाद आम तौर पर सत्य नहीं टिकी होती। प्रोपेगंडा की शुरुआत युद्ध के दौरान दुश्मन की सेना को नैतिक रूप से पराजित करने के लिए एक अफ़वाह के रूप में हुई थी। इसके बाद ज़िक्र मिलता है कि 1622 में पंद्रहवें पोप ग्रेगरी ने वेटिकन में प्रोटेस्टेंट सुधारों के खिलाफ़ प्रोपेगंडा का काम सँभाला था। प्रोपेगंडा की छवि नकारात्मक उस समय बनी जब प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार ने अपने राजनीतिक हितों के पत्र में व्यवस्थित रूप से प्रोपेगंडा किया। कालांतर में इसका उपयोग चुनाव-प्रचार के लिए भी होने लगा। प्रारम्भ में इसे राजनीतिक पार्टियों के चुनाव-प्रचार के दौरान प्रत्याशी के हित में समर्थन खींचने के लिए इस्तेमाल होता था। तत्पश्चात इसकी उपयोगिता समझते हुए इसका विस्तार हुआ और इसे विज्ञापन का भी अंग बना लिया गया। विज्ञापन के साथ जुड़ने पर प्रोपेगंडा में सकारात्मक पक्ष भी आया। वह भावनाओं को स्पर्श करने वाले एक सुखद एहसास के वाहक की भूमिका निभाने लगा, और एक ख़ास संदर्भ में रचनात्मक हो गया।

प्रोपेगंडा द्वारा उपलब्ध करायी गयी सूचना का आधार ऐतिहासिक रूप से सकारात्मक न होकर हमेशा से ही नकारात्मक रहा है। इसके माध्यम से दी जाने वाली जानकारी प्रायः एक तरफ़ा और भ्रामक प्रकृति की होती है। प्रोपेगंडा का उपयोग राजनीतिक कारणों से किसी दृष्टिकोण-विशेष को बढ़ावा देने के लिए शुरू किया गया था। आज प्रोपेगंडा का फलक काफ़ी व्यापक हो गया है और इसका उपयोग जान-बूझ कर किसी व्यक्ति, संस्था, राष्ट्र, उत्पाद अथवा किसी राजनीतिक पार्टी के बारे में नकारात्मक सूचना फैलाने के लिए किया जाने लगा है। प्रोपेगंडा का दूसरा पक्ष यह है कि इसे एक विशेष प्रकार के संदेश के रूप में भी देखा जाता है। एक ऐसे संदेश के रूप में जिसे किसी विशेष संस्कृति, दर्शन, विचार अथवा मत को किसी नारे आदि के माध्यम से बाजार और समाज में प्रचलित करने के लिए किया प्रचारित जाता है।

युद्ध के दौरान झूठ को सच साबित करने के लिए प्रोपेगंडा का उपयोग किया जाता रहा है। अमेरिका इस प्रोपेगंडा का सबसे बड़ा प्रयोक्ता माना जाता है। वह युद्ध के दौरान हमेशा ऐसी ख़बर फैलाता है कि वह मानवता की रक्षा

और आतंकवाद से लड़ने के लिए युद्ध कर रहा है, जबकि उसका मकसद कुछ और होता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण पिछले दो दशकों में हुए इराक और अफ़गानिस्तान के युद्धों में देखने को मिला। अमेरिका हमेशा यह बताता रहा कि आतंकवाद से लड़ने के लिए ऐसा करना ज़रूरी था जबकि सच्चाई यह थी कि वह अपने सैनिकों के साथ-साथ ऐसे पत्रकारों की फ़ौज भी लेकर चल रहा था जो उसके पक्ष के थे या जिन्हें ख़रीद लिया गया था। ये पत्रकार अपनी ख़बरों को लाइव (ऑनलाइन देखा हाल) दिखाने के नाम पर ऐसी जानकारी का प्रसारण करते रहे जो सच नहीं थी। ऐसी पत्रकारिता को ही जड़ित पत्रकारिता या इम्बेडिड जर्नलिज़म कहा जाता है। इस तरह की पत्रकारिता में एक पक्ष की इच्छा के अनुसार रिपोर्टिंग की जाती है और सच को गायब कर दिया जाता है। कई बार इस इस पत्रकारिता का उपयोग राजनीतिक पार्टियों द्वारा अपने पक्ष में जनमत बनाने के लिए भी किया जाता है।

कुछ संचारशास्त्रियों की मान्यता है कि प्रोपेगंडा का उद्भव जन-संचार माध्यमों के विकास के बाद हुआ। वे इसे संचार के हिस्से के रूप में देख कर मानते हैं कि जनमत को अपनी तरफ़ आकर्षित करने के लिए किया जाने वाला संचार प्रोपेगंडा का एक प्रकार है। यहाँ संचार और प्रोपेगंडे के संबंध पर ग़ौर करना ज़रूरी है।

इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भिक दौर में रेडियो के आविष्कार ने प्रोपेगंडा को एक विशेष उछाल दिया। रेडियो के माध्यम से काफ़ी कम समय में एक व्यापक जन-समूह तक अपनी बात को पहुँचाया जा सकता है। रेडियो के विकास ने स्वयं-प्रेरित और प्रायोजित सूचना को फैलाने का ही काम नहीं किया, वरन् इसने उस विज्ञापन का भी सूत्रपात्र किया जिसके विकसित रूप आज विभिन्न रूपों में हमारे सामने हैं। रेडियो के विकास के पहले इतने कम समय में एक व्यापक जन-समूह तक सीधे-तौर पर अपनी बात पहुँचा पाना असम्भव सा था। यह ज़रूर है कि प्रिंट माध्यम द्वारा भी सीधे तौर पर सूचना का सम्प्रेषण किया जा सकता था, लेकिन समाचार पत्रों के पाठक कम ही थे। पाठक बनने के साथ साक्षरता की शर्त भी जुड़ी हुई थी। रेडियो ने विज्ञापन के एक नवीन संसार का अनावरण किया जहाँ पढ़ने की योग्यता होना ज़रूरी नहीं था। इससे विज्ञापन की पहुँच और प्रभाव का दायरा असीमित हो गया। विज्ञापन के साथ-साथ राजनीतिक प्रोपेगंडा का भी विस्तार बहुत तेजी से हुआ।

रेडियो के बाद प्रोपेगंडा को टीवी के आगमन ने एक और नया उछाल दिया। टीवी ने रेडियो को अपदस्थ तो नहीं कर पाया, लेकिन रेडियो के मुकाबले इसकी विश्वसनीयता लोगों को ज़्यादा प्रामाणिक नज़र आयी। बड़ी-बड़ी कम्पनियों ने जब अपने उत्पादों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया

तो लोगों ने उस प्रचार में अपनी छवि देखनी शुरू कर दी। इसीलिए विज्ञापन गुरु अलेक पदमसी ने एक बार कहा था कि भारत के लोग जब किसी वस्तु के ग्राहक बनते हैं तो वह तर्क से कम और भावना से ज़्यादा बनते हैं। उन्होंने लिरिल साबुन के विज्ञापन का उदाहरण देते हुए कहा कि 'आपको क्या लगता है यह जो लड़की बिकनी पहनकर झरने में नहाती है और नींबू की खुशबू के एहसास जैसी तरोताज़ा महसूस करती है, तो वह क्या सचमुच वास्तविक भारत के गाँवों और शहरों में सम्भव है? जहाँ एक बाल्टी पानी ढंग से नहाने के लिए नसीब होता, वहाँ वह नींबू की खुशबू वाले एहसास का अनुभव कैसे हो सकता है?' इसी आधार पर पदमसी कहते हैं कि विज्ञापन प्रोपेगंडा के माध्यम से उपभोक्ता के सामने एक ऐसी छवि निर्मित कर देता है जिसमें उपभोक्ता अपनी छवि देखने लगते हैं।

हाल ही के वर्षों में इंटरनेट और ई-मेल के आविष्कार ने प्रोपेगंडा को वैश्विक विस्तार दिया। मसलन वेब-माध्यमों में वह ताकत है जो स्थानीय मुद्दे को वैश्विक मुद्दा बना सकती है। भौगोलिकता की सारी सीमाओं का वेब-माध्यमों ने उल्लंघन करके सम्पूर्ण दुनिया को एक छोटे से गाँव में तब्दील कर दिया है। क्षण भर में लोकल से ग्लोबल हो जाने के लिए लोगों ने इंटरनेट प्रणाली का जम कर लाभ उठाया है। एक स्थानीय गायक और लोकल संगीत कैसे कुछ समय में ही इंटरनेट के माध्यम से सबसे लोकप्रिय संगीत बन जाता है इसका सबसे सशक्त उदाहरण है कोलाबेरी डी नामक गीत। मार्केटिंग की भाषा में जिसे हम वाइरल मार्केटिंग के नाम से जानते हैं दरअसल वह मीडिया की भाषा में प्रोपेगंडा ही है।

एक तरफ़ तो प्रोपेगंडे को नकारात्मक बात सकारात्मक ढंग से पेश करने वाला माध्यम की तरह देखा जाता है, और दूसरी तरफ़ प्रोपेगंडा प्रचार का एक ऐसा हुनर भी है जिसमें किसी विषय-वस्तु को कुछ इस तरीके से पेश किया जाता है कि उसकी तरफ़ लोग आकर्षित हो जाएँ। संबंधित विषय को एक ऐसी भाषा, लय और संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किया जाए कि आम उपभोक्ता अपनापन महसूस करके उस उत्पाद के साथ जुड़ जाता है। इसके लिए मीडिया के विभिन्न माध्यमों का सहारा लिया जाता है। जैसे : टेलिविज़न, रेडियो, बैनर, इंटरनेट, बिलबोर्ड, लीफ़लेट इत्यादि। भावनाओं को स्पर्श देने की इस भूमिका में नकारात्मक पक्ष सिर्फ़ इतना ही है कि ऐसा प्रोपेगंडा मनुष्य की तार्किकता का संहार करके उसकी जगह पर भावनात्मक पक्ष को ज़्यादा प्रभावी बना देता है।

अमेरिका के एक विज्ञापन-लेखक ट्रीस्ट्रियन टोलिवर ने प्रोपेगंडा के बारे में कहा है : मैं हमेशा अपने बारे में यही सोचता हूँ कि आपको लोग इसलिए नहीं पसंद करते कि

आपने क्या किया और उनके लिए क्या किया। बल्कि आपको हमेशा इसलिए याद किया जाता है कि आपने अपनी बातों के माध्यम से उन्हें क्या महसूस कराया। मसलन प्रोपेगंडा में यह बात बहुत मायने नहीं रखती की किसी बात को आपने कितने अच्छे तरीके से रखा बल्कि सबसे महत्वपूर्ण चीज होती है उससे निकलने वाली वह अनुभूति और प्रेरणा जो लोगों पर अपनी छाप छोड़ जाए। प्रोपेगंडा के सुखद एहसास में लम्बे समय तक याद रखे जाने की क्षमता होती है। इस लिहाज से विज्ञापन में प्रोपेगंडा का इस्तेमाल उसे सिर्फ नकारात्मक न बन कर सकारात्मक रूप भी देने लगा है। इस पहलू के मुताबिक प्रोपेगंडा रचनात्मक प्रकृति की अवधारणा पर आधारित एक सम्पूर्ण प्रक्रिया का नाम है। इसका उपयोग किस प्रकार से किया जाना है— यह पूरी तरह उपभोगकर्ता पर निर्भर करता है।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, बाजार संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्केयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. एल. मिलन और एस. रैम्पटन (2004), 'वार इज सेल', डी. मिलर (सम्पा.) *टेल मी लाइज : प्रोपेगंडा एंड मीडिया डिस्टॉर्शन इन द अटैक ऑन इराक*, प्लूटो प्रेस, लंदन.
2. डी. वेल्श (1993), *द थर्ड राइज : पॉलिटिक्स एंड प्रोपेगंडा*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.

— संजय सिंह बघेल

प्रौद्योगिकी

(Technology)

समाज और संस्कृति में प्रौद्योगिकी और उसके विभिन्न रूपों की भूमिका समाज-विज्ञान के मुख्य सरोकारों में से एक है। अंग्रेजी का शब्द 'टेक्नॉलॉजी' प्राचीन यूनानी शब्द 'टेकने' से बना है जिसका मतलब होता है कला या शिल्प। आधुनिक युग में टेक्नॉलॉजी को तकनीक के उन अर्थों में ग्रहण किया जाता है जिनके जरिये किसी भी कच्चे माल को एक निश्चित डिजाइन और उद्देश्य के तहत कामकाजी और उपयोगी रूप

दिया जा सकता है। इस प्रक्रिया के उपसंहार के रूप में दो चीजें सामने आती हैं : तकनीक का उत्पाद और उसे बनाने वाली प्रक्रिया यानी टेक्नॉलॉजी। प्रौद्योगिकी के जरिये उत्पाद को बहुत बड़े पैमाने पर पैदा करके बाजार में सस्ती दर पर बेचा जा सकता है। उत्पादन की विधियों और उत्पादन संबंधों से जुड़ी इस प्रक्रिया की प्रमुख चालक-शक्ति के रूप में प्रौद्योगिकीय विकास सामाजिक विन्यास और सत्तामूलक संरचनाओं पर गहरा असर डालता है। दरअसल, औद्योगिक और उत्तर-औद्योगिक समाज में अपने कुछ रूपों का अनूठा और व्यापक प्रसार होने के कारण प्रौद्योगिकी ने सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक रूपांतरण की ऐतिहासिक शक्ति का दर्जा प्राप्त कर लिया है। कारखाने और बाजार के दायरे से निकल कर वह रोजाना की जिंदगी पर अपनी निर्णायक छाप छोड़ने लगी है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए दार्शनिक ऊहापोह का निष्कर्ष है कि टेक्नॉलॉजी का सार किसी भी तरह से टेक्नॉलॉजीकल नहीं होता। उत्तर-आधुनिक विचार की मान्यता है कि प्रौद्योगिकी ज्ञान के विभिन्न रूपों को निर्णायक रूप से प्रभावित करती है। अर्थात् हम जिस तरह सोचते और अनुभव को ग्रहण करते हैं, उसे प्रौद्योगिकी अपनी ताकत के दम पर बदल डालती है। प्रौद्योगिकी द्वारा किये जाने वाले मीडिया-निरूपणों ने यथार्थ की मानवीय समझ को काफ़ी-कुछ अपना मोहताज बना लिया है। दूसरी तरफ़ कुछ अध्येताओं ने प्रौद्योगिकी के प्रभाव में होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तनों के बाजाय स्वयं प्रौद्योगिकी को ही संस्कृति के उत्पाद के तौर पर समझने की चेष्टा की है। इस विचार के अनुसार प्रौद्योगिकी की रचना और विकास की प्रक्रिया किसी भी तरह से स्वायत्त न हो कर सामाजिक रूप से संसाधित होती है।

प्रौद्योगिकी से संबंधित समाज-वैज्ञानिक चिंतन के पहले दौर पर काफ़ी हद तक नियतत्ववादी रवैया हावी था। इस सोच के तहत पूर्व-निर्धारित ढंग से माना जाता था कि प्रौद्योगिकी अपने-आप में निष्पक्ष और स्वायत्त है। समाज पर उसके कुछ निश्चित क्रिस्म के असर होने लाजमी हैं। पश्चिमी औद्योगिक समाजों की प्रगति में प्रौद्योगिकी की भूमिका के तर्ज पर फ़ैसला किया जाता था कि कौन सा समाज आगे और किस समाज को अपना प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन त्याग कर आगे बढ़ना है। चिंतन का यह तरीका उन सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को नज़रअंदाज़ करता था जो प्रौद्योगिकियों की रचना और इस्तेमाल पर गहरा असर डालती थीं। इसलिए प्रौद्योगिकी को समाज से बाहर और उससे स्वतंत्र मानने वाला नियतत्ववाद जल्दी ही अपनी साख़ खो बैठा। इस रवैये की आलोचना करने वाले विद्वानों ने अपने विश्लेषण से दिखाया कि सामाजिक प्रभावों से

स्वतंत्र माहौल में तैयार करके प्रौद्योगिकियाँ अपना विकास करने के लिए आतुर समाजों को नहीं थमायी जातीं। असल में विभिन्न समाजों और संस्कृतियों में प्रौद्योगिकी-रचना उनकी अपनी प्राथमिकताओं के मुताबिक होती है।

प्रौद्योगिकी के प्रश्न पर दार्शनिक सोच-विचार की एक समृद्ध परम्परा विकसित हुई है। फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिंतकों ने प्रौद्योगिकी के उदय और आधुनिक बुद्धिवाद के विकास के बीच एक संबंध देखा है। इस चिंतक-मण्डली के प्रमुख सदस्य मैक्स होर्खाइमर द्वारा 'यांत्रिक तर्कपरकता' की अवधारणा पेश की गयी है। दूसरी तरफ अपने निबंध 'दि क्वेश्चन कम्पनिंग टेक्नॉलॉजी' में मार्टिन हाइडेगर ने प्रौद्योगिकी की केवल यांत्रिक नज़रिये के तहत व्याख्या करने से इनकार करते हुए कहा है कि टेक्नॉलॉजी को महज़ एक साधन समझने के बजाय सत्य के अनावरण की एक विधि के तौर पर ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करते ही प्रौद्योगिकी कारखाना आधारित उत्पादन का औज़ार न रह कर प्रकृति पर एक ख़ास तरह का विन्यास आरोपित करने की चुनौती की तरह उभरेगी।

1979 में प्रकाशित अपनी विख्यात रचना *द पोस्टमॉडर्न कण्डीशन* में ल्योतर ने प्रौद्योगिकी के प्रभाव की व्याख्या उसके औद्योगिक रूपों और आर्थिक संबंधों के दायरे के बार जा कर की। ल्योतर का कहना था कि आधुनिक प्रौद्योगिकी ने ज्ञान की प्रकृति को ही पूरी से रूपांतरित कर दिया है। समकालीन संस्कृति के भीतर ज्ञान का मूल्यांकन की प्राथमिक कसौटी प्रौद्योगिकी मुहैया कराती है। यह कहते हुए ल्योतर इस नतीजे पर पहुँचे कि प्रौद्योगिकी के प्रभाव में ज्ञान के सभी रूप कम्प्यूटर की भाषा में अनूदित होते चले जाएँगे और अनूदित होने से इनकार करने वाले रूपों को त्याग दिया जाएगा। ल्योतर के अनुसार उत्तर-आधुनिक स्थिति का मतलब है कम्प्यूटरों का वर्चस्व और यथार्थ का कम्प्यूटरीय अर्थ-ग्रहण। इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि मानवीय आत्मपरकता आधुनिक प्रौद्योगिकी में निहित यांत्रिक प्रवृत्तियों के प्रभाव में विस्थापित भी हो सकती है। अगर ऐसा हुआ तो ज्ञान के संदर्भ में सोचने वाले कर्ता की प्राथमिकता दायम दर्जे की हो जाएगी। अर्थात् देकार्तवादी चिंतन ने जिस इयत्ता को मनुष्य के आभ्यंतर में स्थित माना था, वह प्रौद्योगिकीय प्रभाव के कारण बाह्यांतर में चली जाएगी। इसके व्यावहारिक प्रभाव के तहत ज्ञान बाज़ार आधारित विनिमय-मूल्य से जुड़ जाएगा और बाह्य शक्तियाँ उसे अपने खेल का हिस्सा बना लेंगी।

ल्योतर के विमर्श में एक बहसतलब दावा निहित था कि प्रौद्योगिकी के रूप में भौतिक शक्तियाँ ने केवल

सामाजिक मानकों और संबंधों को बदलेंगी, बल्कि मनुष्य द्वारा अपने और अपनी क्षमताओं के बारे में सोचने के तौर-तरीकों में भी रैडिकल परिवर्तन कर देंगी। प्रौद्योगिकी की शक्ति पर ज्यों बौद्रिया के विचार ने भी कमोबेश ल्योतर के निष्कर्षों को पुष्ट किया है। उन्होंने सीएनएन चैनल द्वारा खाड़ी युद्ध के दर्शनीय प्रसारण का हवाला देते हुए कहा कि प्रौद्योगिकी मीडिया-निरूपण की प्रक्रिया का सहारा लेकर हमारे सामने एक ऐसा यथार्थ परोसती है जो वास्तव में उस तरह से घटित नहीं हुआ होता है।

मार्शल मैकलुहन ने 1964 में दावा किया था कि प्रौद्योगिकी को (खासकर प्रिंटिंग प्रौद्योगिकी को) आधुनिकता के एक कारण के रूप में देखा जा सकता है। मैकलुहन ने यह 'मीडियम ही मैसेज है' जैसा मशहूर फिकरा गढ़ कर यह दिखाने की कोशिश की थी कि माध्यम की प्रकृति उसके द्वारा सम्प्रेषित की जा रही सूचना के सार को गहरायी से प्रभावित करती है। लेकिन अस्सी के दशक में अध्येताओं ने टेलिविज़न को लोगों के घरों और रोज़ाना की जिंदगी में मौजूद प्रौद्योगिकीय उपस्थिति के तौर पर जाँचना शुरू किया। टीवी दर्शकों द्वारा संदेश-ग्रहण करने की प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया। यह सिलसिला टीवी, वीडियो, सैटेलाइट, कैबिल, डिजिटल, सीडी सिस्टम, रिमोट कंट्रोल, कम्प्यूटर और इंटरनेट जैसी मीडिया प्रौद्योगिकियों द्वारा निजी संबंधों और घरों के भीतर हावी सत्ता-संबंधों में हस्तक्षेप की गहरी पड़ताल में विकसित होता चला गया।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र- 1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. ज्यों-फ्रांस्वा ल्योतर (1979), *द पोस्टमॉडर्न कण्डीशन* : रिपोर्ट ऑन नॉलेज, अनु. जियाँफ बेनिंगटन, मैचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनेचेस्टर.
2. मार्टिन हाइडेगर (1996), *बेसिक राइटिंग* : मार्टिन हाइडेगर, सम्पा. डेविड फ़ैरेल क्रेल, रॉटलेज, लंदन.
3. मैक्स होर्खाइमर (1992), *इक्लिप्स ऑफ़ रीजन*, कंटीनुम, न्यूयॉर्क.
4. आर. सिल्वरस्टोन और ई. हर्श (सम्पा.) (1994), *कंज्यूमिंग टेक्नॉलॉजीज़* : मीडिया ऐंड इनफ़ॉर्मेशन इन डोमेस्टिक स्पेस, रॉटलेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे